उत्तर भारतीय राजाओं की धार्मिक नीति

उत्तर भारतीय राजाओं की धार्मिक नीति

लेखक
हीरालाल पाण्डेय

जानकी प्रकाशन
पटना-8

प्रथम संस्करण 19[illegible]8

प्रकाशन :
नन्द किशोर सिंह
जानकी प्रकाशन
अशोक राजपथ, चौहट्टा
पटना—800004

मुद्रक :
जे०एस० प्रिंटर्स
चौ० ब्रह्मसिंह मार्ग, मौजपुर
दिल्ली-110053

भूमिका

डा० हीरालाल पाण्डेय की प्रस्तुत कृति **उत्तर-भारतीय राजाओं की धार्मिक नीति** (600-1200) की भूमिका में कुछ शब्द लिखते हुए मुझे आह्लाद का अनुभव हो रहा है। इस ग्रन्थ का विवेच्य युग भारतीय इतिहास का पूर्व मध्यकाल है। इस युग की कुछ विशेषताएं थीं। हिन्दू और मुसलमान संस्कृतियों की पारस्परिक संघर्षशीलता, संघर्ष के उपरान्त समन्वय और सम्मिलन, अपनी-अपनी रक्षा का प्रयत्न और इन स्थितियों के बीच भारतीय व्यक्तित्व की एक नयी पहचान। प्रायः ऐसा कहा जाता है कि यह युग हिन्दू संस्कृति, हिन्दू समाज और हिन्दू धर्म की अवनति का युग था। राजनीतिक दृष्टि से भी तुर्क आक्रमणों के झंझावात सारे भारतीय राज शरीर को बुरी तरह झकझोर रहे थे। और उस आंधी में शायद ही कोई हिन्दू राजवंश बचा जो स्तम्भ की तरह खड़ा रह सके किन्तु दूसरी ओर यह भी दिखायी देता है कि इसी युग में खुजराहो के भव्य-मंदिरों, उड़ीसा और भुवनेश्वर की महान कलाकृतियों, दक्षिण भारतवर्ष के अद्भुत देव मंदिरों तथा राजपूताना और गुजरात के हिन्दू और जैन देवालयों का भी निर्माण हुआ। कला के क्षेत्र में इस प्रकार जो भी उदाहरण शेष है और जितना भी तुर्क आक्रान्ताओं की तलवारों के प्रहार से बच गया है वह इतना अधिक है, इतना विशाल है और इतना बढ़िया है कि उसकी प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जा सकता। निश्चय ही इस युग की सर्जनात्मक विशेषताओं के ये प्रमाण हैं और यह कहा जा सकता है कि एक प्रकार के राजनीतिक संघर्ष और गतिरोध के बावजूद क्रियात्मकता के क्षेत्र में यह युग अन्य युगों से पीछे नहीं था।

डा० पाण्डेय ने इन उपलब्धियों के धार्मिक पक्ष को अपनी कृति का विषय बनाया है और इसके महत्व को तुलनात्मक दृष्टि से आंका है।

उन्होंने विवेचन की ऊँचाइयों को छूते हुए इस बात को भलीभांति दर्शाने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार एक ओर तो एक ऐसी संस्कृति का आवेग उत्पन्न हो चुका था जिसे अपने से अतिरिक्त किसी भी अन्य विश्वास में न तो कोई सच्चाई दिखाई देती थी और न उसमें किसी प्रकार का महत्व उसे प्रतीत होता था, फलतः उस पक्ष की तलवार ने बड़ा ही विध्वंशकारी रूप अपनाया किन्तु दूसरी ओर एक ऐसी भी दृष्टि थी जो धर्म के नाम पर किसी प्रकार का हस्तक्षेप करना अनुचित मानती थी जो विभिन्न धर्मावलम्बियों के पारस्परिक समभाव को बढ़ावा देती थी तथा विभिन्न सैद्धान्तिक विश्वासों को अपने-अपने स्थानों पर महत्व देती थी। इस द्वितीय पक्ष को यहां बहुत ही विद्वत्तापूर्वक प्रस्तुत किया गया है।

आजकल विश्व के अनेक देशों में धार्मिक दृष्टि से आदि सिद्धान्तवाद अथवा रूढ़िवाद का बड़ा जोर दिखाई देता है जो कहीं-कहीं तो इस सीमा तक पहुंच चुका है कि वह अनेक राजनीतिक इकाइयों की राजनीतिक और भौगोलिक एकता को ही चुनौती देने लगा है। इसके पीछे धार्मिक असहिष्णुता ही मुख्य कारण हैं। इस सम्बन्ध में राज्यों, शासकों, राजनीतिक इकाइयों के वे सिद्धान्त क्या हो सकते हैं जिनसे एकताएं नष्ट न हो इनका उदाहरण इस ग्रन्थ के अध्ययन से भली-भांति उपस्थित होगा। प्रायः इतिहास के विद्वान यह कहा करते हैं कि ह्वान्-स्वांग के प्रभाव में हर्षवर्धन बौद्ध हो गया था अथवा आचार्य हेमचन्द के प्रभाव में चालुक्य कुमारपाल जैन हो गया था किन्तु डा० पाण्डेय ने अपने प्रबल तर्कों और मूल प्रमाणों के आधार पर यह दर्शाने में सफलता पायी है कि उन्होंने इन महान धर्म गुरुओं का भरपूर आदर, सत्कार, सम्मान करते हुए तथा उन्हें अनेक प्रकार का समर्थन देते हुए भी अपने पैतृक और पारिवारिक धर्मों, विश्वासों और सम्प्रदायों का कभी त्याग नहीं किया था और वे जीवन में पर्यन्त हिन्दू बने रहे। जयसिंह सिद्धराज ने कुछ विध्वंसकारी हिन्दुओं द्वारा तोड़ दी गई एक मुसलमानी मस्जिद का स्वयं अपने पास से धन देकर पुनः निर्माण कराया और विध्वंशकारी आततायियों को दण्डित किया। यह मुसलमानी धार्मिक असहिष्णुता के सम्मुख धार्मिक सहिष्णुता का एक ऐसा उदाहरण है जो इस युग के उत्तर भारतीय राजाओं की धार्मिक नीति को एक प्रबल व्यक्तित्व प्रदान करता है।

गुजरात के चालुक्य दरबार में हिन्दू और जैन विद्वानों का समान रूप से प्रवेश उनके धर्म गुरुओं की आपसी सम्प्रदायिक नोक-झोक में शासकों का तटस्थ भाव हिन्दू चाहवान शासकों द्वारा अनेकानेक जैन मन्दिरों के स्वर्ण शिखरों का निर्माण बौद्ध धर्मावलम्बी पाल शासकों द्वारा पैतृक परम्परा से चले आ रहे

हिन्दू ब्राह्मण मंत्रियों की अनवरत नियुक्ति और उन्हीं के परामर्श से अपने सैनिक व प्रशासनिक कार्यों का सम्पादन तथा इसी प्रकार प्रायः सभी हिन्दू राजाओं द्वारा सभी धर्मावलम्बियों को समान रूप से दान, उनका संरक्षण जैसी प्रवृत्तियां इस युग की विशेषताओं के रूप में हमारे सामने उपस्थित की गयी हैं इसका उदाहरण पूर्व मध्ययुगीन इन हिन्दू राजाओं की धार्मिक नीति में बड़े स्पष्ट रूप में उपस्थित होता है।

डा० पाण्डेय ने इस विषय को बड़े ही विद्वतापूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है और इस पुस्तक को पाठकों को संस्तुत करते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता है। वे बधायी के पात्र हैं।

—विशुद्धानन्द पाठक

दो शब्द

पूर्व मध्ययुगीन भारतीय इतिहास के सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में उत्तर भारतीय राजाओं की धार्मिक नीति (600-1200 ई०) का विषय अध्ययन की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है कारण, इस काल का भारतीय इतिहास सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से अत्यन्त भ्रामक रूप में देखा जाता रहा है। किंतु, उत्तर भारतीय राजाओं ने राजनीतिक विश्रृंखलन के इस काल में भी धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। एक समय जब कन्नौज सभ्यता एवं संस्कृति की दृष्टि से अपने चरमोत्कर्ष पर था कि अचानक तुर्क आक्रमण की विकराल आंधी का सामना भारतीय राजाओं को करना पड़ा। राजनीतिक दृष्टि से उत्तर भारतीय राजाओं में परस्पर द्वेष, एक-दूसरे को नीचा दिखाने की हीन भावना की प्रधानता थी तो दूसरी ओर वे तुर्क आक्रमणों का भी साहसपूर्वक सामना कर रहे थे। भारतवर्ष में तुर्कों को स्थायी रूप से जमने में लगभग 350 वर्षों का समय इस बात का प्रमाण है कि तुर्क आसानी से भारत को आक्रान्त नहीं कर सके। तुर्कों के साथ संघर्ष में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जहां इस्लाम के अनुयायी को धार्मिक दृष्टि से सताया गया हो या उसकी धार्मिक भावना को ठेस पहुंचायी गयी हो अपितु हिन्दू राजाओं ने उदारता एवं सहिष्णुता की नीति अपनायी।

प्रस्तुत ग्रन्थ में तत्कालीन विभिन्न धर्मों की स्थिति, राजाओं का व्यक्तिगत धर्म, विभिन्न धर्मों के प्रति राजाओं का व्यवहार ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर वर्णित है और उपर्युक्त विन्दुओं को ध्यान में रखकर राजाओं की धार्मिक नीति का निर्धारण किया गया है। विष्या प्रतिपादित करते समय प्रथम अध्याय में पूर्व मध्ययुगीन धार्मिक दृष्टिकोणों का आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत करते हुए उत्तर भारतीय राजवंशों के धार्मिक आचरण में सन्निहित व्यापकता, ग्रहण-शीलता का उल्लेख किया गया है।

द्वितीय अध्याय में पौष्यभूतियों और उसके समकालीन राजाओं की धार्मिक नीति का वर्णन है। विशेषकर हर्षवर्धन और शशांक की नीति के संदर्भ में। उपर्युक्त दोनों राजाओं के सम्वन्ध में ह्वेनसांग के साक्ष्यों का अत्यन्त सावधानीपूर्वक भारतीय प्रमाणों को दृष्टि में रखते हुए आलोचनात्मक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। तीसरे अध्याय में प्रतीहार और गाहडवाल राजाओं की धार्मिक नीति का वर्णन करते हुए मुसलमानों के प्रति उनकी नीति का विशेष रूप में उल्लेख है। चौथे अध्याय में कलचुरियों और चन्देलों की उदार धार्मिक नीति का विवरण है जिन्होंने भारतीय इतिहास के संक्रमण काल में हिन्दू संस्कृति को आपसी कलह से ही नहीं उवारा अपितु विदेशियों के प्रभाव से मुक्त रखने का पूरा-पूरा प्रयास किया। पांचवें अध्याय से लेकर आठवें अध्याय में परमार, पाल, सेन, चालुक्य और चौहान राजवंशों की धार्मिक नीति का विवरण देते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि किस तरह से हिन्दू राजाओं ने हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के प्रति उदार एवं सहिष्णुतापूर्ण नीति का अनुसरण किया, इतना ही नहीं इस्लाम धर्म के अनुयायियों के प्रति भी उदारनीति अपनायी।

अंतिम अध्याय में सम्पूर्ण कृति का निष्कर्ष है। प्रस्तुत कृति में सावधानीपूर्वक साक्ष्यों को परीक्षण के तौर पर प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। अभिलेखीय एवं मुद्रासाक्ष्यों के साथ-साथ विदेशी साक्ष्यों के प्रयोग में भी सावधानी वरती गयी है। कृति को पाठकों को सुरुचिपूर्ण वनाने के लिए सरल एवं वोधगम्य वनाने का प्रयास किया गया है। फिर भी त्रुटि संभव है। सुझाव सादर आमंत्रित हैं।

अन्त में प्रस्तुत कृति के पूर्ण होने में सहयोगीजनों में सर्व प्रथम मैं अपने परमपूज्य गुरुवर डा० वि० पाठक का हृदय से आभारी हूं। इसे पूर्ण कराने में डा० पाठक ने निर्देशन के गुरुतर दायित्व का निर्वाह किया है। मैं अपने अग्रज भ्राताओं श्री ओमकार नाथ पाण्डेय एवं श्री नन्दलाल पाण्डेय के प्रति भी आभारी हूं जिन्होंने मुझे इसकी प्रेरणा दी। ग्रंथ के लेखक में मुझे अपनी पत्नी श्रीमती सीता पाण्डेय एम०ए० (इतिहास) का समर्पित सहयोग प्राप्त हुआ है, जो मेरे सारे प्रयास का एक अभिन्न अंग है। मैं अपने श्रद्रेय चाचा श्री उमा नाथ पाण्डेय जी का सदा आभारी रहूंगा जिनके एकल प्रयास से ही इस कृति का प्रकाशन संभव हो सका है। जानकी प्रकाशन, पटना ने इसका प्रकाशन करके मुझे अनुग्रहीत किया है, फलतः प्रकाशक वन्धुओं का आभारी हूं।

चैत्र नवरात्रि
इतिहास विभाग
दयानन्द महाविद्यालय

—लेखक

आमुख

उत्तर भारतीय इतिहास के 600 ई० से 1200 ई० तक का युग प्राचीन भारतीय इतिहास के विश्रृंखलन का काल था। तथापि इस युग में हर्षवर्धन तथा प्रतीहारों का साम्राज्यवाद राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक दृष्टि से भी विशेष फलदायी सिद्ध हुआ। इस अवधि में कन्नौज सभ्यता एवं संस्कृति की चरम-स्थिति को प्राप्त करने के लिए निश्चित रूप से आतुर दिखाई देता है। परन्तु अपनी सारी उन्नतियों के बावजूद भी ये साम्राज्य मौर्य और गुप्त साम्राज्यों की बराबरी नहीं कर सके।

किन्तु, विवेच्य युग के राजनीतिक विश्रृंखलन के होते हुए भी यह युग सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक दृष्टि से खोखला नहीं था। किन्तु इस पक्ष पर अभी तक केन्द्रीभूत दृष्टियों से पर्याप्त प्रकाश नहीं डाला गया है। अब तक जिन विद्वानों ने इस सम्बन्ध में लेखनी उठाई है उनकी दृष्टि धार्मिक अथवा सामाजिक स्थितियों के विवेचन मात्र तक सीमित रही है। कहीं-कहीं विवेचन में केवल धार्मिक अवस्था और शासकों के व्यक्तिगत धर्मों पर भी प्रकाश डाला गया है। इस काल पर सम्पूर्ण रूप में केवल दो ही पुस्तकें महत्त्वपूर्ण हैं—अंग्रेजी में डा० हेमचन्द्र राय की (डाइनेस्टिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इंडिया) और हिन्दी में डाक्टर विशुद्धानन्द पाठक की (उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास (600-1200 ई०)। प्रथमतः तो विवेच्यकाल की अत्यधिक दीर्घता के कारण और दूसरे इन दोनों ही पुस्तकों का मुख्य वर्ण्य राजनीतिक होने के कारण उनमें सामाजिक और धार्मिक विषयों का विवेचन बहुत अधिक नहीं है। किन्तु इस युग के प्रायः सभी राजवंशों पर स्वतन्त्र पुस्तकें—कभी-कभी तो एक ही राजवंश पर तीन या चार भी आ चुकी हैं। तथापि सामाजिक अथवा धार्मिक अवस्थाओं पर उनमें भी प्रायः सर्वत्र एक या दो अध्यायों में सारी बातें लपेट ली गई हैं। विभिन्न राजवंशों की

धार्मिक नीति की तो कभी किसी में चर्चा है ही नहीं। समाज और धर्म पर प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा की पुस्तक (मध्यकालीन भारतीय संस्कृति) भी अब पुरानी हो चली है। डा० वासुदेव उपाध्याय भी अपनी हाल की पुस्तक (दि सोशियो रिलिजियस कण्डीशन आफ नार्थ इण्डिया) में अपने को मुख्य रूप से समाज और धर्म की स्थिति के विवरण तक ही सीमित रखते हैं। अतः इस बात की बड़ी आवश्यकता थी कि इस युग के राजाओं की धार्मिक नीति का एक स्वतन्त्र विवेचन उपस्थित किया जाय। इस विषय का विवेचन इस दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है कि धार्मिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों ने राजनीतिक पृष्ठभूमि के निर्माण में किस तरह योगदान दिया, अथवा राष्ट्रीय एकता को खंडित करने वाली चुनौतियों का सामना करने हेतु भारतीय नरेशों का किस प्रकार उत्साहवर्द्धन किया। अतः यह अध्ययन स्वयं में महत्वपूर्ण है। प्रस्तुत विषय अर्थात् उत्तर भारतीय राजाओं की धार्मिक नीति का निर्धारण और उसका विवेचन उपर्युक्त दिशा में प्रेरित एक आशान्वित प्रयास है।

प्रस्तुत प्रयत्न में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि विवेच्य युग (600-1200 ई०) के भारतीय राजाओं ने राजनीतिक संक्रमण के इस युग में प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रों द्वारा स्वीकृत धार्मिक सिद्धान्तों को अपनाये रखने में कहां तक सफलता प्राप्त की। हिन्दू धर्म अपनी व्यापकता, ग्रहणशीलता और सामंजस्य के लिए प्रसिद्ध था। देखना यह है कि इस युग के शासक उन सिद्धान्तों से किस हद तक प्रभावित थे। हम देखते हैं कि उत्तर भारतीय समाज उस समय अनेक धर्मो और उनके विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त था। इतना ही नहीं, इस युग में (600-1200 ई०) भारतीय राजाओं को एक विदेशी धर्म इस्लाम का भी एक नयी समस्या के रूप में सामना करना पड़ा। विवेच्य युग की इस धार्मिक विविधता की पृष्ठभूमि में धार्मिक एकता एवं सामंजस्य बनाये रखने का सारा दायित्व भारतीय नरेशों के कन्धों पर ही था। अपने इस दायित्व के निर्वाह में वे कहां तक सफल रहे, इसी बात का विवेचन इस शोध-प्रबन्ध में अभीष्ट है।

विवेच्य युग के राजाओं की धार्मिक नीति स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक समझा गया है कि अभिलेखों और विदेशी यात्रियों के यात्रा-वृत्तों के साक्ष्यों का उपयोग करते हुए धार्मिक ग्रंथों में वर्णित तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक दशाओं की पृष्ठभूमि में राजाओं के व्यक्तिगत धर्मो एवं विश्वासों तथा विभिन्न धर्मो एवं सम्प्रदायों के प्रति उनके दृष्टिकोण तथा उनके धार्मिक क्रिया-कलापों का भी आवश्यकतानुसार विवरण दिया जाए। बिना इनका सहारा लिए उनकी धार्मिक नीति का विवेचन असम्भव समझा गया है।

सुविधा की दृष्टि से अलग-अलग तथा मुख्य-मुख्य राजवंशों को इकाई मानकर ही धार्मिक नीति को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। सुविधा की दृष्टि से ही प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध 9 अध्यायों में विभक्त है।

प्रथम अध्याय विवेच्य युग की पृष्ठभूमि उपस्थित करता है, जिसमें विषय से सम्बद्ध राजनीतिक और धार्मिक पृष्ठभूमि, राजधर्म और भारतीय राजाओं के लिए वैध शासन दृष्टि आदि का एक आलोचनात्मक विवरण उपस्थित किया गया है। दूसरे अध्याय में पुष्यभूति वंश के प्रारम्भिक इतिहास की झांकी प्रस्तुत करते हुए वंश के महान् राजा हर्षवर्धन के व्यक्तिगत धर्म, बौद्ध-धर्म के प्रति उसकी रुझान तथा ह्वेनसांग के प्रति उसकी अटूट श्रद्धा आदि विषयों से सम्बद्ध वर्णनों के आधार पर हर्ष की धार्मिक नीति पर बिल्कुल स्वतंत्र विचार प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही हर्ष के समसामयिक राजाओं की धार्मिक नीतियां भी स्पष्ट की गयी हैं। तीसरे अध्याय में प्रतीहार एवं गाहडवाल राजाओं की अपनी प्रजा के प्रति धार्मिक नीति तथा मुसलमानों के प्रति उनके व्यवहार एवं उनके प्रति उनकी धार्मिक नीति का राजनीतिक आधार उपस्थित किया गया है। चौथे अध्याय में कलचुरि एवं चन्देल राजाओं की धार्मिक नीति की चर्चा है। पांचवें अध्याय में परमार राजाओं की धार्मिक नीति की चर्चा करते समय उनके संस्कृति साहित्य तथा विद्या के प्रति सम्मान और दानशीलता का विशेष उल्लेख किया गया है। छठें अध्याय में पाल तथा सेन राजाओं की धार्मिक नीति का वर्णन है। सातवें अध्याय में चालुक्य तथा चाहमान राजाओं की अपनी प्रजा के प्रति धार्मिक नीति के साथ ही इन दोनों राजवंशों के इस्लाम धर्म अथवा मुसलमानों के प्रति दृष्टिकोण की स्पष्ट चर्चा है। आठवें अध्याय में कश्मीर के राजाओं की धार्मिक नीति का विवेचन है। नवें अध्याय में सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध का निष्कर्ष प्रस्तुत है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के पूर्ण होने में जिन महानुभावों एवं विद्वानों ने मुझे अपना अमूल्य समय तथा विचार देकर कृतकृत्य किया है उनके प्रति मैं हृदय से कृतज्ञता प्रकट करना अपना पुनीत कर्त्तव्य मानता हूं। इन विद्वानों एवं गुरु श्रेष्ठों को अपनी कृतज्ञता ज्ञापन के अतिरिक्त मेरे पास है ही क्या ?

सर्वप्रथम मैं हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति पद्मविभूषण डा० कालूलाल श्रीमाली के प्रति आभार प्रकट करता हूं जिन्होंने मुझे व्यक्तिगत रूप से हर सम्भव सहायता देकर मेरा उत्साहवर्द्धन किया। मैं अपने परमपूज्य गुरुवर डा० विशुद्धानन्द पाठक जी का हृदय से ऋणी हूं और रहूंगा जिनकी प्रेरणा, सहयोग तथा शिष्यवत्सलता एवं सफल निर्देशन के कारण ही यह कार्य पूरा हो पाया। मैं डा० दीनबन्धु पाण्डेय, प्रवक्ता, कला-इतिहास विभाग का भी आभारी हूं जिन्होंने बीच-बीच में मेरे हतोत्साहित विचारों को अपने तर्कों से समाप्त करके मेरे हृदय

में आशाओं का संचार किया। मैं श्री रामअभिलाष द्विवेदी, प्राचार्य, दयानन्द महाविद्यालय, वारणसी का भी आभारी हूं जिन्होंने अपने महाविद्यालय में अस्थायी प्रवक्ता के रूप में मुझे स्थान देकर मेरी आर्थिक मदद की, जिसके अभाव में मैं निश्चित रूप से अपने मार्ग से विचलित हो जाता। मैं डा० शितिकण्ठ मिश्र, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, दयानन्द महाविद्यालय, वाराणसी को भी धन्यवाद देता हूं जिन्होंने मुझे अपना कार्य अतिशीघ्र समाप्त करने के लिए कठोर शब्दों का प्रयोग किया, जिनसे मुझे शिक्षा मिली। मैं श्री सुरेशचन्द्र घिल्डियाल, लाइब्रेरियन प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग को धन्यवाद देता हूं जिन्होंने अथक परिश्रम करके मुझे अध्ययन हेतु पुस्तकों को ढूंढ़-ढूंढ़ कर दिया।

—हीरालाल पाण्डेय

संकेत सारणी

आ०स०इ०ऐनु०रि०

आर्केलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, ऐनुवल रिपोर्ट।

इ०ए० : इण्डियन ऐण्टीक्वेरी।

इहिक्वा : इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली।

इलियट एण्ड डाउसन
अथवा
इलियट और डाउसन
अथवा
इलियट डाउसन : हिस्ट्री आफ इण्डिया एज टोल्ड बाई इट्स आन हिस्टारियन्स।

उ० भा० रा० इति० : उत्तर-भारत का राजनीतिक इतिहास (600-1200 ई०) (विशुद्धानन्द पाठक)।

ए० इ० : एपिग्राफिया इंडिका।

कावेल एण्ड टॉमस अथवा
कावेल टॉमस : हर्षचरित, अंग्रेजी अनुवाद।

गु० सा० इति० : गुप्त साम्राज्य का इतिहास। (वासुदेव उपाध्याय)

ज०ए०सो० बंगाल अथवा
जे०ए०एस०बी० : जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल।

ज०रा०ए०सो० : जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ ग्रेट ब्रिटेन, लन्दन।

जo राo एo सोo, वम्वई शाखा
अथवा जo वाo व्राo राo
एo ओo : जर्नल आफ द वाम्बे ब्रान्च आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी; वम्बई।

जo प्रोo एo सोo वंo : जर्नल एण्ड प्रोसीडिंग्स आफ एशियाटिक सोसाइटी आफ वंगाल।

जo न्यूo सोo इo : जर्नल आफ न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी आफ इण्डिया।

जीवनी : लाइफ आफ श्वान्-च्वांग-हुइली, सैम्युल वील का अंग्रेजी अनुवाद।

डाo हिo नाo इo अथवा
डाo हिo नाo इण्डिया : डाइनेस्टिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्डिया, हेमचन्द्र रे।

नाo प्रo पo अथवा
नाo प्रo पत्रिका : नागरीप्रचारिणी पत्रिका।

प्रo चि : प्रवन्धचिन्तामणि।

प्रo कोष : प्रवन्ध कोष।

पृo विo : पृथ्वीराज विजय।

प्रोo राo एo सोo : प्रोसीडिंग्स आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी।

वील : वुद्धिस्ट रेकार्ड्स आफ द वेस्टर्न वर्ल्ड—सैम्युल वील।

वॉटर्स : य्वान्-च्वांग्स ट्रैवेल्स इन इण्डिया, टॉमस वाटर्स।

हर्ष चo अथवा हo चo : हर्षचरित।

हo त्रिo माo : हैहयाव आफ त्रिपुरी एण्ड देयर मानूमेण्ट्स।

विषय-सूची

अध्याय —1

पृष्ठभूमि

जैसा कि पीछे आमुख में कहा जा चुका है, प्राचीन भारतीय शासकों की धार्मिक नीति के विवेचन से सम्बद्ध अभी तक कोई पुस्तक प्राप्त नहीं है। सच तो यह है कि उनकी धार्मिक नीति की जानकारी के बारे में कोई निश्चित और व्यवस्थित तथा क्रमिक जानकारी के साधन भी बहुत कम हैं। जो भी ज्ञानस्रोत उपलब्ध हैं वे इधर-उधर बिखरे हुए फुटकल एवं अव्यवस्थित हैं तथापि उन्हीं के आधार पर कोई न कोई चित्र खींचना होगा।

सामग्री का संकलन साहित्यिक साक्ष्यों, अभिलेखीय और मुद्रासाक्षीय प्रणाणों एवं विदेशी यात्रियों के विवरणों से ही किया जा सकता है। आगे यथास्थान इन सभी स्रोतों एवं साक्ष्यों का उपयोग किया जाएगा।

राजनीतिक पृष्ठभूमि

इससे पूर्व कि विषय से सम्बद्ध चर्चा का प्रारम्भ किया जाय, राजनीतिक एवं धार्मिक पृष्ठभूमि का विवेचन आवश्यक है। 600 से 1200 ई० का काल प्राचीन भारतीय इतिहास का एक प्रकार से संक्रमण काल कहा जा सकता है। ऐसा तो नहीं कि इस युग में बड़े-बड़े साम्राज्य नहीं हुए[1] किन्तु हर्षवर्धन अथवा प्रतीहारों के बड़े-बड़े साम्राज्य भी देश की संस्कृति, सामाजिक एवं धार्मिक

---

1. पाठक, वि० उ०भा०रा० इति०, पृ० 51 और आगे, पृ० 149-163, प्रथम संस्करण, 1973, लखनऊ।]

स्थिति अथवा जीवन पर वह प्रभाव नहीं छोड़ सके जो मौर्य[1] अथवा गुप्त साम्राज्यों[2] ने छोड़ा था। वास्तव में देश की राजनीतिक दृष्टि खण्डित हो गयी थी और बड़ी से बड़ी सत्ताएं भी कुछ थोड़े से सीमित क्षेत्रों में ही बंधकर रहने लगी थीं, उनकी राजनीतिक एवं सैनिक महत्वाकांक्षाएं केवल कुछ युद्धों और एक-दूसरे को हराने मात्र से संतोष कर लेती थी, जिनका कोई स्थायी प्रभाव नहीं होता था। इस खण्ड-दृष्टि का परिणाम यह हुआ कि सारे भारतवर्ष में बार-बार साम्राज्य बने और बिगड़े और स्थायित्व की सम्भावनाएं समाप्त हो गयी[3]। इसके राजनीतिक परिणाम क्या हुए, इस विवेचन में जाने का यहां उचित अवसर नहीं है, किन्तु इतना ध्यान रखना आवश्यक है कि इतिहास के क्रम में कई बार बाधाएं आईं, उसकी गति वक्र हो गई और कई अवसरों पर तो कोई स्पष्टता नहीं दिखाई देती। इस राजनीतिक पृष्ठभूमि में ही उस समय की धार्मिक स्थिति तथा शासकों की धार्मिक नीति का विवेचन करना होगा।

हिन्दुओं की धार्मिक पृष्ठभूमि

सम्बद्ध प्रश्न पर विचार करते समय उत्तर-भारतवर्ष की धार्मिक स्थिति की ओर भी निर्देश करना आवश्यक है। गुप्त साम्राज्य के अन्त और पौष्यभूति साम्राज्य के प्रारम्भ के समय तक भारतवर्ष में प्राचीन वैदिक अथवा ब्राह्मण धर्म

---

1. मुकर्जी, रा०कु०, अशोक, पृ० 47-59, दिल्ली, 1962 (मोतीलाल बनारसीदास); थापर, रोमीला, अशोक एण्ड डिक्लाइन आफ मौर्याज, पृ० 94-103, आक्सफोर्ड 1961, रीप्रिण्ट 1963;
   भण्डारकार, द० रा०, अशोक (सामाजिक एवं धार्मिक अध्याय) चतुर्थ संस्करण कलकत्ता 1969।
2. सेलेटोर, रा० न० लाइफ इन द गुप्ता एज, पृ० 234-35, पृ० 273, पृ० 318-19 बम्बई 1943;
   उपाध्याय, वासुदेव, गुप्त०सा० इति०, खण्ड 1, पृ० 41-43, पृ० 91, 92, 100, 110-13, तृतीय संस्करण, इलाहाबाद 1969;
   मुकर्जी, रा०कु०, द गुप्ता इम्पायर, पृ० 129-48, मोतीलाल बनारसी दास, चतुर्थ संस्करण, दि० पटना, वाराणसी, 1969।
   समुद्रगुप्त के विषय में हरिषेण ने उसे कविता रूपी राज्य का भोग करने वाला कहा है—

   सत्काव्यश्रीविरोधान् बुधगुणितगुणाज्ञाहतानेव कृत्वा,
   विद्वल्लोके वि स्फुटबहुकविताकीर्ति राज्यं भुनक्ति॥
   (प्रयाग प्रशस्ति)

   गुप्त राजाओं की धार्मिक सहिष्णुता के लिए देखिए—
   मथुरा का स्तम्भलेख एवं सांची शिलालेख।
3. पाठक, वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 1-7।

की अनेक विशेपताओं का लोप हो चुका था और साधारण जनसमुदाय अधिकांशतः एक ऐसे धार्मिक परिवेश में बंध चुका था जिसे पौराणिक अथवा हिन्दू-धर्म की संज्ञा दी जाती है[1]। इस युग में वैदिक यज्ञ और कर्मकाण्ड के स्थान पर नये देवी-देवताओं के माध्यम से पूजा पद्धति का एक नया क्रम विकसित हुआ। उत्तर-भारतीय आर्यों ने जैसे-जैसे आगे बढ़ते हुए वैदिक धर्म, आर्य संस्कृति और संस्कृत भाषा का प्रचार किया त्यों-त्यों उन्हें आदिवासी अथवा कुछ अनार्य संस्कृतियों के संघर्ष में आना पड़ा। इस संघर्ष का परिणाम प्रायः युद्ध के रूप में नहीं दिखायी देता बल्कि पारस्परिक सामंजस्य और संग्रह के रूप में परिलक्षित होता है। आदान-प्रदान की भावनाएं प्रबल हो उठीं और वैदिक धर्म एक विशाल समुदाय पर प्रभावी होते हुए भी अपनी अनेक मूल-विशेषताओं को छोड़ने पर बाध्य हो गया। नई परिस्थितियों में नये देवताओं का विकास, मंदिरों का निर्माण एवं मूर्तिपूजा का विकास, त्रिदेवों तथा उनके देवगणों की मान्यता, मातृशक्ति में विश्वास एवं उसकी अनेक रूपों में पूजा तथा प्रकृति के देवताओं के स्थान पर एक नये देवमण्डल का विकास प्रमुख रूप से सामने आया[2]। विद्वानों की ऐसी मान्यताएं हैं कि इनमें सब कुछ आर्यों की ही देन नहीं थी, आर्यों ने बहुत कुछ अनार्यों तथा आदिवासियों का स्वीकार कर लिया। निष्कर्षतः यह दिखायी देता है कि गुप्त युग के बाद साधारण जनों का धर्म भी विशिष्ट जनों अथवा विद्वज्जनों अथवा दार्शनिक आधार पर खड़े धर्म की ही भांति प्रभावशाली और व्यापक रूप धारण करने लगा। भक्ति और पूजा के माध्यम से अनेक देवी-देवताओं का आविर्भाव इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। शासकगण सामंजस्य की इस नई परिस्थिति का उल्लंघन नहीं कर सकते थे। आगे चलकर धार्मिक नीति का जो विश्लेपण हम करेंगे उससे यह भली-भांति स्पष्ट हो जायगा।

बौद्ध-धर्म की स्थिति

हिन्दू-धर्म ज्यों-ज्यों व्यापकता, ग्रहणशीलता और सामंजस्य की ओर बढ़ रहा था, त्यों-त्यों उत्तर-भारत के कुछ अहिन्दू धर्म अथवा सम्प्रदाय संकोच, क्षीणक्षेत्र एवं अवनति की ओर जा रहे थे। इनमें दो का विशेष उल्लेख किया

---

1. हाजरा, र०च० स्टडीज इन द पुराणिक रीकार्ड्स आन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, पृ० 215 और आगे। ढाका विश्वविद्यालय बुलेटिन 20, कलकत्ता 1940;
   प्रो० अ०अ० मैकडानल कृत वैदिक माइथोलोजी, हिन्दी रूपांतर द्वारा—सूर्यकान्त वैदिक देवशास्त्र, भूमिका, पृ० 12 और आगे; विशेप द्रष्टव्य—देवताओं सम्बन्धित अध्याय।
2. वही।

जा सकता है। प्रथमतः बौद्ध-धर्म और दूसरे जैन-धर्म का। बौद्ध-धर्म गुप्तयुग के आते-आते जहां एक तरफ अपने दर्शन का अंतिम विकास करने में सफल हुआ[1], उसके अनेक दार्शनिक केवल भारतवर्ष में ही नहीं, विदेशों में भी प्रसिद्ध हुए[2], वहीं वह अपने सामाजिक व धार्मिक सम्बोधन में कमजोर और शिथिल पड़ने लगा।

पौराणिकों ने बुद्ध को अवतार मानकर तथा हिन्दू दार्शनिकों ने उनके अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों को अपना कर जहां एक ओर उनकी आधारभूमि को ही समाप्त करने का उपक्रम प्रारम्भ कर दिया वहीं दूसरी ओर बौद्ध-धर्म अपने संघ-जीवन की कमजोरियों के कारण बदनाम होने लगा। उनके स्थायित्व का सबसे बड़ा रहस्य संघ-जीवन की उनकी संगठन शक्ति ही थी। उस संगठन की नैतिक शक्ति के ह्रास होने से समाज के प्रति उनका आकर्षण जाता रहा[3]। अधिकांश बौद्ध हिन्दू हो गये और उनके अनेक विद्वानों और नेताओं के सम्भवतः मध्य एशिया, चीन, जापान, कोरिया और तिब्बत में चले जाने से कदाचित् उनका बौद्धिक आधार भी भारतवर्ष में शिथिल पड़ गया। परिणामतः नये हिन्दू धर्म की प्रतियोगिया ग्रहण-शक्ति और सामंजस्य-भाव तथा स्वयं अपनी आंतरिक कमजोरियों के कारण बौद्धों की संख्या घटने लगी। विवेच्ययुग (600-1200 ई०) में बौद्ध-धर्म, ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, शिथिल पड़ता गया। साधारण जनों पर उसका प्रभाव कम होता गया तथा उनके मानने वालों की संख्या सीमित रह गयी[4]। इस युग में बौद्ध-धर्म की ओर उन्मुख अथवा उसमें पूर्ण विश्वास रखने वाले कुछ भारतीय राजाओं के नाम श्वान्-च्वांग, इ-चिंग अथवा अन्य बौद्ध तीर्थ यात्रियों से प्राप्त होते हैं[5]। लेकिन ये सभी राजे पूर्णतः बौद्ध थे, इसमें सन्देह किया जा सकता है।

---

1 सांस्कृत्यायन, राहुल, बुद्धचर्या, भूमिका, पृ० 9, द्वितीय संस्करण, सारनाथ 1952; विशेष द्रष्टव्य—सांस्कृत्यायन की पुरातत्व निबंधावली, पृ० 121-34; मूर्ति ट०र०वि० की 'द सेंट्रल फिलोसोफी आफ बुद्धिज्म', लंदन 1960।

2. सांस्कृत्यायन, राहुल, मध्य एशिया का इतिहास, जिल्द 1, पृ० 111-12, प्रथम संस्करण, पटना 1965।

3. सांस्कृत्यायन, राहुल, बुद्धचर्या भूमिका पृ० 10।

4. उत्तर भारत के प्रमुख बौद्ध-केन्द्रों में रहने वाले बौद्धों की संख्या में क्रमिक घटाव के तुलनात्मक अध्ययन हेतु विशेष द्रष्टव्य :
द ट्रेवल्स आफ फाह्यान, अनुवाद द्वारा—एच० ए० गिल्स, लंदन;
तथा आन् यूवान्-च्वांग्स् ट्रेवल्स इन इंडिया, दो जिल्दों में, द्वारा—वाटर्स, मुंशी रामनोहर लाल, नई सड़क, दिल्ली, 1961।

5. वाटर्स, जिल्द 1, पृ० 344-45।

साधारणतया इस युग के उत्तर-भारतीय राजा हिन्दू थे। बौद्ध-धर्म को स्पष्टतः मानने वाला केवल एक राजवंश था बंगाल के पालों का, जिनका शासन क्षेत्र उनकी साम्राज्य वृद्धि के चरमोत्कर्ष के दिनों में भी बंगाल और बिहार के बाहर नहीं था। यह कह सकना बड़ा कठिन है कि कुछ बौद्ध राजाओं के होते हुए भी बौद्ध-धर्म साधारण जन समाज में कितना व्यापक था अथवा उसके मानने वालों की संख्या का क्या प्रतिशत था। इतना निश्चित प्रतीत होता है कि हिन्दू धर्म के मानने वालों की अपेक्षा वह संख्या अत्यन्त सीमित थी। बौद्ध-धर्म की अवनति का प्रमुख कारण था, महायानियों और हीनयानियों का आपसी संघर्ष जिसके अनेक उदाहरण श्वान-च्वांग के वर्णनों से ज्ञात होते हैं[1]।

जैन धर्म

इस युग में उत्तर-भारतवर्ष का तीसरा प्रमुख धर्म जैन-धर्म था। यद्यपि बौद्धों की अपेक्षा जैनियों की संख्या इस समय अधिक रही प्रतीत होती है, हिन्दुओं की तुलना में ये भी सीमित ही थे। जैन-धर्म की इस युग की कुछ विशेषताएं हैं। वर्धमान महावीर के बाद उत्तर-भारतवर्ष में लगभग एक हजार वर्षों तक सिमटे रहकर जैनियों ने छठी शताब्दी में अपने आगमों का संग्रह प्रारम्भ किया। जैन आगमों के संग्रह की सर्वप्रथम सभा देवर्द्धिगणि की अध्यक्षता में 532 ई० में वल्लभी में हुई[2]।

जैन आचार्यों की एक ऐसी परम्परा चली, जिन्होंने अपनी कृतियों से प्राचीन आगमों की रक्षा ही नहीं की, परन्तु साहित्य की अनेक नई विधायें चलाई। नवीन हिन्दू-धर्म के मुकाबले जैन धर्म उस आसानी से नहीं झुक गया जैसा बौद्ध धर्म। जिस अनुपात में बौद्ध धर्म की कमजोरी का कारण बौद्ध मठों और विहारों का शिथिल आचार था, उसी अनुपात में जैन धर्म के भारत में स्थायी रूप से बने रहने का प्रमुख कारण उनका कठोर आचार मार्ग था। इस प्रकार अपने धार्मिक, सैद्धान्तिक और दार्शनिक विश्वासों के प्रति जागरूकता, दर्शन और आगम को बनाये रखने का दृढ़ संकल्प, नवजागृति, साहित्यिक अभिरुचि एवं कठोर आचार मार्ग के द्वारा जैनियों ने संख्या में हिन्दू-धर्म के मुकाबले बहुत कम होते हुए भी अपने प्रभाव का कई क्षेत्रों में सफलतापूर्वक उदाहरण उपस्थित किया[3]।

---

1. वाटर्स, जिल्द 1, पृ० 162-63।
2. जैन, हीरालाल भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० 30।
3. मजूमदार, अ० कु०, चौलुक्याज आव् गुजरात, पृ० 310-27, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, 1956।

इस युग में जैन-धर्म की एक विशेपता दिखाई देती है। उत्तर-भारत के प्रमुख स्थानों से नीचे सरक कर उसके अनुयायी मध्य प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, सिंध, महाराष्ट्र और कर्नाटक की ओर चले गये, जहां उन्होंने अपने बड़े-बड़े केन्द्र स्थापित किये। पश्चिमी और दक्षिणी भारत के इन क्षेत्रों में रहते हुए वे भारतवर्प के विदेशी सम्बन्धों के माध्यम बन गए। अपनी अहिंसक प्रवृत्ति के कारण जैन-धर्म विशेपतः वैश्यों में ही प्रचलित रहा और ये वैश्य व्यापार के माध्यम से धन इकट्ठा कर साधारण समाज और राजदरबारों में प्रतिष्ठा प्राप्त करने में सफल हुए। अतः अपनी आर्थिक सम्पन्नता के कारण ये अनेक दरबारों को प्रभावित करते रहे[1]। दक्षिणापथ का राष्ट्रकूट राजवंश ऐसा हुआ जिसके अनेक शासक भी जैन धर्मावलम्बी थे। इस स्थिति का प्रभाव राष्ट्रकूटों की धार्मिक नीति पर तो पड़ा ही, उसका अप्रत्यक्ष प्रभाव पार्श्ववर्ती उत्तर-भारत पर पड़े बिना नहीं रह सकता था। कला और साहित्य के क्षेत्र में अनेक जैन उपलब्धियां हैं[2] जो हिन्दू-धर्म और समाज के प्रति उनकी कड़ी स्पर्धा की परिचायक हैं तथापि उनकी संख्या कम थी। जैन-धर्म जहां अपने कठोर आचरण के कारण बना रहा, वहीं उसके श्वेताम्बर और दिगम्बर दो सम्प्रदायों में आपसी भेद-भाव और शत्रुत्व था जिससे उसमें कुछ कमजोरी भी आई[3]।

ऊपर उत्तर-भारतीय धार्मिक स्थिति का जो विवेचन किया गया है उससे स्पष्ट है कि भारतीय समाज इस देश के अनेक प्राचीन धर्मों और उनके विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त था। इस विभक्त स्थिति में ही भारतीय राजाओं की धार्मिक स्थिति का आंकलन करना होगा।

इस्लाम का भारतवर्ष में प्रवेश

किन्तु उत्तरी भारतवर्ष के हिन्दू बौद्ध अथवा जैन-धर्म ही अकेले धर्म नहीं थे। उनके आपसी सम्प्रदाय तो थे ही, विवेच्य युग (600-1200 ई०) में धार्मिक दृष्टि से भारतीयों को इस्लाम के उदय के रूप में एक नयी समस्या का सामना

---

1 रे, हेमचन्द, डा०हि०ना० इण्डिया, जिल्द 2, पृ० 997, कलकत्ता 1936।

2. कुमारस्वामी, अ०क०, हि० इंडियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृ० 110-12, न्यूयार्क, 1927;
जैन, हीरालाल, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 35-45, विशेप द्रष्टव्य—कला और मूर्तिकला अध्याय;
अवस्थी, रामाश्रय, खजुराहो की देव प्रतिमाएं, पृष्ठ 15-16, प्रथम संस्करण, आगरा 1967।

3. मजूमदार, अ० कु०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 311-12।

करना पड़ा। हसरत मुहम्मद ने पश्चिमी एशिया में इस्लाम के नाम से जिस नवीन शक्ति और धार्मिक सत्ता का प्रारम्भ किया वह एक बढ़ी हुई नदी के वेग के समान अपने मूल क्षेत्रों के चारों ओर के इतिहास और संस्कृति को बड़ी तेजी से आप्लावित करने लगा। हजरत मुहम्मद के अरब अनुयायियों ने अपने प्राचीन धर्मों को छोड़ चुकने के बाद जिस नए उत्साह, दूसरों के प्रति असहिष्णुता और अपने धर्म के प्रचार के लिए तलवार के उपयोग का जो सहारा लिया वह अन्य राष्ट्रों के लिए अथवा जातियों के लिए चुनौती साबित हुई। भारतवर्ष में इस्लाम अपनी स्थापना के थोड़े दिनों के भीतर ही प्रवेश कर गया। अरबवासी इस्लाम में सबसे पहले दीक्षित हुए। मुसलमान होने के पूर्व भी अरबों का भारतवर्ष से सांस्कृतिक एवं व्यापारिक सम्बन्ध था। भारत के पश्चिमी तट का व्यापार उन्हीं के हाथों से होकर गुजरता था[1]। भारत में अपनी राजनैतिक एवं सैनिक राजसत्ता स्थापित करने के पूर्व मुसलमानों ने अपने धर्म के नये उत्साह में सारे पश्चिमी एशिया, दक्षिणी यूरोप और उत्तरी अफ्रीका को बड़ी शीघ्रता से आक्रान्त कर डाला। इस पृष्ठभूमि के साथ पाकिस्तान के सिन्ध प्रान्त में उन्होंने आठवीं शताब्दी के दूसरे दशक में प्रवेश किया और सिन्ध तथा मुल्तान में उन्होंने अपनी सत्ताएं शीघ्र ही स्थापित कर लीं। भारतीयों के सामने यह एक नयी चुनौती थी, एक ऐसी चुनौती जिसका सामना भारतीय शासक अपनी चिरप्रतिष्ठित धार्मिक नीति के आधार पर कर नहीं सकते थे। भारतवर्ष में इस्लाम को पश्चिमी एशिया अथवा उत्तरी अफ्रीका के देशों की तरह अपने प्रसार में बहुत जल्दी सफलता नहीं मिली और उन्हें उत्तरी भारतवर्ष पर अधिकार करने में अपने प्रथम प्रवेश के बाद लगभग 500 वर्ष लग गये। उनके और भारतीयों के दृष्टिकोण में बड़ा भारी अन्तर था। उस धार्मिक और सामाजिक दृष्टिकोण के अन्तर के कारण ही वे चुनौती बन गये तथा धीरे-धीरे एक ऐसी समस्या के रूप में उपस्थित हो गए, जिसके समाधान में भारतीय हिन्दू अन्ततः सफल नहीं हो पाए। विवेच्ययुग (600-1200 ई०) के अंतिम पाद शताब्दी 11751-1200 ई०) के पूर्व मुसलमान सिंध और मुल्तान से आगे नहीं बढ़ सके[2] तथापि उनके धावे राजपूताना, गुजरात और मध्य प्रदेश तक ही नहीं कदाचित् उत्तर-प्रदेश

---

1. मजूमदार, पुसालकर, दि एज आफ इम्पीरियल कन्नौज, पृ० 126-29 तथा पृ० 408-9, द्वितीय संस्करण, विद्याभवन, बम्बई 1964।
2. पाठक, वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 209-12; मजूमदार, पुसालकर, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 126-29।

के कुछ भागों और कश्मीर तक भी होते रहे[1]। इन धावों में उनका लक्ष्य केवल सैनिक विजयों के माध्यम से अपने राजनीतिक क्षेत्रों का विस्तार मात्र नहीं था अपितु तलवार के बल से अपने धर्म का प्रचार भी उनका प्रमुख लक्ष्य था। हिन्दू राजनीति और शासन नीति में तथा सामाजिक और धार्मिक इतिहास में अपने सिद्धान्त अथवा धर्म के प्रचार के लिए सैनिक बल का उपयोग एकदम अज्ञात था। बड़ा स्पष्ट है कि यह दो संस्कृतियों का परस्पर भिन्न दृष्टिकोण था। भारतीय इतिहास में यह एक नई स्थिति थी, जिसके समाधान में भारतीय राजाओं की परम्परागत धार्मिक नीति अपनी प्राचीन सफलता को अब प्राप्त नहीं कर सकी। भारतीयों ने नवागन्तुक इस्लाम और उसके अनुयायियों को म्लेच्छ कहकर पुकारा और उन्हें समूल नाश करने की आवश्यकता भी समझी[2]। किन्तु वे पूरी तरह सफल नहीं हो पाए। उनके इस असफलता का एक प्रमुख कारण उनकी धार्मिक नीति भी हो सकती है। हम अपने विषय का विवेचन इस दृष्टि से भी करेंगे।

राजधर्म और भारतीय राजाओं के लिए वैध शासन दृष्टि

उत्तर-भारतीय राजाओं की धार्मिक नीति का निर्धारण करते समय हिन्दू राजाओं के शासन सम्बन्धी कुछ मूलभूत सिद्धान्तों की ओर ध्यान देना अत्यावश्यक

---

1. चौलुक्य राजा पुलकेशिराज अवनिजनाश्रय के 738-39 के नौसारि अभिलेख—; बम्बई गजेटियर, जिल्द 1, खण्ड 1, पृ० 109 आगे;
खण्ड 2, पृ० 187-88 तथा 310;
एनल्स आफ भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट, जिल्द 10, पृ० 31।
2. ए०इ०, जिल्द 18, पृ० 102-107, (मिहिरभोज की ग्वालियर प्रशस्ति); पाठक, वि० पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 210-11,
(प्रतीहार प्रथम नागभट्ट को अरबों तथा म्लेच्छों को परास्त करने वाला कहा गया है);
गोविन्दचन्द गाहडवाल के बारे में उसकी रानी कुमार देवी के सारनाथ अभिलेख में कहा गया है—
वाराणसी भुवनरक्षणदक्ष एको दुष्टातुरुष्क सुभटादवितुं हरेण। उक्तोहरिः न पुनरत्र बभूव तस्मात् गोविन्दचन्द्र इति प्रथिताभिधानः॥
(ए०इ०, जिल्द 9, पृ० 324, श्लोक 16)
पृथ्वीराज विजय, प्रथम, 36-74।
विग्रहराज चतुर्थ वीसलदेव के दिल्ली अभिलेख में कहा गया है कि—
विग्रहराज ने म्लेच्छों अर्थात् मुसलमानों का समूलोच्छेद कर आर्यावर्त देश नाम को उसका वास्तविक अर्थ प्रदान किया।
(इ०ए०, जिल्द 19, पृ० 216-19)

है। प्रारम्भिक इस्लाम अथवा मध्यकालीन और बहुत हद तक आधुनिककालीन ईसाई धर्म के मानने वाले राज्यों की धार्मिक नीति के बारे में हम यह देखते हैं कि प्रायः शासकगण अपने धर्म अथवा सिद्धान्त की मान्यता अपने शासितों पर लादना अपना कर्त्तव्य समझते थे। इसी सिद्धान्त के कारण सुकरात को जहर का प्याला पीना पड़ा, ईसा-मसीह को सूली चढ़ना पड़ा, गैलीलियो को दण्डित होना पड़ा अथवा वैसे अनेक संत-महात्माओं को यातनाएं सहनी पड़ीं। यूरोप के धर्म-सुधारवाद के युग में तो कुछ दिनों तक क्या कैथोलिक क्या प्रोटेस्टेंट सभी शासक अपनी प्रजा पर अपने धर्म को लादने का प्रयत्न करते रहे। धार्मिक सभाएं तक इसको मानने में कुछ हर्ज नहीं समझती थी कि जिस धर्म को मानने वाला राजा हो उसी धर्म को मानने वाली वहां की प्रजा भी समझी जायेगी[1]। इस प्रकार की धार्मिक नीति अन्यायप्रद थी, ऐसा समझने में यूरोप, अफ्रीका अथवा पश्चिमी अथवा पश्चिमी एशिया को बहुत दिन लगे। किन्तु भारतवर्ष धार्मिक देश होते हुए भी शासन नीति में अपनी धार्मिक निष्पक्षता और निरपेक्षता के सिद्धान्त का अत्यन्त प्रारम्भ से ही कायल था। राजा और प्रजा का धर्म और विश्वास अलग-अलग होने पर भी न तो उनमें कोई परस्पर विरोध व संघर्ष की स्थिति आई और न उनके पारस्परिक मेल व प्रेम में कमी हुई। धर्म और विश्वास की विमति भी प्रत्येक प्रकार की स्वतंत्रता में बाधक नहीं सिद्ध हुई।

प्राचीन भारतीय राजशास्त्रियों ने राजा और राज्य के उद्देश्यों को जिस प्रकार से निश्चित किया है तथा राजधर्म का जैसा निश्चय किया है, वह धार्मिक निष्पक्षता को केन्द्रीय सिद्धान्त मानकर ही किया गया। परम्परागत रूप में राजा को किसी नए धर्म अथवा विधि के प्रवर्तन की स्वतंत्रता नहीं थी, वह तो स्थापित धर्म का संरक्षक और संस्थापक[2] मात्र था। विधि और समाज का मूल स्रोत तो वेद था। वेद से मिश्रित धर्म को ही, स्मृतियों, निबंधों, शिष्टों और अन्य सामाजिक संस्थाओं की पुष्टि प्राप्त हुई। जिन राजशास्त्रियों ने राजशासन की महत्ता मानी भी उन्होंने भी सम्भवतः वैदिक और स्मार्त-धर्म की अवहेलना नहीं की। कौटिल्य का अर्थशास्त्र भी सम्भवतः इस नियम का अपवाद नहीं है।

---

1. लैटिन में यह सिद्धान्त Crijus Regio ejus Religio कहा गया है। 1555 में धार्मिक समस्या को सुलझाने के लिए आग्सबर्ग में एक सभा हुई। आग्सबर्ग की संधि के अनुसार सम्पूर्ण जर्मनी पर एक प्रकार की धार्मिक व्यवस्था लादने का विचार छोड़ दिया गया और वहां के शासकों को जिनकी संख्या 300 से ऊपर थी, अपनी प्रजा के धर्म को निश्चित करने का अधिकार मिला ;

   सिंह, हीरालाल, रामवृक्ष, आधुनिक यूरोप का इतिहास, पृ० 58 वाराणसी 1973।
2. जायसवाल, के०पी०, हिन्दू पालिटी, खण्ड 2, पृ० 12-13;
   हिन्दी अनुवाद, द्वारा रामचन्द्र वर्मा, खण्ड 2, पृ० 17-18, ना०प्र०स०, काशी।

राजा के कर्त्तव्यों में जहां शासितों के भौतिक सुखों की ओर ध्यान देना प्रमुख माना जाता था वहीं उसका यह भी प्रधान कर्त्तव्य माना जाता था कि वह स्थापित समाज और धर्म की रक्षा करे, त्रयी अर्थात् धर्म, अर्थ और काम की सफलता में साधक हो तथा सभी सम्प्रदायों के प्रति समान व्यवहार करे। यह सिद्धान्त धर्मसूत्रों, स्मृतियों, महाकाव्यों और कौटिल्य के अर्थशास्त्र से लेकर विवेच्य युग (600-1200 ई०) के राजनीतिक लेखकों के युग तक अवाध रूप से स्वीकृत दिखायी देता है[1]। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रायः सभी भारतीय राजे अपनी धार्मिक नीति में सहिष्णु, उदारवादी और सभी सम्प्रदायों के सहायक बन गये। यदि प्राचीन भारतीय इतिहास को ध्यानपूर्वक देखा जाए तो यह बड़े स्पष्ट रूप से सामने आएगा कि शायद ही कोई भारतीय राजा—चाहे वह स्वयं बौद्ध, हिन्दू तथा जैन क्यों न रहा हो—अपने धार्मिक व्यवहार में असहिष्णु साबित हुआ हो। विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच आपस में शास्त्रार्थ, प्रतिद्वन्द्वितायें और कभी-कभी राग-द्वेष और ईर्ष्या के कुछ प्रमाण भले मिल जाएं, राजाओं की तटस्थता के विपरीत प्रमाण मिलने शायद सम्भव होंगे। यदि ऐसे प्रमाण होंगे भी तो उनके पीछे कोई राजनैतिक अथवा सैनिक कारण ही रहा होगा, ऐसा बिना किसी प्रतिवाद के भय के कहा जा सकता है।

ऊपर जो कुछ लिखा जा चुका है उसके परिप्रेक्ष्य में ही पूर्व मध्ययुगीन उत्तर-भारतवर्ष के राजाओं की धार्मिक-नीति का विवेचन आगे के पृष्ठों में किया जायेगा।

---

1. षड्भागभृतो राजा रक्षेत्प्रजाम्। बौ० ध० 1,10-6;
निर्दिष्टः कालो धर्मिष्ठ संहृत्य ब्रूयात्। तुल्यवेतनोऽस्मि।
भवद्भिः सह भोग्यमिदं राज्यम्। बौ० ध० 10, 3;
सर्वतः फलभुग्भूत्वा दासवत्स्यात्तु रक्षणे। शुक्र० 4,2, 130
बल प्रजारक्षणार्थं धर्मार्थकोप संग्रहः। परत्रेह च सुखदो नृपश्यान्यस्तु दुःखदः॥
स्त्रीपुत्रार्थं कृतो यश्च स्वोपभोगाय केवलम्। नरकायेव स ज्ञेयो न परमसुखप्रदः॥
महाभारत 4, 20, 3-5
प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्म प्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥ अर्थ 1, 19
नित्यं राज्ञा तथा भाव्यं गर्भिणी सहधर्मिणी।
यथा स्व सुखमुत्सृज्य गर्भस्य सुखभावहेत्॥ अग्निपुराण 222,8
राज्ञां शरीर ग्रहणं न भोगाय महीमते।
क्लेशाय महते पृथ्वी स्वधर्म परिपालने॥ मारकण्डेपुराण 130, 33
अल्तेकर, ए०एस०, स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन ऐंसियंट इंडिया, पृ० 97-100, दिल्ली 1958।

अध्याय—2

पौष्यभूति वंश एवं समसामयिक राजाओं की धार्मिक नीति

ज्ञानस्रोत

ईसा सन् की छठी शताव्दी में थानेश्वर के आस-पास एक ऐसे राजवंश का उदय हुआ जो आगे चलकर वंश के सबसे प्रमुख शासक हर्ष के समय कन्नौज को अपनी राजधानी बनाकर साम्राज्य पद प्राप्त कर लेने में सफल हो गया। लगभग सौ वर्षों तक थानेश्वर और कन्नौज दोनों स्थानों से शासन करते हुए इसके शासकों ने एक राजनीतिक सत्ता की स्थापना कर अच्छी प्रतिष्ठा कमायी। इस वंश का सबसे प्रमुख शासक हर्ष था, जिसके शासन और धार्मिक नीति का ज्ञान उसके समय लिखे गये कुछ प्रमुख ग्रन्थों से होता है। उनमें प्रथम गणना बाणभट्ट के हर्षचरित[1] की की जा सकती है। यद्यपि बाणभट्ट हर्षचरित को हर्ष का इतिहास देने के उद्देश्य से लिखा हुआ बताता है, वास्तव में उस सम्राट् का राजनैतिक एवं सैनिक इतिहास उससे बहुत कम ही प्राप्त होता है। किन्तु देश की सांस्कृतिक स्थिति एवं हर्ष तथा उसके पूर्वजों के धर्म और धार्मिक नीति का अध्ययन उससे आसानी से किया जा सकता है। आगे हम उसका भरपूर उपयोग करेंगे। हर्ष

---

1. हर्षचरित, अंग्रेजी अनुवाद द्वारा कावेल और टामस, मोतीलाल बनारसी दास, 1960; हर्षचरित, भूमिका और व्याख्या द्वारा पी०वी० कर्णे, द्वितीय संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1965।
   हर्षचरित, निर्णय सागर प्रेस, 1912।

से सम्बद्ध दूसरी प्रमुख रचना है , श्वान्-च्वांग का यात्रावृत्त[1], जो केवल हर्ष के राज्य की विभिन्न परिस्थितियों मात्र का उल्लेख नहीं करता, अपितु सारे भारत-वर्ष के राजाओं के सम्बन्ध में धार्मिक और सांस्कृतिक सूचनायें देता है । श्वान्-च्वांग एक चीनी यात्री था । भारतवर्ष में 15 वर्ष रह कर उसने सारे देश की यात्राएं की, संस्कृत पढ़ी और बौद्ध-धर्म की तत्कालीन अवस्था का विशेष रूप से वर्णन किया । उसके यात्रा-वृत्त में यहां-वहां कुछ ऐसी चर्चाएं मिलती हैं जो तत्कालीन धार्मिक अवस्था और राजकीय नीति पर बड़ा अच्छा प्रकाश डालती हैं । किन्तु श्वान्-च्वांग के साक्ष्यों का प्रयोग करते समय यह विचार करना बड़ा आवश्यक होगा कि उसके उल्लेख यथावत् स्वीकार कर लिए जायं अथवा उनकी सत्यता पर कुछ सन्देह भी किया जाय। आगे श्वान्-च्वांग के यात्रा-वृत्त का उपयोग करते समय इस प्रश्न पर हम और विचार करेंगे ।

इनके अतिरिक्त भी चीनी भाषा में हर्ष से सम्बन्धित कुछ ग्रंथ हैं । सर्व-प्रमुख है, श्वान्-च्वांग के मित्र हुइली द्वारा लिखा हुआ उस यात्री का जीवन-वृत्त[2] । ऐसा प्रतीत होता है कि हुइली ने श्वान्-च्वांग का जो जीवन-वृत्त दिया है उसमें घटनाओं का विवरण श्वान्-च्वांग की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय है । आगे इस जीवन-वृत्त के उद्धरणों के साथ तुलना करते हुए, श्वान्-च्वांग के कथनों की स्वीकार्यता के बारे में हम यथास्थान चर्चा करेंगे ।

हर्ष के बांसखेड़ा[3] और मधुवन[4] से प्राप्त होने वाले दो अभिलेख तथा उस समय के अन्य अभिलेखों से भी तत्कालीन धार्मिक स्थिति की जानकारी होती है, उनमें राजाओं के व्यक्तिगत धर्मो की चर्चाएं हैं जिनके परिप्रेक्ष्य में ही उनकी धार्मिक-नीति निश्चित की जा सकती है ।

हर्ष के समय की साधारण धार्मिक और सामाजिक अवस्था

सातवीं सदी में ब्राह्मण धर्म की स्थिति की सूचना श्वान्-च्वांग के वर्णनों से मिलती है । वह कहता है कि ब्राह्मण-धर्म एवं संस्कृति उस समय देश में फैली हुई थी । उस समय का भारत उसकी दृष्टि में ब्राह्मणों का देश था । ब्राह्मण

---

1. सि०यू० कि, एस० बील : सुशील गुप्त प्र०, 4 जिल्दों में कलकत्ता 1957-58
   वाटर्स टी० (टॉमस), आन च्वान्-च्वांग्स ट्रैवेल्स इन इण्डिया, मुंशी राममनोहर लाल, दिल्ली 1961;
   ज०रा०ए०सो०, जिल्द 1, लंदन, 1904 ।
2. बील, लाइफ आव यवान्-च्वांग—लंदन, 1911 ।
3. ए० इ०, जिल्द4, पृ० 211 ।
4. वही, जिल्द 1, पृ० 72 और आगे ।

सर्वश्रेष्ठ एवं विशेप सम्मानित थे, अपेक्षा अन्य जातियों के[1]। ब्राह्मणों के मुख्य देवताओं के बारे में हर्षचरित[2] से ज्ञात होता है कि आदित्य, विष्णु, शिव की मूर्तियां मन्दिरों में पूजी जाती थीं। कन्नौज में कई शैव मंदिर, थे जो माहेश्वर के नाम से प्रसिद्ध थे[3]। इस तरह बहुतायत शैव मंदिरों की मौजूदगी, शैव संस्कृति एवं उस धर्म की लोकप्रियता की परिचायक थी। कन्नौज ब्राह्मण धर्म का ही नहीं, बौद्धधर्म का भी केन्द्र था[4]।

तत्कालीन अन्य साहित्यिक ग्रंथों से भी उस समय के समाज तथा धर्म के बारे में जानकारी होती है, जिनमें कादम्बरी, रत्नावली, प्रियदर्शिका तथा नागानन्द की गणना भी की जा सकती है। बाण की कादम्बरी में शिव के नामों का बार-बार उल्लेख हुआ है, उन्हें उमापति[5] के नाम से संबोधित किया गया है। कादम्बरी के मंगलाचरण में ब्रह्मा, रुद्र और विष्णु की अर्चना की गई है[6] तथा राजा शुद्रक द्वारा शंकर की पूजा एवं होम आदि सम्पन्न करने का उल्लेख है[7]। बाण की कादम्बरी[8] से ब्राह्मणों के विशेप सम्मानित एवं पूजनीय होने की जानकारी मिलती है। समाज में वे देवताओं की भांति पूजे जाते थे तथा उन्हें कई प्रकार की भेंटें और उपहार दिये जाते थे। सम्राट् हर्प विरचित 'रत्नावली' नाटिका के प्रारम्भ में शिव और पार्वती की स्तुति[9] की गई है तथा चौथे अंक में ब्रह्मा, विष्णु, शिव एवं इन्द्र की चर्चाएं हैं[10]। नागानन्द नाटक से तत्कालीन वैदिक एवं बौद्ध-धर्म के आपसी समन्वय[11] के बारे में जानकारी होती है। नाटक की नान्दी भगवान् बुद्ध की स्तुति में है[12], नाटक की नायिका भगवती गौरी की स्तुति करती हुई दिखायी गयी है[13]। सम्राट् हर्ष विरचित

---

1. वाटर्स, जिल्द 1, पृ० 140।
2. कावेल और टामस, हर्ष च०, पृ० 44।
3 वाटर्स, जिल्द 2, पृ० 234।
4. बील, जिल्द 1, पृ० 224।
5. अग्रवाल, वा०श०, कादम्बरी, पृ० 135।
6. कादम्बरी कथामुखम्, पृ० 1।
7. वही, कथामुखम, पृ० 125।
8. अग्रवाल, वा०श०, कादम्बरी, पृ० 71।
9. रत्नावली, प्रथम श्लोक, पृ० 1 आगे।
10. वही, चौथा अंक, श्लोक 11, पृ० 148।
11. नागानन्द, प्रस्तावना, पृ० 39।
12. वही, अंक 1, श्लोक 1, पृ० 1 आगे।
13. वही, अंक 1, श्लोक 14, पृ० 33।

प्रियदर्शिका का मंगलाचरण पार्वती और शिव की स्तुति में है[1]। इसी ग्रंथ में ब्राह्मणों द्वारा मंत्रोच्चारण करने एवं दान पाने का उल्लेख है[2]।

हर्षचरित से सूचना मिलती है कि हर्ष मनु के समान वर्णाश्रम धर्म अथवा व्यवस्था का रक्षक था[3]। कादम्बरी से ज्ञात होता है कि उस समय वर्णाश्रम व्यवस्था वर्तमान थी। कादम्बरी में चाण्डाल कन्या को स्पर्शरहित और दूषित कहा गया है[4]। ब्राह्मणों द्वारा वैदिक यज्ञों एवं हवनों को सम्पन्न करने तथा यज्ञोपवीत करने का भी उल्लेख कादम्बरी में हुआ है[5]। नागानन्द नाटक में आश्रम (वानप्रस्थ) का उल्लेख हुआ है[6]। प्रियदर्शिका में रानी द्वारा ब्राह्मणों को सम्मान देने तथा ब्राह्मण का राजा के मंत्री होने की चर्चा है[7]।

प्रारम्भ में जिस धार्मिक स्थिति का जो विवेचन किया गया है विभिन्न धर्मों के अनेक धार्मिक सम्प्रदाय भी थे, ऐसी सूचना मिलती है। वाण के हर्षचरित[8] में 21 धार्मिक साम्प्रदायों का उल्लेख है, जिनकी संख्या निम्नवत् है—

(1) भागवत, (2) वर्णी, (3) जैनश्वेताम्बर, (4) पंचाग्नितायन, (शैव), (5) शाब्दा (वैयाकरण लोग), (6) पाण्डरीभिक्षु, (7) जैन साधु यापनीय (8) दिगम्बर जैन, (9) कपिल मतानुयायी, (10) पाशुपत शैव (11) बौद्ध मतानुयायी, (12) वैखानस, (13) पाराशदी, (14) पांचरात्रिक, (15) नैयायिक, (16) धर्मशास्त्री, (17) यज्ञवादी मीमांसक, (18) मस्करी, (19) लोकायत, (20) ब्रह्मवादी और (21) पौराणिक।

वाण ने जिन धार्मिक सम्प्रदायों की सूची दी है, उन सम्प्रदायों के अलग-अलग दर्शन और साहित्य थे और वे आपस में वाद-विवाद भी करते थे। सांख्य, वैशेषिक, नैयायिक और वेदान्त—इन चारों प्रकारों के दार्शनिक अखाड़े में उतर कर पुरुष और प्रकृति की नित्यता एवं अनित्यता के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के पैतरों का आश्रय ले रहे थे। और नयी-नयी युक्तियों का आविर्भाव कर रहे थे। मीमांसक और वैयाकरण भी कन्धे से कन्धा मिलाकर साथ-साथ चलने का प्रयत्न कर रहे थे। कुमारिल और भर्तृहरि का तत्वचिन्तन इसका प्रमाण है[9]।

---

1. प्रियदर्शिका, प्रस्तावना, पृ० 1।
2. वही, ,, अंक 1, पृ० 10।
3. आग्रवाल, वा० श०, हर्षचरित, पृ० 50।
4. कादम्बरी, कथामुखम्, पृ० 70।
5. वही, ,, पृ० 229 आगे।
6. नागानन्द, अंक, 1 पृ० 10।
7. प्रियदर्शिका, अंक 2, पृ० 11।
8. अग्रवाल, वा० श०, हर्षचरित, पृ० 105 और आगे।
9. अग्रवाल, हर्षचरित पृ० 191-92।

हर्षचरित[1] से सूचना मिलती है कि उस युग में ब्रह्मसूत्र या वेदान्तसूत्र नवीन प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहे थे। उनके लिए समस्त 'विद्याओं के राजा' की पदवी प्रयुक्त की जाती थी। विभिन्न दर्शनों में ब्रह्मसूत्रों का पद सबसे ऊंचा उठ गया था। बौद्ध लोग महामायूरी, पंचरक्षा, स्तोत्रों को विद्याराज्ञी या विद्याराज मानते थे। सम्भव है उसी के समकक्ष ब्राह्मण धर्म के कुछ मंत्रों या स्तोत्रों को अलग चुनकर 'विद्याराज' पद से सम्मानित किया गया।

वाण ने कादम्बरी[2] में ब्राह्मण गृहस्थों के घरों में प्रतिपालित संस्कृति का सोत्साह वर्णन किया है। इन प्रख्यात गुरुओं के घरों में छात्र एकत्र होते थे और वेद-पारायण एवं शास्त्रों के शिक्षण की रात-दिन चर्चा रहती थी। शास्त्रों का अध्यापन गुरु-शिष्य परम्परा के द्वारा चिरंजीवी वनाया जाता था। ब्राह्मणों के विद्यालय इन्हीं गुरुकुलों में फैले हुए थे। किन्तु बौद्धों की शिक्षा का प्रवन्ध इससे कुछ भिन्न था। वाण ने दिवाकर मित्र के आश्रम का जो उल्लेख हर्षचरित[3] में किया है वह कुछ इसी प्रकार का सामूहिक संगठन है, जैसा नालन्दा विश्व-विद्यालय रहा होगा। उस समय न केवल वड़े-वड़े नगर केन्द्रों में, वल्कि प्रीतिकूट जैसे ग्रामों में भी विविध विषयों की पढ़ाई का अच्छा प्रवन्ध था। उस समय प्रीतिकूट गांव में नियमित रूप से व्याकरण, न्याय, मीमांसा, काव्य, कर्मकाण्ड और वेद-पाठ जैसे विषयों की पढ़ाई होती थी[4]। कादम्बरी से सूचना मिलती है कि साहित्यिक क्षेत्रों में कथा, नाटक, आख्यायिका, काव्य, महाभारत, पुराण, इतिहास, रामायण की शिक्षा दी जाती थी, जिनकी साधना राजसभा में सम्राट् और उनकी मित्र मण्डली करती थी[5]।

वाण की कादम्बरी में धार्मिक पदाधिकारियों का उल्लेख आया है। ये कुछ खास चुने हुए महापुरुष ही होते थे। उनके वैठने के लिए दूसरे कार्यालयों की अपेक्षा अधिक ऊंचे वेत्रासनों का प्रयोग किया जाता था[6]। इसी ग्रन्थ से परिव्रा-जिकाओं के वारे में भी जानकारी होती है जो चार प्रकार की होती थीं। उनका सम्वन्ध क्रमशः पाशुपत, वौद्ध, जैन और नैष्ठिक वर्णी सम्प्रदायों से था, जो लाल वस्त्र पहने हुए अनेक पुण्य कथाओं को सुनाते हुए धर्मोपदेश कर रही थीं[7]।

---

1. अग्रवाल, हर्षचरित, पृ० 60।
2. अग्रवाल, कादम्बरी, पृ० 15।
3. वही, हर्षचरित, पृ० 193।
4. वही कादम्वरी, पृ० 15।
5. वही, कादम्वरी पृ० 87।
6. वही, कादम्वरी, पृ० 98।
7. अग्रवाल, कादम्वरी, पृ० 106।

पुरोहित द्वारा मुख्य अवसरों पर राजा के ऊपर पवित्र जल छिड़कने की चर्चा भी इस ग्रंथ में आयी है[1]। कादम्बरी में ब्राह्मणों द्वारा वेद[2] तथा पुराण[3] के अध्ययन की चर्चा है।

पौष्यभूति राजाओं के व्यक्तिगत धर्म

वाण भट्ट के अनुसार पौष्यभूति राजाओं में विना किसी उपदेश द्वारा ही सहज प्राप्त शिवभक्ति थी। सारा संसार ही उनके लिए शिवमय था[4]। किन्तु वांसखेड़ा[5] ताम्रपत्र में राज्यवर्धन प्रथम, आदित्यवर्धन एवं प्रभाकरवर्धन को सूर्योपासक कहा गया है। हर्ष के सोनपत[6] मुद्रा अभिलेख में भी उपर्युक्त तीनों राजाओं को **परमादित्यभक्त** कहा गया है साथ ही हर्ष के अग्रज भ्राता राज्यवर्धन को **परमसांगत** के विरुद्ध से विभूषित किया गया है। अभिलेखों में राज्यवर्धन के लिए उपाधि स्वरूप प्रयुक्त **परमसांगत** विशेषण वौद्ध संज्ञा है।

हर्ष का प्रारम्भिक जीवन और उसका व्यक्तिगत धर्म

हर्ष अपने प्रारम्भिक दिनों में सम्भवतः शिव का भक्त था। उसके कुछ प्रमाण उपलब्ध हैं। वाण से सूचना मिलती है कि हर्ष दिग्विजय के समय नीललोहित (शिव) का उपासक था, क्योंकि दिग्विजय यात्रा के पूर्व उसने नीललोहित की पूजा की तथा ब्राह्मणों को सोने, चांदी एवं वहुमूल्य पत्थरों का दान दिया[7]। हर्ष की स्वर्ण-मुद्राओं पर नन्दी[8] का चित्र अंकित है जो शिव का वाहन कहा जाता है।

हर्ष के धर्म के सम्वन्ध में सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रमाण हर्ष के समय के वांसखेड़ा,[9] मधुवन ताम्रपत्र[10] एवं हर्षचरित[11] हैं, जिसमें हर्ष को **परममाहेश्वर** की

---

1. अग्रवाल, कादम्बरी, पृ० 129।
2 कादम्बरी, कथामुखम् पृ० 12।
3. वही, ,, प० 45।
4 हर्ष च०, तृतीय उच्छ्वास, पृ० 45।
5. ए०इ०, जिल्द 4, पृ० 211।
6. हर्ष चरित चतुर्थ उच्छ्वास, पृ० 4।
1. हर्ष चरित सप्तम उच्छ्वास, पृ० 53।
8. वही, तृतीय उच्छ्वास, पृ० 45।
9. ए०इ०, जिल्द 4, पृ० 211।
10. वही, ,, 1, पृ० 72।
11. हर्ष चरित, तृतीय उच्छ्वास, पृ० 45।

उपाधि दी गई है। हर्ष के स्वर्ण-सिक्कों[1] के पृष्ठ भाग पर शिव और पार्वती एक साथ नन्दी के ऊपर बैठे हुए दिखाए गए हैं जो हर्ष की शैव प्रवृत्ति का द्योतक है।

जहां एक तरफ हर्ष के शैव मतावलम्बी होने सम्बन्धी उदाहरण मिले हैं, वहीं दूसरी तरफ ऐसी भी सूचनायें मिलती हैं कि वह अपने शासन के अन्तिम दिनों में बौद्ध धर्म से अत्यधिक प्रभावित हो गया था। उसका बौद्ध धर्म के प्रति लगाव कोई अप्रत्याशित बात नहीं थी, क्योंकि उसका अग्रज भ्राता राज्यवर्धन[2] सम्भवतः बौद्ध था। बाण के हर्षचरित[3] से ज्ञात होता है कि वह दिवाकर मित्र के प्रभाव में आकर संभवतः बौद्ध-धर्म की ओर झुक गया था। हर्ष के बौद्ध-धर्म से लगाव के सम्बन्ध में उसकी बहन राज्यश्री द्वारा आत्मदाह की घटना भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। हर्षचरित[4] से जानकारी मिलती है कि हर्ष ने राज्यश्री को जलने से रोकते समय वह कहा था कि शत्रुओं को जीतने के बाद वह भी उसके साथ बौद्ध संन्यासी बन जाएगा।

डॉ० त्रिपाठी राज्यश्री के आत्म-दाह की घटना के संदर्भ में हर्ष के बौद्ध-संन्यासी होने की वचनबद्धता को एक विचित्र संयोग मानते हैं और इस आधार पर हर्ष के बौद्ध होने की बात पर सन्देह व्यक्त करते हैं। उनका कहना है कि—'अहिंसा एवं शान्ति के उपदेशों से भरे बौद्ध-धर्म को स्वीकार करने से पूर्व हर्ष—दिग्विजय करना चाहता था, दिग्विजय में होने वाली भयंकर हिंसा बौद्ध-धर्म की मूल-भावना के प्रतिकूल थी[5]।' उनके मत में यह हस्यास्पद है कि एक युद्धालु राजा अपने समस्त हिंसक-कर्म समाप्त करने के पश्चात् अहिंसक होने की इच्छा से बौद्ध-धर्म स्वीकार करे।

हर्ष के बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों के अति निकट होने का दावा हर्षचरित आदि ग्रंथ करते हैं। हर्षचरित के अनुसार हर्ष साक्षात् धर्म का ही अवतार था[6]। वह बौद्ध-विचारधारा से प्रभावित बोधिसत्व की करुणामय मूर्ति था, इसलिए राजाओं के प्रति क्षमा और पशुरक्षा के धर्म को उसके शासन में स्थान था[7]। हर्ष ने गांड

---

1. ज०न्यू०सो०इ०, जिल्द 27, खण्ड 1, पृ० 103 और आगे।
2. फ्लीट, कार्पस, जिल्द 3, पृ० 232।
3. कावेल टॉमस, पृ० 250।
4. वही, पृ० 257।
5. त्रिपाठी, रा०शं०; हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृ० 163-64।
6. हर्ष च०, सप्तम उच्छ्वास, पृ० 286।
7. वाटर्स, जिल्द 1, पृ० 344।

राज के समान दुष्ट राजाओं को भी क्षमा कर दिया, क्षमा बौद्ध-धर्म का भूषण है और यही क्षमा-धर्म पृथ्वी का है[1]।

अन्य समसामयिक राजाओं के निजी धर्म

पौष्यभूति वंश के राजाओं के अतिरिक्त तत्कालीन भारतीय राजाओं में मुख्य केवल दो ही प्रतीत होते हैं। एक तो था हर्ष का राजनीतिक एवं सैनिक प्रतिद्वन्द्वी गौडराज शशांक और दूसरा था कामरूप का भास्करवर्मा। इन दोनों के व्यक्तिगत धर्म और धार्मिक नीति के बारे में बहुत कम जानकारी प्राप्त होती है। तथापि बाणभट्ट के हर्षचरित से इतना ज्ञात होता है कि भास्करवर्मा शैव-मतावलम्बी था। प्रमाण के लिए हर्ष की दिग्विजय-यात्रा के प्रारम्भ में जब भास्करवर्मा का दूत हंसवेग हर्ष से मिला तो बाणभट्ट हर्ष के मुख से कहलाता है—'इस राजकुमार (भास्करवर्मा) का बचपन से ही दृढ़ निश्चय रहा है कि वह शिव के चरण-कमलों को छोड़कर और किसी के सामने सिर नहीं झुकायेगा[2]।' इससे बड़ा स्पष्ट है कि बाणभट्ट भास्करवर्मा को शिव के पूजक के रूप में ही जानता था। शशांक के बारे में भी यह ज्ञात है कि वह शैव था[3]। सिंध के शूद्र जातीय राजा को श्वान्-च्वांग बौद्ध बतलाता है। उत्तरी भारतवर्ष के अनेक छोटे-छोटे राजाओं की भी चर्चा श्वान्-च्वांग करता है, किन्तु उनके धर्म के बारे में विशेष जानकारी नहीं देता है। यशोवर्मा संभवतः शैव अथवा शाक्त सम्प्रदाय का था। कालप्रियनाथ को यशोवर्मा का पारिवारिक देव कहा गया है। मगध रण-यात्रा के समय हम इसे विन्ध्यवासिनी देवी की पूजा करते हुए पाते हैं[4]।

हर्ष और समकालिक अन्यान्य राजाओं की धार्मिक नीति

पीछे हर्ष और उसके पूर्वजों के धर्म के विषय में जो कुछ लिखा जा चुका है तथा बाणभट्ट के ग्रंथों के आधार पर देश के विभिन्न धर्मों और व्यापक सम्प्रदायों का जो उल्लेख किया जा चुका है उससे यह बात बहुत स्पष्ट रूप में सामने आती है कि उत्तर भारतवर्ष एक बहु-धर्मी और बहु-सम्प्रदायवादी देश था। पुष्यभूति के वंशज प्रायः सूर्य और शिव के पूजक थे। इनके अतिरिक्त राज्यवर्धन के बारे में बड़े स्पष्ट रूप से बाणभट्ट कहता है कि वह अपने पिता की मृत्यु और माता

---

1. हर्ष च०, प्रथम उच्छ्वास, पृ० 138-39।
2. वही, सप्तम उच्छ्वास, पृ० 214;
   कावेल और टॉमस, पृ० 211।
3. मजूमदार, र०चं०, पूर्व निर्दिष्ट, जिल्द 1, पृ० 67।
4. त्रिपाठी, रा०शं०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 209।

के सती हो जाने के बाद राजपाट के फेर में न पड़कर बुद्ध के धर्म का अनुयायी हो जाना चाहता था[1]। बाणभट्ट के इस उल्लेख का प्रबल समर्थन हर्ष के बांस-खेड़ा और मधुवन अभिलेखों से भी होता है, जहां राज्यवर्धन को 'परमसांगत' का विशेषण दिया गया है। हर्ष निश्चित रूप से जीवन पर्यन्त शैव बना रहा, जो उससे सम्बद्ध कई स्थलों से प्रमाणित होता है। अपनी दिग्विजय-यात्रा के प्रारम्भ में भास्करवर्मा के राजदूत हंसवेग से उसके स्वामी की शैव-धर्म में मति और शिव के प्रति उसकी भक्ति का जो प्रशंसात्मक उल्लेख[2] वह करता है उससे बड़े स्पष्ट रूप में प्रकाशित होता है कि वह स्वयं भी शैव-धर्मानुयायी था। दिग्विजय के प्रारम्भ में उसने नीललोहित की पूजा की[3]। अपने शासन के बाइसवें और पचीसवें वर्ष के बांसखेड़ा[4] और मधुवन शिलालेखों[5] में अपने को **परममाहेश्वर** कहता है। अपने शासन के सम्भवतः चौथे दशक में श्वान्-च्वांग से उसकी भेंट हुई थी। श्वान्-च्वांग प्रयाग की 'महामोक्ष परिषद्' में हर्ष के द्वारा जिन देवी-देवताओं के पूजित होने का उल्लेख करता है उसमें बुद्ध के अतिरिक्त शिव और सूर्य का बड़ा प्रमुख स्थान है[6]।

कुछ विद्वानों[7] ने श्वान्-च्वांग के प्रभाव के कारण हर्ष को बौद्ध हो जाना स्वीकार किया है। यह सत्य है कि श्वान्-च्वांग के अनुसार[8]। कन्नौज की धर्म-सभा के प्रारम्भ में उसने सबसे पहले बुद्ध की पूजा की तथा इन्द्र और ब्रह्मा जैसे हिन्दू-देवताओं को बुद्ध की सेवा में लगाया, पुनः उसने श्वान्-च्वांग के विरोधी हीनयानी बौद्धों को उस चीनी यात्री के विरुद्ध उपद्रव करने पर और प्रताड़ना की धमकी दी तथा अन्त में ब्राह्मणों ने जब उसके और चीनी

---

1 हर्ष च०, निर्णयसागर प्रेस, पृ० 180।
2. हर्ष च०, सप्तम उच्छ्वास, पृ० 214।
 कावेल और टॉमस, पृ० 211।
3. हर्ष च०, सप्तम उच्छ्वास, पृ० 53।
4. ए०इ०, जिल्द 4, पृ० 211।
5. वही, जिल्द 1, पृ० 72।
6. जीवनी, पृ० 183-87।
7. मुकर्जी, रा०कु०, हर्ष, पृ० 146; त्रिपाठी रा०शं०, पूर्व निर्दिष्ट पृ० 164; स्मिथ वी०, अर्ली हि०इं०, पृ० 361; कावेल और टॉमस, प्रस्तावना, पृ० 13; चटर्जी गौ० शं० हर्षवर्धन, पृ० 254।
 उपर्युक्त सभी विद्वानों ने हर्ष को बौद्ध-यात्री के वर्णन के आधार पर पक्षपाती कहा है।
8. बील, जिल्द 1, पृ० 221।

यात्री के विरुद्ध षड्‌यंत्र कर उनको मार डालने की योजना से सभा-भवन में ही आग लगा दी तो उसने चुने हुए ब्राह्मण-नेताओं को प्राण-दण्ड ही नहीं दिया बल्कि 500 (पांच सौ) अद्वितीय मेधा वाले ब्राह्मणों को देश-निकाला का दण्ड भी दे दिया।[1] । किन्तु इन सबसे कहीं भी यह स्पष्टतः साबित नहीं होता कि वह शैव-धर्म को छोड़कर पूर्णतः बौद्ध हो चुका था। यों उसके बौद्ध हो जाने की परि-स्थितियां उस समय वर्तमान थीं। बौद्ध-धर्म का सबसे बड़ा सिद्धान्त दुःख वाद का है और यह स्वाभाविक है कि कोई भी अत्यधिक दुःख का अनुभव करने वाला व्यक्ति इसकी ओर झुक जाए। राज्यवर्धन ने हूणों को परास्त कर लौटने के बाद जब बौद्ध हो जाने की बात की थी[2] तो उस समय उसके माता-पिता का देहान्त हो चुका था और उनके मृत्यु के समय उन दोनों में किसी का भी वह दर्शन नहीं कर पाया था। इसी प्रकार राज्यश्री ने भी दिवाकर मित्र के आश्रम में सती हो जाने से विमुख किए जाने पर गेरुवा वस्त्र धारण कर बौद्ध-भिक्षुणी हो जाने का प्रस्ताव किया था। उस समय वह दुखों के मानो एक समुद्र से ही निकली थी। उसे एक के बाद एक करके कन्नौज पर मालवराज देवगुप्त के आक्रमण और अपने पति ग्रहवर्मा की हत्या, उस शत्रु के द्वारा अपना जेल में डाला जाना, गौडनृपति शशांक के द्वारा कन्नौज पर दूसरी ओर से चढ़ाई, कन्नौज के कारागार से मुक्त किये जाने के बाद विन्ध्याचल के जंगलों में इधर-उधर भटकना और एक राजकुल में पैदा होकर दूसरे राजकुल में व्याहे जाने के बाद बार-बार दुःखों का शिकार बनाना आदि अनेक दुःखों का मानो एक झंझावात ही सहना पड़ा था। इन दुखों से मुक्त हो जाने के लिए बौद्ध-बन जाने की उसकी इच्छा स्वाभाविक थी। हर्ष ने उसे सान्त्वना देते हुए रोका था और उसके प्रस्ताव को मानो टालते हुए कहा था कि भविष्य में कभी वे दोनों ही बौद्ध हो जायेंगे[3]। हर्ष को यदि बौद्ध होना ही होता तो यह सबसे उपयुक्त अवसर था। वास्तविकता तो यह थी कि हर्ष एक पूर्णतः सांसारिक और राजकीय व्यक्ति था, जो अपने कर्त्तव्यों से विमुख नहीं होना चाहता था। आगे चलकर हम देखेंगे कि श्वान्-च्वांग के संदर्भ में बुद्ध और बौद्ध-धर्म के प्रति उसका जितना भी झुकाव था वह सब कुछ उसके बौद्ध-धर्म में परिवर्तित हो जाने के कारण नहीं था, अपितु उसकी धार्मिक-नीति की उदारता के कारण था।

हर्ष की धार्मिक-नीति किसी एक सम्प्रदाय की ओर उन्मुख न होकर सभी सम्प्रदायों के प्रति समान व्यवहार की थी। पीछे उसके समय की धार्मिक और

---

1. बील, जिल्द 1, पृ० 221; जिल्द 2, पृ० 143-44।
2. हर्ष च०, निर्णयसागर प्रेस, पृ० 180।
3. कावेल और टॉमस, पृ० 257 और आगे।

सामाजिक अवस्था के चित्रण के साथ हम देख चुके हैं कि उसके साम्राज्य के भीतर हिन्दू-धर्म के वैष्णव, शैव और शाक्त पंथ के विभिन्न सम्प्रदाय तो प्रचलित थे ही, हिन्दू धर्म के अन्य देवी-देवताओं की भी काफी मान्यताएं थी। स्वयं श्वान्-च्वांग के विवरणों से स्पष्ट है कि बौद्ध-धर्म के दोनों ही सम्प्रदाय अर्थात् हीनयान और महायान अपने अनेक मठों और विहारों के माध्यम से जीवित थे। यही नहीं निर्ग्रन्थों अर्थात् जैनियों की भी एक भारी संख्या थी। ऐसी स्थिति में हर्षवर्धन अपनी धार्मिक नीति में उदार होने के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता था।

किन्तु श्वान्-च्वांग के विवरणों के आधार पर यह कहा जाता है कि हर्ष बौद्ध-धर्म विशेषतः उसके महायान सम्प्रदाय के प्रति पक्षपाती हो गया था[1]। इसके पक्ष में दो-चार उदाहरण दिये जाते हैं। प्रथमतः तो जब उसने सुना कि श्वान्-च्वांग कामरूप नरेश भास्करवर्मा के राज-दरबार में निवास कर रहा है तो उसने अपने मित्र को भयभीत करके श्वान्-च्वांग को अपने कजंगल वाले राज-दरबार में भेजने को विवश कर दिया[2]। द्वितीयतः श्वान्-च्वांग से बौद्ध-धर्म सम्बन्धी उपदेश सुनने के उद्देश्य मात्र से ही उसने कन्नौज में एक सभा बुलाई, बुद्ध भगवान् की विशेष पूजा की, हिन्दू देवी-देवताओं को उनका अनुचर दिखाया, हीनयानियों एवं ब्राह्मणों को दण्ड देने का भय दिखाकर अपना पक्ष प्रस्तुत करने का अवसर तक नहीं दिया और अन्ततः लगभग 500 ब्राह्मणों को देश-निकाले का दण्ड देते हुए अनेक ब्राह्मणों को प्राण दण्ड भी दिया।

किन्तु श्वान्-च्वांग के ये सारे विवरण[3] विश्वास योग्य हैं या नहीं, यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता। यह असम्भव नहीं है कि बौद्ध-धर्म के प्रति हर्ष के झुकाव को दिखाकर वह स्वयं अपने धर्म की महत्ता को प्रदर्शित करना चाहता था! उसके इस उल्लेख पर संदेह किया जा सकता है कि सचमुच हीनयानियों अथवा ब्राह्मणों ने हर्ष को महायान के प्रति पक्षपात के कारण मार डालने की कोई साजिश की थी। इस सन्देह का सबसे बड़ा आधार यह है कि श्वान्-च्वांग का जीवनी वृत्त लेखक और उसका निजी मित्र हुइ-ली इस बात की कोई चर्चा नहीं करता कि ब्राह्मणों अथवा हीनयानियों ने कन्नौज के धर्म-सभा वाले पण्डाल में या तो आग लगा दी अथवा हर्ष को मार डालने की साजिश[4] की।

1. त्रिपाठी रा०शं०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 164।
2. बील जिल्द 2, पृ० 193 (प्रथम संस्करण);
   टॉमस, जिल्द 1, पृ० 348-49।
3. बील, जिल्द 2, पृ० 143-44। (सुशील गुप्त प्रकाशन)।
4. डा० पाठक, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 67-68 की पाद टिप्पणी देखिये।

श्वान्-च्वांग के विवरणों पर सन्देह करने का एक दूसरा कारण भी हो सकता है और वह यह कि श्वान्-च्वांग बौद्ध-धर्म की महिमा को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर दिखाना चाहता था। महायानी बौद्ध-धर्म बुद्ध में अलौकिक शक्ति होने का विश्वास करता है और यह भी विश्वास करता है कि बुद्ध की प्रार्थना से आश्चर्यजनक घटनायें भी घट सकतीं हैं। इस प्रकार की कई आश्चर्यजनक घटनाओं का अपने यात्रा-वृत्त में उल्लेख करता है। ऐसी ही एक घटना वह थी, जिसमें डाकुओं ने उसे पकड़ लिया और देवी की बलि चढ़ाने के लिए नदी मार्ग से उसे पार ले जाने लगे। उसी समय एक बहुत बड़ी आंधी आ गई जिसमें नाव के उलट कर डूब जाने का ही खतरा पैदा हो गया किन्तु श्वान्-च्वांग द्वारा बुद्ध की पूजा के कारण वह खतरा टल गया और डाकुओं ने उसकी यह अलौकिक शक्ति देखकर उसे छोड़ दिया[1]। इस प्रकार का दूसरा उदाहरण कन्नौज की धर्म-सभा के मुख्य कक्ष में आग लगा दिये जाने पर बुद्ध की प्रार्थना के कारण उसका भी शान्त हो जाना था[2]। इसी तरह का तीसरा उदाहरण मुख्य अवसरों पर संघाराम से बाहर बुद्ध के दांत प्रदर्शन का था, जिसके बारे में वह कहता है कि दांत के ऊपर कितनी भी फूल-मालायें चढ़ाई जातीं थीं परन्तु दांत ढंकता नहीं था[3]। बड़ा स्पष्ट है कि महायानी बौद्ध-धर्म का आश्चर्यों में जो विश्वास है उस विश्वास का श्वान्-च्वांग कायल था। वह हर्ष को भी उस आश्चर्य से प्रभावित मानता था और उसके वशीभूत होकर उसके बौद्ध-धर्म के प्रति उन्मुख हो जाने का विवरण देता है। उसके सन्दर्भ से यह भी परिलक्षित होता है कि हर्ष इस महायानी बौद्ध-धर्म के प्रभाव में आकर ब्राह्मण अथवा जैन-धर्मावलम्बियों का तिरस्कार करने लगा। वस्तुतः वास्तविकता इसके विपरीत जान पड़ती है। हर्ष की सभी धर्मों में समत्व की दृष्टि इस बात से स्पष्ट हो जाती है कि प्रयाग के महामोक्ष-परिषद् में उसने केवल बुद्ध ही नहीं बल्कि प्रायः सभी हिन्दू देवी-देवताओं की भी पूजा की[4]। और सभी धर्मों एवं सम्प्रदायों के लोगों को दान दिया।

यदि श्वान्-च्वांग के विवरणों को अतिरंजित न भी माना जाय तो भी हर्ष का बौद्ध-धर्म के प्रति पक्षपाती होना सिद्ध नहीं होता। श्वान्-च्वांग के प्रति उसने कन्नौज की धर्म-सभा में जो आदर दिखाया उसका एकमात्र कारण यह

---

1. जीवनी, पृ० 89-90 (हिस्ट्री आफ कन्नौज में उद्धृत पृ०); त्रिपाठी, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 146।
2. बील, जिल्द 1, पृ० 219।
3. वही, जिल्द 1, पृ० 222; वाटर्स, जिल्द 1, पृ० 352।
4. जीवनी, पृ० 183-187।

था कि वह सच्चे विद्वान् और चरित्रवान् व्यक्तियों का सम्मान करता था। श्वान्-च्वांग स्वयं कहता है[1] कि—हर्ष प्रत्येक पांचवें वर्ष मोक्ष (परिषद्) नामक एक विराट् सम्मेलन आयोजित करता था, जहां वह अपना सारा राजकोष दान में खाली कर देता था केवल सैनिकों के वस्त्र बच जाते, जो दान के उपयुक्त थे ही नहीं। सारे देश के श्रमणों और ब्राह्मणों को वह प्रत्येक वर्ष आमंत्रित करता तथा तीसरे और सातवें दिन उन्हें भोजन, पेय औषधि और वस्त्र के चतुर्विध दान देता था। वह स्वयं धर्मासन पर बैठता और व्याख्याता का काम करता था। वह पण्डितों को शास्त्रार्थ करने की आज्ञा देता एवं स्वयं उनके तर्कों के प्राबल्य अथवा दौर्बल्य का निर्णय करता था। भलों को वह पुरस्कृत करता एवं दुष्टों को दण्ड देता था। वह नीचता को गर्हित करता और मेधावी पुरुषों को प्रश्रय देता था। नैतिक सिद्धान्तों पर चलने वाला यदि कोई दिखाई देता और साथ ही उच्च बुद्धिविद्या से भी युक्त होता तो वह उसे स्वयं 'सिंहासन' तक ले जाता और उससे धर्म सिद्धान्तों की शिक्षा लेता था। किन्तु यदि कोई जीवन में पवित्र होते हुए भी विद्या-वैशिष्य से युक्त नहीं होता तो उसका वह आदर तो करता किन्तु विशेष सम्मान न करता था। नैतिक आचरण छोड़ कर औचित्य विचार त्याग देने की यदि किसी की बदनामी हो जाती तो उसे वह देश से निकाल देता एवं न तो उसे देखता न उससे बात करता था।' बड़ा स्पष्ट है हर्ष बौद्ध-धर्म का भक्त नहीं था, अपितु श्वान्-च्वांग का भक्त था और उसने जो कुछ किया केवल श्वान्-च्वांग के सम्मान और उसकी मर्यादा रक्षा के लिए किया। उसे हर्ष का बौद्ध-धर्म के प्रति पक्षपात अथवा ब्राह्मण-धर्म-विरोध नहीं कहना चाहिए।

हर्ष की धार्मिक सहिष्णुता अथवा उदारता तथा विद्या एवं विद्वानों के प्रति आदर के अन्यान्य प्रमाण हैं। स्वयं श्वान्-च्वांग कहता है कि जब हर्षवर्धन उड़ीसा के प्रदेशों में अपनी विजय-यात्राओं अथवा शासन-यात्राओं में घूम रहा था तो उसकी जयसेन नामक एक हीनयानी बौद्ध-भिक्षु से भेंट हुई। उसकी विद्या और चरित्र से वह इतना प्रभावित हुआ कि उसे उसने 80 गांवों का दान देने का प्रस्ताव किया[2]। इसी प्रकार उसने नालंदा बौद्ध विहार को भी 100 गांवों का दान दिया था[3]। यद्यपि यह विश्वविद्यालय बौद्ध-विद्या का केन्द्र था, उसके पाठ्य विषयों में हिन्दू वैदिक-धर्म और दर्शन तथा तर्कशास्त्र के अनेक विषय

---

1. बील, जिल्द 2 (मुशील गुप्त प्रकाशन), पृ० 239 का अनुवाद डा० वि० पाठक द्वारा उद्धृत, पूर्व निर्दिष्ट पृ० 68-69।
2. जीवनी, पृ० 154; डॉ० पाठक पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 65।
3. बील प्रथम संस्करण, जिल्द 2, पृ० 180; जीवनी पृ०118 आगे।

सम्मिलित थे[1]। वहां हर्ष ने जो एक बहुत भवन बड़ावनवाया और उसकी दीवारों को पीतलों की चादरों से मढ़ा, वह भी विद्या के प्रति उसके शुद्ध आदर मात्र का द्योतक है। नालंदा के प्रति हर्ष का आदर एवं उसकी दान सम्बन्धी उदारता सचमुच उसकी सभी विद्याओं और विद्या-संस्थाओं के प्रति समान दृष्टि का परिचायक है। उसकी राजसभा में बाणभट्ट और मयूरभट्ट जैसे प्रसिद्ध कवि रहते थे। बाणभट्ट अपने ग्रंथों में बार-बार शिव का उल्लेख करता है और मयूरभट्ट ने 'सूर्यशतक' नामक सूर्य की पूजा में एक बड़ी भारी कविता लिख डाली। किन्तु शिवोपासक एवं सूर्योपासक इन दो कवियों पर से हर्ष की कृपा कभी नहीं उठी। ई-चिंग कहता है[2] कि हर्ष ने जीमूतवाहन की कथा को लिपिबद्ध किया और उसे नाटक का रूप देकर अपने दरबार में उसका अभिनय कराया। प्रत्यक्ष रूप से यह उसकी रचना नागानन्द के प्रति उद्दिष्ट है। असम्भव नहीं है कि वह नाग-पूजा में भी अभिरुचि रखता था। ये बातें उसके सहिष्णुजीवन, उदार धार्मिक-चरित, सभी धर्मों एवं सम्प्रदायों के विद्वानों और विद्या केन्द्रों के प्रति समानत्व की भावना तथा अपने व्यक्तिगत शैवधर्म में अटूट विश्वास होते हुए भी किसी प्रकार की धार्मिक कट्टरता के न होने का परिचायक है। बड़ा स्पष्ट है उसने हिन्दू-धर्म के वर्णाश्रम की ही रक्षा नहीं की अपितु सभी धर्मों एवं सम्प्रदायों की रक्षा की तथा उन्हें उत्साहित किया। भारतीय राजत्व के सिद्धान्त का यह सच्चा स्वरूप था, जिसका हर्षवर्धन ने पूर्णतः पालन किया।

शशांक की धार्मिक नीति का राजनीतिक आधार :

चीनी यात्री श्वान्-च्वांग के यात्रा-वृत्त[3] और दसवीं शताब्दी के बौद्ध ग्रंथ आर्यमंजुश्रीमूलकल्प[4] के अनुसार शशांक बौद्ध-धर्म का विरोधी था। परन्तु कुछ विद्वानों[5] ने शशांक को बौद्ध-विरोधी नहीं माना है। उनके अनुसार शशांक का बौद्ध-विरोधी कार्य राजनीतिक दृष्टि से प्रभावित था। ऐसा प्रतीत होता है कि हर्ष अथवा भास्करवर्मा की तुलना में श्वान्-च्वांग अथवा अन्य बौद्ध लेखकों ने शशांक को बौद्ध-धर्म केप्रति भरपूर रूपसे उदार नहीं देखा। यही नहीं हर्ष से उसकी शत्रुता

---

1. पाठक, वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 72।
2. इ० ए० जिल्द 2, पृ० 127-128।
3. वाटर्स, जिल्द 2, पृ० 43 और पृ० 92, पृ० 114।
4. मं०मू०क०, पटल 53, पृ० 634।
5. चन्द रा०प्र०, आर्कोलाजी एण्ड वैष्णव ट्रेडीशन, पृ० 13, कलकत्ता 1920; बनर्जी रा० दा०, बांग्लार इतिहास, जिल्द 1, पृ० 110-11, कलकत्ता।

भी थी। फलतः हर्ष के प्रति अपनी श्लाघादृष्टि के कारण इन बौद्ध लेखकों ने शशांक को बौद्ध-धर्म का विरोधी साबित करने का यत्न किया। वे उसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं देते। अतः शशांक के सन्दर्भ में उसकी बौद्ध-धर्मविरोधी बातों की विश्वसनीयता के बारे में उपर्युक्त विवरणों की सत्यता पर सन्देह नहीं किया जा सकता है।

मजूमदार महोदय ने कहा है कि[1]—ह्वेनसांग के वर्णन के अनुसार शशांक को बौद्ध विरोधी नहीं माना जा सकता, क्योंकि बौद्ध लेखकों के प्रमाण अत्यन्त निम्नस्तर के हैं जिन्हें किसी भी प्रकार से पक्षपातरहित नही कहा जा सकता चाहे वे शशांक से सम्बन्धित हों या बौद्ध-धर्म से। इस सम्बन्ध में श्वान्-च्वांग के शशांक के धर्म सम्बन्धी कथनों के पीछे की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी देखना अत्यन्त आवश्यक है। उसका गौड क्षेत्र वाला राज्य पश्चिम में हर्ष के कन्नौज साम्राज्य और पूरब में कामरूप के भास्करवर्मा के बीच में पड़ता था। प्राचीन भारतीय अंतरराज्यीय नीति के अनुसार हरएक पड़ोसी राज्य शत्रु राज्य होता था। अतः हर्ष और भास्करवर्मा के दोनों राज्य शशांक के शत्रु राज्य हुए। ये दोनों ही श्वान्-च्वांग के प्रति आकृष्ट थे। फलतः वे बौद्ध-धर्म के प्रति उदार हो गए थे। असम्भव नहीं है कि उनके प्रति शत्रुत्व के भाव के कारण गौड में शशांक ने बौद्ध-धर्म का विरोध शुरू कर दिया हो। श्वान्-च्वांग अनेक शैव राजाओं को बौद्ध-धर्म विरोधी कहता है। इनमें एक प्रसिद्ध उदाहरण पंजाब के हूण राजा मिहिरकुल का है, जिसके बारे में वह चीनी यात्री कट्टर बौद्ध विरोधी होने का लांछन लगाता है।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि मिहिरकुल अथवा शशांक के बौद्ध-धर्म विरोधी होने का आधार राजनीतिक था। चूंकि उनके शत्रु, ऊपर से ही सही, बौद्धों के पक्ष में थे, वे स्वाभाविक रूप से बौद्ध-धर्म के प्रति कम रुचि लेने लगे जिसे चीन से आने वाले उस यात्री ने बौद्ध-धर्म का कट्टर विरोध मान लिया। अतः शशांक सम्बन्धी यह चित्रण ग्राह्य नहीं प्रतीत होता कि वह बौद्ध-धर्म विरोधी था।

———

1. मजूमदार र०च०, हिस्ट्री आफ बंगाल, जिल्द 1, पृ० 67।
2. स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० 337, आक्सफोर्ड, 1962; वाटर्स, जिल्द 1, पृ० 288-89।

अध्याय—3

प्रतीहार एवं गाहडवाल राजाओं की धार्मिक नीति

ज्ञान स्रोत

गुर्जर-प्रतीहारों का भारतीय इतिहास में नवीं शती से लेकर दसवीं शती के मध्य तक विशेष महत्त्व है। अरब इतिहासकारों के वर्णनों के आधार पर तो ऐसा लगता है कि इस वंश का प्रादुर्भाव ही राष्ट्र को विदेशी संकट से बचाने के लिए ही हुआ था। लगभग 150 वर्षों तक संघर्षरत रहते हुए प्रतीहारों ने प्रभुत्व प्राप्त किया। प्रतीहारों ने अपने इतिहास में बहुत ही उतार-चढ़ाव देखे। प्रारम्भ से अन्त तक अरबों के प्रति शत्रुता, पालों और राष्ट्रकूटों से गहरी प्रतिद्वन्द्विता के होते हुए भी वे एक महान् साम्राज्य स्थापित कर लेने में सफल हो गये। महान् भोज की ग्वालियर प्रशस्ति[1] में बताया गया है कि गुर्जर प्रतीहार ऐसे क्षत्रिय वीर थे जो म्लेच्छ (अरब) आक्रान्ताओं की आंधी से देश की स्वतन्त्रता एवं संस्कृति की रक्षा करने में प्रथमनागभट्ट, द्वितीयनागभट्ट और मिहिरभोज भगवान नारायण विष्णु पुरुषोत्तम और आदिवाराह की तरह मानों अवतारी पुरुष हुए। भोज के समय में प्रतीहार साम्राज्य उत्तरी भारत की सार्वभोम शक्ति बन गया तथा कन्नौज भारतीय सभ्यता और संस्कृति का केन्द्र बन कर विद्वानों

---

1. ए०इ०, जिल्द 18, पृ० 96; दशरथ शर्मा, इहिक्वा, 1958।

एवं कलाकारों के मन को आकृष्ट करने लगा[1]। प्रतीहार साम्राज्य की छत्र-छाया में ही पल्लवित मथुरा नगर अपने विशालकाय मंदिरों एवं कारीगरी तथा सम्पन्नता के कारण ही महमूद गजनी जैसे कट्टर मुसलमान को भी आकृष्ट कर लिया। इस वंश के शासकों के शासन और धार्मिक नीति का ज्ञान, उनके समय के साहित्यिक ग्रन्थों एवं अभिलेखों तथा अरब इतिहासकारों[2] के वर्णनों से होता है।

स्कन्दपुराण[3] प्रतीहार युग का प्रशस्त प्रमाण है, जिसमें प्रतीहारों के राजनीतिक जीवन के अतिरिक्त धार्मिक जीवन का भी वर्णन मिलता है। कुछ जैन लेखकों के ग्रन्थों से भी प्रतीहार शासकों के धर्म से सम्वन्धित वातें मालूम होती हैं जिसमें चन्द्रप्रभसूरि रचित **प्रभावकचरित** तथा राजशेखर सूरि द्वारा लिखे गये **प्रवन्धकोश** में **वप्पभट्टिसूरि** प्रवन्ध की गणना की जा सकती है[4]। परन्तु जैन ग्रन्थ घटनाओं के कई सौ वर्षो वाद लिखे गये। अतः उनके वर्णनों पर पूर्णतया विश्वास नहीं किया जा सकता। जैन ग्रन्थों के विवरणों पर विद्वानों ने संदेह जाहिर किया है[5]। अन्य साहित्यिक ग्रन्थों में राजशेखर की काव्य **मीमांसा**[6], **कर्पूरमंजरी**[7], **विद्धसालमंजिका**[8], **वालभारत**[9] और **वालरामायण** की गणना की जा सकती है जिनसे प्रतीहारकालीन धार्मिक स्थिति का ज्ञान होता है।

प्रतीहार शासकों के धर्म सम्वन्धी सवसे प्रामाणिक एवं विश्वसनीय साक्ष्य उनके अभिलेख हैं जिनमें तत्कालीन समाज और धर्म का सही ज्ञान होता है। इनमें राजाओं के व्यक्तिगत धर्मो की चर्चाएं हैं जिनके परिप्रेक्ष्य में ही उनकी धार्मिक नीति निश्चित की जा सकती है।

प्रतीहार राजाओं के समय की साधारण धार्मिक और सामाजिक अवस्था

हिन्दू धर्म

अभिलेखों तथा साहित्यिक ग्रंथों से तत्कालीन हिन्दू धर्म और उसके विभिन्न

---

1. ए०इ०, जिल्द 18, पृ० 102-107।
2. इलियट और डाउसन, जिल्द 1, पृ० 4 तथा 23-24।
3. स्कन्दपुराण, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, संवत् 1966।
4. प्रवन्धकोश, विश्वभारती, वि० सं० 1991, जिनविजय संपादित।
5. अवस्थी, अवधविहारी, राजपूत राजवंश, पृ० 144-45।
6. काव्यमीमांसा, अनुवादक डा० गंगासहाय राय, वाराणसी, 1964, चौ०वि०।
7. कर्पूरमंजरी अनुवादक श्री रामकुमार आचार्य, वाराणसी, 1960 चौ०वि०।
8. विद्धसालमंजिका, अनुवादक, पं० रमाकान्त त्रिपाठी, वाराणसी, 1965, चौ०वि०
9. प्रचण्ड पाण्डव, अनुवादक, डा० हरिदत्त शास्त्री, वाराणसी, 1969, चौ०वि०

सम्प्रदायों तथा देवी-देवताओं के बारे में जानकारी होती है। भोज के ग्वालियर अभिलेख[1] (9 वीं सदी) से यह सूचना मिलती है कि द्वितीय नागभट्ट के इस पौत्र ने अपनी धार्मिक ख्याति के लिये विष्णु के मंदिर का निर्माण कराया। अभिलेख का प्रारम्भ भी 'ओं नमो विष्णवे' मंत्र से हुआ है। अभिलेखों में जो धार्मिक चर्चाएं हैं उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि गुर्जर प्रतीहारों के समय में वैष्णव धर्म विशेष लोकप्रिय था। विष्णु के विभिन्न नामों के अन्तर्गत पूजे जाने की चर्चाएं अभिलेखों में मिलती हैं जिनमें यज्ञवाराह,[2] गरुडासनदेव[3], नरकद्विसह[4], माधव[5], त्रैलोक्यमोहन[6], मुरारि[7], त्रिभुवनस्वामी[8], नारायन भट्टारक[9], विष्णु-भट्टारक, वामनस्वामीदेव, चक्रस्वामीदेव, वैल्लभट्टस्वामीदेव अथवा मैल्ला-स्वामीदेव आदि प्रमुख थे।

भोजदेव के पेहेवा अभिलेख[10] (882 ई०) में भूवक ब्राह्मण द्वारा विष्णु (यज्ञवाराह) के मंदिर निर्माण कराने का उल्लेख है। उस समय के मंदिरों में जो वैष्णव धर्म की चर्चा है उससे प्रकट होता है कि उत्तरी भारत में इसकी जड़ जम चुकी थी। प्रतीहार वाउक की जोधपुर[11] प्रशस्ति (9 वीं सदी) में राजा द्वारा अपने अन्तःपुर में विष्णु के मंदिर बनवाने का उल्लेख है। इसमें यह भी कहा गया है कि प्रतीहार विष्णु की सगुण एवं निर्गुण दोनों रूपों में पूजा करते थे। विष्णु के प्रसिद्ध मंदिरों में विष्णु भट्टारक का मंदिर है जिसका उल्लेख सियडोकी अभिलेख[12] (903 ई०) में किया गया है और जो परमभट्टारक महाराजाधिराज प्रथम महेन्द्रपाल देव के समय का है। इसके अतिरिक्त विष्णु के अनेक मंदिरों का निर्माण प्रतीहार शासकों के समय में हुआ था। विष्णु का

---

1. ए०इ०, जिल्द 1. पृ० 156 और आगे।
2. वही, जिल्द 1, पृ० 186।
3. वही।
4. वही जिल्द 13, पृ० 107 और आगे।
5. वही, जिल्द 1, पृ० 244 और आगे।
6. इ०ए०, जिल्द 45, पृ० 122; ए०इ०, जिल्द 14, पृ० 182।
7. ए०इ०, जिल्द, 1, पृ० 177।
8. वही।
9. वही, जिल्द 1, पृ० 177, (भण्डारकर लिस्ट; जिल्द 1, पृ० 173 कील हार्न; ज०ए०सो० बंगाल, जिल्द 31, पृ० 6 और आगे।
10. ए०इ०, जिल्द 1, पृ० 186 और आगे।
11. वही, जिल्द 18, पृ० 87; ज०रा०ए०सो०, 1894 पृ० 1 और आगे
12. वही, जिल्द 1, पृ० 173।

एक मंदिर चंडुक नामक व्यापारी ने बनवाया था जिसकी अत्यधिक लोकप्रियता थी। उस समय के बने नारायण भट्टारक और त्रिभुवनस्वामीदेव के मंदिरों को किसने बनवाया, इसकी जानकारी नहीं मिलती अपितु यह ज्ञात है कि विष्णु के मंदिर में चक्रस्वामीदेव की प्रतिमा की स्थापना पुरन्दर के पुत्र देदाद तथा मैल्ला स्वामीदेव की स्थापना विक्रम नामक व्यापारी द्वारा की गई थी[1]।

वैष्णव धर्म सर्वसाधारण का धर्म बन गया था। राजाओं के अतिरिक्त व्यापारी लोग विशेष रूप से इस धर्म को प्रोत्साहन एवं सहयोग प्रदान कर रहे थे। पेहेवा अभिलेख[2] (882 ई०) से व्यापारियों द्वारा आपस में मिल कर एक धर्मार्थ संगठन बनाने तथा विष्णु पूजा के निमित्त अपने ऊपर एक प्रकार का 'कर' लगाने की सूचना मिलती है। राजशेखर के ग्रंथ काव्यमीमांसा[3] में भगवान् विष्णु के अनेक अवतारों का उल्लेख किया गया है। कर्पूरमंजरी[4] मे भी भगवान् विष्णु की महिमा का वर्णन करते हुए मोक्ष के साधनों की तरफ निर्देश किया गया है।

विष्णु के मंदिरों की अधिकता तथा प्रतिमाओं के उपलब्ध होने से ऐसा मालूम होता है कि गया (बिहार) से पेहेवा (पंजाब) तथा कन्नौज से काठियावाड़ के बीच ग्वालियर, दासपुर, सिमगैनी, अहर (बुलन्द शहर) और प्रतापगढ़ (राजपूताना) में वैष्णव संस्कृति अथवा धर्म विशेष लोकप्रिय था।

प्रतीहार अभिलेखों से विष्णु सम्प्रदाय के अतिरिक्त शैव सम्प्रदाय के भी लोकप्रिय अथवा प्रचलित होने के भी उदाहरण मिलते हैं। विष्णु भक्तों की तरह शिव के भक्तों द्वारा भी धार्मिक भावना के प्रतीकस्वरूप दान व भेंट तथा चढ़ावा देने का वर्णन मिलता है। शैव धर्म की सबसे बड़ी विशेपता यह थी कि वह किसी विशेप वर्ग तक ही नहीं सीमित रहा, अपितु उसके मानने वालों में साधारण लोग भी थे।

प्रतीहार राजाओं के जागीरदारों द्वारा शिव की पूजा करने की सूचनायें अभिलेखों से मिलती हैं। हांसोट ताम्रपत्र[5] में चाहवान भर्तृवर्द्ध को शिव का भक्त कहा गया है तथा उसके लिए परममाहेश्वर की उपाधि प्रयुक्त की गयी है।

---

1. पुरी, बैजनाथ हि०गु०प्र०, पृ० 140, द्वितीय संस्करण, ओरियंटल पब्लिशर्स 1975।
2. ए०इ०, जिल्द 1, पृ० 186।
3. राजशेखर, काव्यमीमांसा, अध्याय 7, पृ०79 चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1964।
4. राजशेखर, कर्पूरमंजरी, प्रथम यवनिका, पृ० 37, चौ० वि० भवन, 1970।
5. इ०ए०, जिल्द 12, पृ० 202।

राजाधिराज महीपालदेव के महासान्ताधिपति धरणीवाराह के हड्डल[1] अभिलेख (914 ई०) से सूचना मिलती है कि उसने एक महेश्वराचार्य को अध्ययन हेतु ग्राम दान दिया था। विजयपालिदेव के समय के राजौरगढ़ अभिलेख[2] (अलवर स्टेट 959 ई०) से सूचना मिलती है कि मथनदेव ने अपनी माता की धार्मिक यशःवृद्धि हेतु उसने नाम से लचुकेश्वर (शिव) की प्रतिमा की मंदिर में स्थापना की तथा सम्पूर्ण अधिकारों से युक्त तथा 'कर' से युक्त भूमि का दान मंदिर के निमित्त दिया। अभिलेखों में शिव के विभिन्न नामों का उल्लेख हुआ है जिनमें रुद्र, शिव, महादेव, काम्यकेश्वर, लचुकेश्वर[3], उमामाहेश्वर[4], योगस्वामी[5] आदि हैं। वारतों म्यूजियम अभिलेख[6] में अर्द्धनारीश्वर के रूप में शिव की पूजा करने का वर्णन है। शैव आचार्य विभिन्न रूपों में शिव की पूजा करते थे। कुछ लोग योग के आधार पर योगस्वामी की आराधना करते थे। शैव आचार्यों का धार्मिक जीवन में विशेष महत्त्व था, क्योंकि उत्तरी भारतवर्ष के विभिन्न भागों में उनके मठों की स्थिति थी।

असनी अभिलेख[7] (917 ई०) में योगस्वामी के निमित्त दान देने की चर्चा मिलती है। राजौर अभिलेख[8] (959) से अनेक शैव आचार्यों के बारे में जानकारी होती है जिनमें रूनश्री आचार्य, ओंकार शिवाचार्य, श्रीकंठ शिवाचार्य आदि के नाम उल्लेखनीय हैं जिनका शिवभक्ति की सुपुरीय शाखा सम्बन्ध था। कामन अभिलेख[9] से हमें जानकारी होती है कि चामुण्डा के मंदिरों के अतिरिक्त शिवेतर मंदिरों की भी देखभाल के लिए शैव आचार्य नियुक्त किये गये थे। ये शैव आचार्य वातयक्षिणी देवी, त्रैलोक्यमोहन, इन्द्रादित्य और शिव मंदिरों की बड़ी सफलता से प्रबन्ध करते थे।

अभिलेख साक्ष्यों के अतिरिक्त साहित्यिक ग्रन्थों में भी शिव की महिमा गाई गई है, जिससे तत्कालीन शैव, संस्कृति पर प्रकाश पड़ता है। काव्यमीमांसा[10]

---

1. इ०ए०, जिल्द 12, पृ० 193 आगे।
2. ए०इ० जिल्द 3, पृ० 266;
   —प्रो०ए०सो०बं०, 1879 पृ० 157 और आगे।
3. वही, जिल्द 3, पृ० 266; नियोगी, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 143।
4. ए०इ० जिल्द 1, पृ० 173।
5. ए०इ०, जिल्द 1, पृ० 171, इ०ए०, जिल्द 16, पृ० 174।
6. वही, जिल्द 19, पृ० 174 आगे।
7. इ०ए०, जिल्द 16, पृ० 174; ए०इ०, जिल्द 1, पृ० 171।
8. ए०इ०, जिल्द 3, पृ० 266।
9. पुरी, पूर्व निर्दिष्ट, पृष्ठ 142।
10. काव्यमीमांसा, पूर्व निर्दिष्ट, अध्याय 5, पृ० 43।

में भगवान् शंकर को दयालु तथा प्राणी मात्र रक्षक कहा गया है। शंकर को पार्वती के साथ ताण्डव-नृत्य करते हुए प्रस्तुत किया गया है और उनकी स्तुति की गई है[1]। इसी ग्रन्थ में राजा के दैवी-स्वरूप का वर्णन किया गया है जिसमें उसकी शंकर भगवान् से तुलना की गई है[2]।

राजशेखर कृत **कर्पूरमंजरी**[3] में भगवान् शंकर और पार्वती दोनों को सुख प्रदान करने वाला कहा गया है। इसी ग्रंथ में कहा गया है कि शिव जी के द्वारा सुरापान मोक्ष प्राप्ति का साधन है[4]। **बालभारत नाटक**[5] के प्रारम्भ में भगवान् शिव की वन्दना की गई है। राजशेखर विरचित **विद्धसालमंजिका**[6] नाटक की नान्दी भगवान् शंकर की स्तुति में है तथा उन्हें देवों का देव कहा गया है।

प्रतीहार राजाओं के समय में विष्णु और शिव के अतिरिक्त अन्य देवी-देवताओं के बारे में भी जानकारी होती है। इनमें सूर्य, गणेश और शक्ति देवी प्रमुख हैं। अभिलेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय सूर्य हिन्दू देवताओं में विशेष महत्व पर थे। उनकी बड़े धूम-धाम से पूजा की जाती थी। विदिशा नगर प्रतीहारों के समय में सूर्य-पूजा का प्रमुख केन्द्र रहा। सूर्य की लोकप्रियता का प्रमाण सूर्यमहोत्सव से होता है जिसमें सूर्य देवता की मूर्ति को सात घोड़ों के रथ पर लादकर प्रमुख मार्गों से घुमाया जाता था[7]। सूर्य देवता को आदित्य और तरुणादित्य के नाम से भी जाना जाता था[8]। गणेश को अभिलेख में विनायक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। राजशेखर की **काव्यमीमांसा**[9] में गणेश जी की गजानन के रूप में प्रार्थना की गई है तथा उन्हें तीनों लोकों का रक्षक कहा गया है।

बालभारत नाटक[10] में शंकर जी के पुत्र गणेश जी की असीम महत्ता प्रकट करते हुए उन्हें अपार शक्तिशाली एवं कृपालु तथा कल्याणकर्ता के रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्रतीहार अभिलेखों में शक्ति देवी के अनेक नामों का उल्लेख हुआ है। इससे स्पष्ट होता है कि शक्ति देवी की पूजा भी श्रद्धा एवं विश्वास के साथ

---

1. वही, अध्याय 9, पृ० 114।
2. वही, अध्याय 13, पृ० 179।
3. कर्पूरमंजरी, पूर्व निर्दिष्ट, प्रथम यवनिका, पृ० सं० 3-4।
4. वही, पृ० 37।
5. बालभारत, मंगलाचरण, पृ० 12, चौ०वि० भवन।
6. राजशेखर, विद्धसालमंजिका, श्लोक 6, पृ० 2, चौ०वि० भवन, 1965।
7. प्रो० रा०ए०सो०, 1913-14, पृ० 64।
8. पुरी, बैजनाथ, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 145।
9. काव्यमीमांसा, पूर्व निर्दिष्ट, अध्याय 13, पृ० 179।
10. बालभारत, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 12।

एक ओर ब्राह्मणों के महत्व की चर्चा है वहीं यह भी बतलाया गया है कि वे दासियों से तर्क-वितर्क करने अथवा अपनी बराबरी करने में गौरव की हानि मानते थे। कर्पूरमंजरी[1] से यह ज्ञात होता है कि राजा का ब्राह्मण विदूषक दासियों के बारे में कहता है कि जिस राजा के दरबार में दासियों ब्राह्मण से प्रतिस्पर्द्धा करें उस दरबार को छोड़ना ही अच्छा है।

बाल भारत[2], विद्धसालमंजिका[3] और कर्पूरमंजरी[4] में ब्रह्म-विवाह का उल्लेख इस बात का साक्षी है कि समाज में ब्राह्मण व्यवस्था का बोलबाला था। विद्धसाल मंजिका[5] में ब्राह्मणों द्वारा यज्ञोपवीत धारण करने की चर्चा भी मिलती है।

प्रतीहारकालीन अभिलेखों में तत्कालीन साहित्य और विद्या तथा दर्शन की चर्चाएं मिलती हैं। भोज की ग्वालियर प्रशस्ति[6] से सूचना मिलती है कि कन्नौज वैदिक धर्म, दर्शन एवं सभ्यता का केन्द्र था। यहीं नैमषारण्य के ऋषियों का संवाद हुआ था जिसमें पौराणिकी संहिता (प्रभास खण्ड) और वेदसम्मत पंचसंधि, षड्लंकार, वेदान्त तथा भागवत (वैष्णव) दर्शन पर महत्वपूर्ण कार्य हुए। काव्य-मीमांसा[7] में वेदों तथा अन्य ब्राह्मण ग्रंथों का उल्लेख हुआ है, जिसमें चारों वेद, उपवेद और छः वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष) सम्मिलित थे।

प्रतीहार राजाओं के दरबारी कवि राजशेखर के ग्रंथों से उस समय की भाषा और काव्य के बारे में जानकारी होती है। काव्यमीमांसा[8] में वर्णन किया गया है कि वाराणसी से पूर्व मगध आदि के निवासी संस्कृत अच्छी तरह पढ़ लेते थे, पर प्राकृत बोलने में उनकी वाणी कुंठित हो जाती थी। ग्रंथ में सरस्वती द्वारा ब्रह्मा से निवेदन करने का उल्लेख इस प्रकार है—'ब्रह्मन्! मैं अपना अधिकार छोड़ने की इच्छा से आपसे कर रही हूं कि गौड देश के निवासी या तो गाथाओं का उच्चारण छोड़ दें (क्योंकि उन्हें गाथा पढ़ने नहीं आती) अथवा यदि वे ऐसा न करें तो कृपया उनके लिए दूसरी सरस्वती का आप निर्माण कर दें। गौड देश

---

1. कर्पूरमंजरी, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 32।
2. बालभारत, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 40।
3. विद्धसालमंजिका, पूर्व निर्दिष्ट, अंक 2, पृ० 40।
4. कर्पूरमंजरी, पूर्व निर्दिष्ट, चतुर्थ यवनिका, पृ० 182।
5. विद्धसालमंजिका, पूर्व निर्दिष्ट, अंक 1 पृ० 24।
6. ए०इ० जिल्द 1, पृ० 159 और आगे।
7. काव्यमीमांसा, पूर्व निर्दिष्ट, अध्याय 2, पृ० 5-6।
8. वही, अध्याय 7, पृ० 89-90 और आगे।

के विद्वान् न तो स्पष्ट ही पढ़ते थे और न अत्यन्त श्लिष्ट ही। गुजरात के निवासियों के बारे में कहा गया है कि वे संस्कृत के द्वेषी होते थे और प्राकृत को अत्यन्त मनोहारिता के साथ पढ़ते थे। उत्तरापथ के कवियों को अत्यन्त सुसंस्कृत (व्याकरण में निपुण) कहा गया है। मध्यदेशीय कवियों के बारे में राजशेखर ने जो चर्चा की है उससे प्रकट होता है कि वे सभी भाषाओं में निपुण थे। काव्यमीमांसा[1] में राजशेखर ने कवि के आवश्यक गुणों का जो वर्णन किया है उसमें कहा गया है कि कवि के लिए यह उचित है कि वह संस्कृत के समान ही (प्राकृतादि) सभी भाषाओं में सामर्थ्य, रुचि तथा कुतूहल के अनुसार रचना करे। उसे यह भी देखना चाहिए कि उसका संरक्षक किस गोष्ठी में शिक्षित है अथवा उसका मन कहां लगता है। यह जानकर ही उसे काव्य रचना के लिए भाषा विशेष का आश्रय लेना चाहिए।

राजशेखर के वर्णनों से ऐसा मालूम होता है कि उस समय के राजा विद्वानों एवं कवियों को विशेष सम्मान देते रहे। काव्यमांमीसा[2] के कविचर्या-राजचर्या अध्याय से कवियों के सभी भाषाओं के प्रति प्रेम और समत्व की बात प्रकट होती है। परन्तु भाषा विशेष के प्रयोग का जो सन्दर्भ मिलता है उसका प्रमुख कारण क्षेत्र विरोध ही हो सकता है न कि कोई धर्म अथवा सामाजिक कारण। इस भाषा वैविध्य के पीछे कोई बौद्धिक अथवा दार्शनिक कारण भी नहीं प्रतीत होता। संभव है अपनी सुविधा और परिस्थिति को समझकर ही कवियों ने यथास्थान विविध भाषाओं का प्रयोग किया हो। अधिकतर जैन ग्रन्थ प्राकृत भाषा में लिखे गए हैं। उसका एक कारण यह भी हो सकता है कि लाट के निवासी प्राकृत भाषा को पसन्द करते थे और वहीं जैन धर्म विशेष प्रभावकारी था।

इस्लाम और प्रतीहार शासक

इस्लाम के प्रति प्रतीहार राजाओं का कैसा व्यवहार रहा इसके बारे में प्रमुख प्रमाण अरब यात्रियों के विवरण ही हैं। इन अरब इतिहासकारों[3] में सुलेमान, अबूजैद, अलमसूदी और अलगदीर्जी प्रतीहारों की अटूट राष्ट्रभक्ति, असीम सामरिक तैयारी एवं वीरता की महत्वपूर्ण सूचनाएं देते हैं। ये अरब इतिहासकार प्रतीहार राजाओं को मुसलमानों का सबसे बड़ा शत्रु मानते हैं। सुलेमान ने भोज के बारे में लिखा है[4] कि इस राजा के पास बहुत बड़ी सेना है। वह अरबों का शत्रु

---

1. काव्यमीमांसा, पूर्व निर्दिष्ट, अध्याय 10 पृ० 132।
2. वही, अध्याय 10, पृ० 129 और आगे।
3. इलियट एण्ड डाउसन, जिल्द 1, पृ० 4—23, 24।
4. वही, जिल्द 1, पृ० 4।

है, यथापि वह अरबों के राजा को सबसे बड़ा राजा मानता है तथा कहता है कि भारतवर्ष के राजाओं में उससे बढ़कर इस्लाम धर्म का कोई शत्रु नहीं है। दूसरा अरब इतिहासकार अलमसूदी[1] (912-16 ई०) कन्नौज के प्रतीहार राजा की महान् शक्ति और साधनों का उल्लेख करता है। अमलसूदी कहता है कि जुर्ज (गुर्जर) का राजा इस्लाम का सबसे बड़ा शत्रु है। वह मुल्तान के बारे में जानकारी देते हुए कहता है कि मुल्तान मुसनमानों के सीमा स्थानों में सर्वाधिक दृढ़ स्थान है। उसके चारों ओर 120 गांव और कस्बे हैं। इसमें एक मूर्ति है जो मुल्तान (मुल्तानदेव अथवा मूलस्थानदेव) कहलाती है। सिन्ध और भारतवर्ष के निवासी अति दूर-दूर के स्थानों से इसका दर्शन करने के लिए आते हैं। अपना व्रत पूरा करने के लिए रुपया, रत्न, कुमारी की लड़की और कई प्रकार के सुगन्धित द्रव्य लाते हैं। मुल्तान नरेश की आय का सबसे बड़ा अंश कुमारी की लड़की से प्राप्त होता है जो इस प्रतिमा को भेंट करने के लिए लोग लाया करते हैं। वह कहता है कि तुर्कों ने वहां सभी हिन्दू मंदिरों को गिरा दिया, वहीं मुल्तान के सूर्य मंदिर को छोड़ दिया, क्योंकि उससे उनको बहुत बड़ी आमदनी होती थी। यह भी कहा गया कि जब काफी लोग मुल्तान पर प्रतीहार राजाओं के नेतृत्व में आक्रमण करने हेतु प्रयाण करने लगते हैं और मुसलमान देखते हैं कि उनका सामना नहीं किया जा सकता तो वे इस प्रतिमा को तोड़ने की धमकी देते हैं और उनके काफिर शत्रु तत्काल पीछे हट जाते हैं।

प्रतीहार राजाओं ने सम्भवत: आठवीं शताब्दी के प्रथम चरण से ही अरबों का मुकाबला करना प्रारम्भ कर दिया था। भोज के ग्वालियर अभिलेख[2] से इस बात की पुष्टि होती है कि म्लेच्छ (मुसलमान) आक्रमणकारियों से देश की स्वतंत्रता अखण्डता तथा पवित्रता की रक्षा के लिए प्रथम नागभट्ट, द्वितीय नागभट्ट और मिहिरभोज अपने को भगवान् नारायण, विष्णु पुरुषोत्तम और आदिवराह का अवतार-सा मानने लगे। स्कन्दपुराण[3] में भोज को घोर (उग्र) असुरों, तुरुष्कों और पापाचारी म्लेच्छों का दमन करने वाला कहा गया है। मुसलमानों को धोती और चोटी से रहित कहा गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रतीहार राजा मुसलमानआक्रमणकारियों के प्रति कठोर नीति का अनुसरण करना अपना परम कर्त्तव्य मानते थे।

---

1. वही, पृ० 21 और आगे।
2. ए०इ०, जिल्द 1, पृष्ठ 159 और आगे; ए०इ० जिल्द 18, पृ० 96।
3. स्कन्दपुराण, 1।1।14।14

प्रतीहार राजाओं के व्यक्तिगत धर्म और विश्वास

प्रतीहार राजाओं के व्यक्तिगत धर्म के विषय में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि उस एक ही वंश के राजा अलग-अलग देवताओं की भक्ति करते हुए पाए जाते हैं। प्रतीहार द्वारा विभिन्न देवताओं की पूजा का सन्दर्भ हमें द्वितीय महेन्द्रपाल के प्रतापगढ़ अभिलेख[1] से प्राप्त होता है जिसका वर्णन आगे हम राजाओं के कालक्रम के आधार पर करेंगे। नागभट्ट को स्वयं सम्पूर्ण संसार की रक्षा करने में समर्थ पुरातन मुनि (विष्णु) का अवतार माना गया है जिसने अपनी भुजाओं से म्लेच्छों की समुद्र रूपी सेना को मथ डाला[2]। वंश के संस्थापक नागभट्ट के व्यक्तिगत धर्म के विषय में विशेष जानकारी नहीं मिलती। देवशक्ति को विष्णु का भक्त कहा गया है तथा उसे **परम वैष्णव** के विरुद्ध[3] से विभूषित किया गया है। देवशक्ति को भी देवी स्वरूप की महानता प्रदान करते हुए उसकी इन्द्र से समता की गयी है[4]। देवशक्ति के उत्तराधिकारी वत्सराज के प्रति **परममाहेश्वर** की उपाधि प्रयुक्त करते हुए अभिलेखों[5] में उसे शिव का भक्त कहा गया है। वत्सराज के समय में बनी एक ड्योढ़ी का स्वरूप जैन मंदिर जैसा है[6]। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वह ड्योढ़ी अपने विकृत रूप में जैन मंदिर अथवा जैनियों का विश्राम-गृह रहा होगा।

नागभट्ट द्वितीय भगवती का भक्त था।[7] ग्वालियर अभिलेख[8] (876 ई०) से सूचना मिलती है कि नागभट्ट द्वितीय ने शत्रुओं का पराभव करके कान्यकुब्ज में प्रतीहारों का प्रभुत्व जमाया, परन्तु उसके शासन का एकमात्र अभिप्राय वेदों और वैदिक विचारधारा से प्रभावित कान्यकुब्ज नगर में संस्कृत का उत्थान करना ही था। अभिलेख में कहा गया है कि इस महान् पुरुष ने अपने क्षत्रिय धर्म का पूर्ण रूप से निर्वाह करते हुए त्रयी (वेद एवं वैदिक धर्म) की प्रतिष्ठा करके अत्यन्त उत्तम कार्य किया। **स्कन्द पुराण**[9] से प्रतीहार नागभट्ट द्वितीय के बारे में

1. ए०इ०, जिल्द 14, पृ० 182; इ०ए०, जिल्द 45, पृ० 1।
2. भोज की ग्वालियर प्रशस्ति, श्लोक 4।
3. भोज का वराह ताम्रपत्र लेख, ए०इ०, जिल्द 19, पृ० 17।
4. भोज का ग्वालियर लेख, श्लोक 5।
5. ए०इ०, जिल्द 14, पृ० 182 और आगे।
6. आ०न०इ०, एनु०रो०, 1908-9, पृष्ठ 108।
7. ए०इ०, जिल्द 14, पृ० 182; त्रिपाठी रा०शं०, पूर्व निर्दिष्ट पृ० 290-91।
8. ए०इ०, जिल्द 1, पृ० 156।
9. स्कन्दपुराण, पूर्व निर्दिष्ट, 3।2।36।17-67।

जो सूचना मिलती है उसमें कहा गया है कि उस समय कलि एवं अधर्म फैल रहा था। कलि और अधर्म की प्रमुख विशेपतायें ब्राह्मण विद्वेष, परस्पर विरोध, विष्णु की भक्ति में कमी, दुष्ट प्रवृत्तियों का अनुसरण और बौद्ध तथा जैन धर्म स्वीकार करना था। **प्रबन्धकोश**[1] से सूचना मिलती है कि राजा आम ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया था। गोपालगिरि आम की राजधानी थी, वहां जैनियों का विशेप प्रभाव था। राजशेखरसूरि (1401 ई०) द्वारा लिखे गये **प्रबन्धकोश** में **वप्पभट्टसूरि प्रबन्ध**[2] (प्रबन्ध संख्या 9) से ज्ञात होता है कि राजा आम ने वप्पभट्टि को अपना आचार्य वनाया और सिंहासनारूढ़ जैन आचार्य उसके दरबार से सूरिपद (राजदरबारी विद्वान् पद) पर नियुक्त किया गया। आम ने गोपगिरि में एक विशाल जैन मंदिर बनवाकर वहां वर्धमान (महावीर स्वामी) की मूर्ति स्थापित कराई। इन कार्यों से ब्राह्मण क्रुद्ध हो गये और उन्होंने राजा से कहा कि ये जैन शूद्र हैं (तद्र दृष्ट्वा विप्रैः क्रुद्धा ज्वलितैर्भूयां विज्ञप्तः देव श्वेताम्बरा अमीशूद्राः।) इनसे सिंहासन का क्या प्रयोजन? (एभ्यः सिंहासनं किम्)। यह सुनकर 'सूरीन्द्र' रुष्ट हो गया और उसने ब्राह्मणों के घमण्ड को नष्ट करने के लिए राजा से कहा। राजा ने उसका स्वागत सत्कार किया[3]।

स्कन्दपुराण[4] से सूचना मिलती है कि राजा आम जैन साधु से इतना प्रभावित हुआ कि उसने अपनी पुत्री का विवाह ब्रह्मावर्त के राजा कुमारपाल से कर दिया। दोनों ने मिलकर जैन धर्म का प्रचार करना शुरू कर दिया। इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि उसके द्वारा जैनियों का प्रभाव बढ़ता गया और ब्राह्मणों को दान देना भी बन्द कर दिया गया। साथ ही विप्रों को राज-शासन से दिये हुये दानों का भी लोप हो गया। **प्रबन्धकोश**[5] में वर्णन मिलता है कि बंगाल के बौद्ध राजा धर्मपाल का भी प्रतीहार राजा आम (नागभट्ट द्वितीय) से पुराना वैर था। धर्मपाल को जब पता चला कि उसका शत्रु जैन साधु का इतना भक्त है कि वह उसका पीछा करते हुए लखनौती तक चला आया है तो उसने उसको जैन साधु के साथ अपने दरबार में उपस्थित कवि वाक्पति के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए इस शर्त पर आमंत्रित किया कि जिस पक्ष का विद्वान् हार जायेगा वह राजा अपना राज्य दूसरे विजयी पक्ष के राजा को समर्पित कर देगा। ऐसा ही हुआ। बौद्ध साधु वाक्पति हार गया। धर्मपाल ने अपना राज्य आम को दे दिया,

---

1. राजशेखरसूरि, प्रबन्धकोश, पृ० 28 (विश्वभारती प्रकाशन, वि० संवत् 1991)।
2 वही।
3. प्रबन्धकोश, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 29।
4. स्कन्दपुराण, 3।2।36।47।
5. प्रबन्धकोश, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 33।

परन्तु बप्पभट्टि के कहने पर उसने वह राज्य पुनःध र्मपाल को वापस कर दिया। यह आम का महादान था[1]। प्रवन्धकोश आगे सूचना देता है कि राजा आम ने रेवतक तीर्थ में नेमिनाथ और प्रभास में चन्द्रप्रभ की प्रतिष्ठा बढ़ाकर जैन धर्म का उन्नयन किया[2]। इसी समय आम की मृत्यु के पूर्व रेवतक तीर्थ में जैन धर्म के दोनों सम्प्रदायों—श्वेताम्बर एवं दिगम्बर के साधुओं के बीच कलह हुआ था।

स्कन्दपुराण[3] से ज्ञात होता है कि राजा नागभट्ट के व्यवहार से ब्राह्मण क्रोधित हो गये और उन्होंने विद्रोह कर दिया। अन्त में ब्राह्मणों के विरोध के कारण जैनियों का प्रभाव कम हुआ और ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा हुई।

यहां यह ध्यान देने की आवश्यकता है कि कुछ विद्वानों[4] ने राजा आम को द्वितीय नागभट्ट से मिलाया है। यदि यह पहचान सही स्वीकार कर ली जाय तो **वप्पभट्टसूरिप्रवन्ध** तथा **स्कन्दपुराण** की नागभट्ट के जैन होने सम्बन्धी सूचनाओं का मेल बैठ जाता है। किन्तु इस पहचान को स्वीकार करने में अनेक आपत्तियां हैं। प्रथमतः तो **वप्पभट्टसूरिचरित** और **प्रवन्धकोश** आमराज को यशोवर्मा का उसकी रानी यशोदेवी से उत्पन्न पुत्र बताते हैं तथा उसे ग्वालियर और कन्नौज का शासक बताते हैं। इसकी पुष्टि **प्रभावकचरित** से भी होती है। परन्तु साथ ही **प्रभावकचरित**[5] आमराज को नागावलोक कहते हुए उसे धर्मपाल का शत्रु दिखाता है। वहां अनावश्यक रूप से आमराज के शासन-काल को अत्यन्त दीर्घ (743-833 अथवा 753-833 ई०) बताया गया है[6]। साथ ही उसे कन्नौज के शासक के रूप में भोज का पितामह बताया गया है। विग्रहराज द्वितीय चाहमान के हर्षोलि अभिलेख तथा जयानकभट्ट के **पृथ्वीराज विजय** के आधार पर नागावलोक को कन्नौज के शासक नागभट्ट द्वितीय से मिलाया गया है[7]। बड़ा स्पष्ट है कि **प्रभावकचरित** तथा अन्य जैन ग्रन्थ आठवीं शताब्दी के मध्य में कन्नौज मे शासन करने वाले यशोवर्मा के पुत्र आमराज और कन्नौज के प्रतीहार शासक नागभट्ट द्वितीय के इतिहास के बारे में एक विचित्र घपला करते हैं।

वास्तव में आमराज को द्वितीय नागभट्ट से मिलाया नहीं जा सकता, क्योंकि

1. प्रवन्धकोश, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 35-36।
2. वही, पृ० 41-43।
3. स्कन्दपुराण 3।2।32।39।
4. चौधरी, गुलाबचन्द्र, प्रो० हि०ना०इ०फ्रा०जै० नोर्सेज, 22-23 से 34।
5. प्रभावकचरित, 5, पृ० 188।
6. पाठक, वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 83।]
7. वही, पृ० 84।

वैसा करने में अनेक कठिनाइयां उत्पन्न हो जायेंगी। उदाहरण के लिए **जैन हरिवंशपुराण**[1] से यह ज्ञात होता है कि 783 ई० में नागभट्ट द्वितीय का पिता वत्सराज उज्जैन का शासक था। अत: उस समय तक नागभट्ट द्वितीय गद्दी पर ही नहीं बैठा होगा। वत्सराज की अवधि जैन विद्वानों द्वारा आमराज की तथाकथित शासनावधि (743-833 अथवा 753-833 ई०) के बीचो-बीच पड़ती है। अत: इन तैथिक उलझनों के कारण आमराज को नागभट्ट द्वितीय से मिलाना गलत प्रतीत होता है और उसके जैनधर्म में दीक्षित होने की बात ऐतिहासिक दृष्टि से सन्देहास्पद प्रतीत होती है। ऐसी स्थिति में **स्कन्दपुराण** के इस कथन का क्या तात्पर्य होगा कि नागभट्ट द्वितीय जैन प्रभाव में आ चुका था। ऐतिहासिक दृष्टि से इस पर भी सन्देह किया जा सकता है। **स्कन्दपुराण** की यह चर्चा उसके ब्रह्मखण्ड में आती है जो गुजरात का एक क्षेत्र था। यहीं जैनियों की प्रमुखता थी तथा अधिकांश जैन-ग्रन्थ यहीं लिखे गए। चूंकि **स्कन्दपुराण** नागभट्ट द्वितीय की चर्चा करता है, यह स्पष्ट है कि इसकी रचना उसके शासनकाल के बाद हुई होगी। किन्तु यह कह सकना बड़ा कठिन है कि वह कितने बाद हुई। असंभव नहीं है कि **स्कन्दपुराण** की उपर्युक्त सूचनाओं के स्रोत **प्रभावकचरित** जैसे ग्रंथ ही रहे हों। यदि यह सच हो तो **स्कन्दपुराण** के नागभट्ट सम्बन्धी ये उल्लेख जैन-ग्रन्थों की नकल मात्र माने जायेंगे और उन्हें स्वतन्त्र रूप में **प्रबन्धकोश** अथवा **बप्पभट्टसूरिचरित** का समर्थक नहीं माना जा सकता।

महेन्द्रपाल द्वितीय के प्रतापगढ़ अभिलेख[2] (948 ई०) में रामभद्र को आदित्य (सूर्य) भक्त कहा गया है तथा ग्वालियर अभिलेख[3] में रामभद्र की राम (दाशरथी) से तुलना की गई है। उसमें कहा गया है कि जिस प्रकार रामचन्द्र ने समुद्र को वशीभूत कर क्रूरों एवं पातकियों का नाश कर जगत्-जननी जानकी को प्राप्त किया तथा धर्म की रक्षा की, उसी तरह विशुद्ध सत्व वाले रामभद्र ने अनेक रहस्यों एवं व्रतों को करते हुए सूर्य भगवान् को प्रसन्न करके मिहिर-नामक पुत्र प्राप्त किया। मिहिरभोज के वराह लेख में रामभद्र को परमादित्य भक्त कहा गया है।

महेन्द्रपाल द्वितीय के प्रतापगढ़[4] अभिलेख (948 ई०) में ही महान् प्रतीहार राजा भोज को भगवती (शक्ति) का परमभक्त कहा गया है। महाराज भोज के

---

1. हरिवंशपुराण 66153।
2. ए०इ०, जिल्द, 14, पृ० 182।
3. ग्वालियर अभिलेख, ए०इ०, जिल्द 1, पृ० 156।
4. ए०इ०, जिल्द 14, पृ० 182।

वराह ताम्रपत्र लेख[1] 836 ई० (जो इस समय कानपुर म्यूजियम में सुरक्षित है) में भी भोज को भगवती का भक्त कहा गया है। अभिलेख से सूचना मिलती है कि महान् सम्राट भोज ने शिव मंदिर की देखभाल के लिए एक शैव आचार्य की नियुक्ति की थी जिसे राज्य की ओर से वेतन मिलता था। पेहेवा अभिलेख[2] (882 ई०) भोजदेव का है उसमें एक ब्राह्मण द्वारा शिव मंदिर बनवाने का उल्लेख किया गया है।

भोजदेव की महोदया अर्थात् कन्नौज से प्राप्त ताम्रपत्र अभिलेख[3] में ब्राह्मण विद्यार्थी को सम्पूर्ण अधिकारों से युक्त भूमिदान देने का उल्लेख हुआ है। वह ब्राह्मण विद्यार्थी वाजसनेयी शाखा तथा भारद्वाज गोत्र से सम्बन्धित था। बाउक की **जोधपुर प्रशस्ति**[4] में कहा गया है कि भोज ने अपनी रानियों के यश और पुण्य वृद्धि के लिए अन्तःपुर में ही विष्णु मंदिर का निर्माण करवाया था। महान् भोज के सिक्कों[5] की वराहशिरोधारी मनुष्याकृति कदाचित् इस बात का द्योतक है कि वह अपने को विष्णु का अवतार भी मानता था तथा आदिवाराह अवतार की तरह भारतभूमि को म्लेच्छों (अरबों) से मुक्त रखना अपना पुनीत कर्त्तव्य मानता था। इस्लाम धर्म के प्रति भोज का क्या रुख था इसका इंगित उसकी ग्वालियर प्रशस्ति से प्राप्त होता है जिसका पहले वर्णन किया जा चुका है। भोज से सम्बन्धित अरब इतिहासकारों के वर्णनों भी हम देख चुके हैं।

महेन्द्रपाल द्वितीय के प्रतापगढ़ अभिलेख[6] (948 ई०) में महेन्द्रपाल प्रथम को भगवती तथा महेन्द्रपाल द्वितीय को माहेश्वरी का भक्त कहा गया है। इस अभिलेख का प्रारम्भ भी दुर्गा की स्तुति से हुआ है। इसमें वतयक्षिणी देवी के मंदिर की चर्चा है और कहा गया है कि इस मंदिर की व्यवस्था शैवमठ के द्वारा सम्पन्न होती थी। इसी अभिलेख[7] से सूचना मिलती है कि महेन्द्रपाल द्वितीय के समय में उसके सामन्तों द्वारा सूर्य की पूजा की जाती थी।

अन्य प्रतीहार राजाओं के व्यक्तिगत धर्म के बारे में विशेष जानकारी नहीं मिलती है।

---

1. वही पृ० 17।
2. वही, जिल्द 1, पृ० 186।
3. ए०इ०, जिल्द 19, पृष्ठ 17।
4. वही, जिल्द 18, पृ० 87।
5. पाठक, वि० पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 150।
6. ए०इ०, जिल्द 14, पृ० 182।
7. वही।

गाहड़वाल राजाओं के समय की साधारण सामाजिक एवं धार्मिक अवस्था :

प्रतीहारों के पतन के बाद सारे देश में अराजकता की स्थिति थी। चारों तरफ से कन्नौज पर आक्रमण शुरू हो गये थे। महमूद गजनवी जैसे तुर्क शासकों ने अनेक आतंक फैला रखा था और मध्यदेश की पवित्रता पर आंच आने लगी थी। इसी समय भारत के इतिहास में एक ऐसे वंश का शुभागमन हुआ जो कालान्तर में धर्मरक्षक होकर इतिहास में प्रसिद्ध हो गया। इस वंश से महान् शासक गोविन्दचन्द्र के समय में कन्नौज का राजदरबार हर्षवर्धन और प्रतीहार महेन्द्रपाल की ही तरह पुनः एक बार विद्या, संस्कृति और साहित्यिक क्रिया-कलापों का केन्द्र हो गया[1]।

गाहड़वाल राजाओं के समय की धार्मिक एवं सामाजिक अवस्था का ज्ञान तत्कालीन अभिलेखों, साहित्यिक ग्रंथों एवं पुरातात्विक सामग्रियों से होता है। अभिलेखों तथा साहित्यिक ग्रन्थों से जो सूचना मिलती है उससे पता चलता है कि उस समय अनेक धार्मिक सम्प्रदाय थे जिनमें हिन्दू, बौद्ध और जैन प्रमुख थे। हिन्दू धर्म में भी वैष्णव एवं शैव धर्म के अतिरिक्त अन्य देवताओं का उल्लेख हुआ है। गाहड़वालकालीन धार्मिक अवस्था पर उनके द्वारा कराये गये निर्माण कार्यों से भी प्रकाश पड़ता है। चन्द्रावती अभिलेख[2] (वि० सं० 1156) से एक विष्णु के मंदिर बनवाने की जानकारी मिलती है। ऐसी अनेक सूचनायें परम्परागत कथाओं से उपलब्ध होती हैं जिनमें कहा गया है कि विजयचन्द्र और जयचन्द्र ने अनेक हिन्दू मंदिरों का निर्माण कराया[3]। इन दोनों राजाओं से बनवाये गये मंदिर, जो आज मस्जिद के रूप में परिवर्तित कर दिए गये हैं, उनमें खलिस और मुखलिस का नाम लिया जा सकता है। परम्परागत कथाओं के अनुसार जौनपुर की अटाला मस्जिद वास्तव में अतला देवी का मंदिर था जो मुसलमानों द्वारा मस्जिद के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। मूलतः इसका निर्माण कार्य विजयचन्द्र के द्वारा कराया गया था। लाल दरवाजा मस्जिद भी विजयचन्द्र द्वारा ही बनवायी गई प्रतीत होती है, क्योंकि उसके पत्थरों पर विजयचन्द्र का नाम खुदा मिलता है। साथ ही मस्जिद का ढांचा भी हिन्दू मंदिर की तरह है। इस तरह लगता है कि धार्मिक निर्माण कार्य में गाहड़वाल राजा रुचि अवश्य लेते थे। परन्तु दुर्भाग्य यह है कि मुसलमानों ने उनकी कृतियों को मुस्लिम वास्तु के रूप में परिवर्तित कर दिया।

---

1. पाठक, वि०,पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 187।
   —ए०इ०, जिल्द 18, पृष्ठ 102, 107।
2. ए०इ०, जिल्द 14, पृ० 197-200; इहिक्वा, 1949, पृ० 31-37।
3. नियोगी, रोमा, हि०गा०डा०, पृ० 204, कलकत्ता 1959।

गाहड़वाल राजाओं के समय में हिन्दुओं के प्रसिद्ध तीर्थ स्थानों—काशी, कुसिक, अयोध्या आदि का अभिलेखों[1] से ज्ञान होता है। लक्ष्मीधर[2] ने प्रयाग और कौशाम्बी को भी तीर्थ स्थानों की सूची में रखा है। ये सारे प्रदेश गाहड़वालों के शासन क्षेत्र में पड़ते थे। अभिलेखों में वर्णन है कि गाहड़वाल राजाओं ने मुसलमान आक्रमणकारियों से अपने तीर्थ स्थानों की रक्षा की। अतैथिक सारनाथ अभिलेख[3] में हिन्दुओं के अत्यन्त प्रसिद्ध और लोकप्रिय तीर्थ स्थान काशी की रक्षा के लिए विष्णु भगवान की प्रार्थना की गयी है।

वैष्णव, शैव एवं अन्य संप्रदायों के देवता

अभिलेखों के साक्ष्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि गाहड़वाल राजाओं के समय में विष्णु को बड़ी लोकप्रियता प्राप्त थी। उनकी मुद्राओं[4] पर गरुड़ की प्रतिमा एवं शंख तथा चक्र का जो चित्रांकन किया गया है वह उनके वैष्णव धर्म के प्रति स्नेह का परिचायक है। पौराणिक कथाओं में गरुड़ को विष्णु का वाहन कहा गया है। गाहड़वाल राजाओं द्वारा वैष्णव संस्कृति को जो प्रोत्साहन दिया गया। उसके बारे में आगे उनके व्यक्तित्व धर्म सम्बन्धी शीर्षक में चर्चा की जायेगी।

चन्द्रदेव के चन्द्रावती अभिलेख[5] (वि० सं० 1156) से सूचना मिलती है कि उसने काशी में आदिकेशव की प्रतिमा स्थापित कराई तथा सोने और जवाहरात से उसका अनावरण किया। इसी राजा के दूसरे चन्द्रावती अभिलेख[6] (वि० सं० 1150) में कहा गया है कि राजा ने आदिकेशव की प्रतिमा के सामने खड़े होकर अर्थात् उसे साक्षी मानकर हजारों गायों का दान दिया तथा मंदिर के खर्च आदि के लिए भूमि दान दिया। गाहड़वाल राजाओं द्वारा हिन्दू धर्म के देवताओं के प्रति श्रद्धा एवं विश्वास का उदाहरण उनके व्यक्तिगत धर्मों से ज्ञात होगा। गाहड़वाल राजाओं के अभिलेखों में सूर्य-पूजा का विशेष महत्व परिलक्षित होता है। राजाओं द्वारा विभिन्न नामों के अन्तर्गत सूर्य की पूजा एवं

1. ए०इ० जिल्द 4, पृ० 99-101।
2. कृत्यकल्पतरु (राजधर्मकाण्ड), पृ० 237 आगे।
3. ए०इ०, जिल्द 9, पृ० 319-28।
4. नियोगी, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 194-95।
5. ए०इ०, जिल्द 14, पृ० 197-200;
   —इहिक्वा, 1949, पृ० 31-37।
6. ए०इ०, जिल्द 14, पृ० 193-96; इहिक्वा, 1949, पृ० 31-37।

दान देने की चर्चाएं मिलती हैं। तत्कालीन अभिलेखों में सूर्य को—तरुणादित्य[1] इन्द्रादित्य[2], गंगादित्य[3] एवं लोलारक[4] के नाम से सम्बोधित किया गया है। (वि० सं० 1148) के चन्द्रदेव के ताम्रफलक अभिलेख[5] में भी सूर्य-पूजा की चर्चा मिलती है। गाहडवाल अभिलेखो[6] (वि० सं० 1224) में अनेक घाटों का नामकरण शिव के नाम पर किया गया है। वाराणसी में गंगा और वरुणा के संगम के पास 'आदिकेशव' घाट है। इसके अतिरिक्त वाराणसी में ही त्रिलोचन घाट होने का प्रमाण गाहडवाल नरेशों के (वि० सं० 1154) अभिलेख[7] से होता है। बेलखरा अभिलेख (वि० सं० 1253) में शंकर (शिव) के पुत्र गणेश जी को विनायक[8] एवं दामोदर के नाम से उद्धृत किया गया है। चन्द्रावती अभिलेख[9] (वि० सं० 1150) में इन्द्र के नाम का उल्लेख हुआ है।

बौद्ध धर्म

तत्कालीन अभिलेखों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध-धर्म मध्य देश में अपनी पहले से कुछ हीन स्थिति में था। हर्ष की मृत्यु के बाद प्रतीहार राजाओं ने ब्राह्मण धर्म की तरफ विशेष रूप से अपना ध्यान लगाया। किन्तु प्रतिहारों में भी महेन्द्रपाल जैसा एक शासक ऐसा भी था जिसने बौद्ध-धर्म की तरफ भी ध्यान दिया। बोधगया अभिलेख[10] से बौद्ध-धर्म के बारे में कुछ बातें मालूम होती हैं जिसका विवेचन धार्मिक राजाओं के व्यक्तिगत धर्म सम्बन्धी अध्याय में किया जायेगा। तत्कालीन लेखक लक्ष्मीधर के वर्णन से भी बौद्ध-धर्म पर प्रकाश पड़ता है। वह कहता है—विहार का निर्माण कराना एक अत्यन्त पवित्र कार्य है।

1. ए०इ०, जिल्द 9, पृ० 1-5।
2. वही, जिल्द 14, पृ० 180-85।
3. वही, जिल्द 4, पृ० 121-23।
4. वही, जिल्द 5, पृ० 215-18।
5. वही, जिल्द 9, पृ० 302-5।
6. वही, जिल्द 4, पृ० 117-20।
7. इ० ए०, जिल्द 18, पृ० 9-14।
8. ए० इ०, जिल्द 9, पृ० 279।
9. वही, जिल्द 14, पृ० 193-96।
10. इहिक्वा, 1929, पृ० 14-30।

जैन धर्म

इस युग में जैन धर्म के बारे में अभिलेख एवं साहित्य[1] दोनों ही दुर्भाग्यवश मौन हैं। ऐसा लगता है कि जैन धर्म भारत के अन्य भागों में भले ही रहा हो, परन्तु उत्तर-भारत में उसका प्रभाव नहीं के बराबर था।

गाहड़वाल कालीन अभिलेखों से तत्कालीन समाज के ऊपर भी प्रकाश पड़ता है। हम देखते हैं कि हिन्दू धर्म के हिमायती गाहड़वाल राजाओं के धर्म शास्त्रों एवं वैदिक ग्रन्थों में प्रतिपादित मान्यताओं का पालन करते हुए बलिकर्म एवं ब्राह्मणों की महत्ता को स्वीकार किया तथा उन्हें दान दिए[2]। लक्ष्मीधर के कृत्यकल्पतरु[3] से मिलता है कि वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। इसमें शूद्र कन्या का उल्लेख करते हुए उसे उच्चवर्ण द्वारा स्वीकार करने पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। तत्कालीन समाज द्वारा अध्ययन और अध्यापन वाले विषयों एवं ग्रंथों के ऊपर भी अभिलेखों से प्रकाश पड़ता है। चन्द्रदेव के चन्द्रावती अभिलेख[4] (वि० सं० 1156) से वेदों के अध्ययन के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। वेदों के अध्येता ब्राह्मणों को उनकी वैदिक शाखाओं के अनुसार पुकारा गया है। उन्हें उपाधि स्वरूप चतुर्वेदिन्, ऋग्वेदिन् जैसे शब्दों मे अभिहित किया गया है। गाहड़वाल राजा साहित्यिक गोष्ठियों का आयोजन करने में विशेष रुचि रखते थे। **श्रीकण्ठचरित**[5] से सूचना मिलती है कि गोविन्दचन्द्र ने कश्मीर के राजा जयसिंह के दरबार में आयोजित एक संवाद-प्रतियोगिता में अपने यहां से सुहल नामक एक विद्वान् भेजा था।

गाहड़वाल राजाओं द्वारा विद्वानों एवं लेखकों तथा कवियों को सम्मान प्रदान करने का भी वर्णन मिलता है। जयचन्द्र द्वारा श्रीमर्ष नामक एक बंगाली कवि को संरक्षण देने का उल्लेख **नैषधचरित**[6] में हुआ। **प्रबन्धकोश**[7] से सूचना मिलती है कि जयचन्द्र का दरबार विद्वानों एवं कवियों से भरा रहता था। राजशेखर-कृत **काव्यमीमांसा**[8] से स्पष्ट हो जाता है कि गाहड़वाल राजा केवल विद्या,

---

1. कृत्यकल्पतरु, पृ० 275, पंक्ति 3-4।
2. ए० इ०, जिल्द 4, पृ० 128-29।
3. कृत्यकल्पतरु, गृहस्थकाण्ड, पृ 44-45।
4. ए० इ०, जिल्द 14, पृ० 197-200;
   —इण्डिका, 1949, पृ० 31-37।
5. श्रीकण्ठचरित, पृ० 25 और आगे।
6. नैषधचरित, पृ० 95-109।
7. प्रबन्धकोश, पृ० 54।
8. काव्यमीमांसा, पूर्व निर्दिष्ट, प्रस्तावना, पृ० 12-13।

विद्वानों, कवियों एवं लेखकों के आश्रयदाता ही नहीं, वल्कि स्वयं उच्च कोटि के विद्वान् थे। लक्ष्मीधरकृत कृत्यकल्पतरु[1] से सूचना मिलती है कि राजा अपनी ख्याति के वर्णन तथा धार्मिक क्रिया-कलापों यथा, यज्ञ, दान, हवन, वेद-पाठ के सम्पादन हेतु पुरोहितों की नियुक्ति करते थे। कवि श्रीहर्ष के बारे में कहा गया है कि वह सिर्फ एक कवि ही नहीं था, वल्कि महान् दार्शनिक भी था। वह वेदान्त न्याय, वैशेषिक, वौद्ध-दर्शन और चार्वाक् आदि दर्शनों का प्रकाण्ड पंडित था[2]।

गाहड़वाल राजाओं के व्यक्तिगत धर्म एवं धार्मिक विश्वास

गाहडवाल राजाओं के व्यक्तिगत धर्मों का अध्ययन करने से ऐसा लगता है कि वे प्रतीहारों की भांति ही अनेक देवी-देवताओं की पूजा करते थे। चन्द्रदेव के चन्द्रावती ताम्रपत्र[3] (1100 ई० वि० सं० 1156) में उसे 'परमेश्वर परम-माहेश्वरः' की उपाधि दी गयी है। पीछे धार्मिक अवस्था की चर्चा के सिलसिले में उसके द्वारा आदि केशव के सामने तुला-पुरुष महादान की चर्चा की जा चुकी है। इसी राजा के दूसरे चन्द्रावती ताम्रपत्र अभिलेख[4] (वि०सं० 1148) का भी संदर्भ दिया जा चुका है जिसमें सूर्य और वासुदेव दोनों की पूजा करने का उल्लेख मिलता है। चन्द्रदेव के वि०सं० 1148[5], 1150[6], 1154[7] और 1156[8] के चारों अभिलेखों को ब्राह्मणों को दान देने के वर्णन मिलते हैं। वसही ताम्रपत्र लेख[9] (वि०सं० 1161) में चन्द्रदेव को मुस्लिम आक्रमणों से देश को वचाने वाला कहा गया है। चन्द्रदेव के वाद मदनपाल अथवा मदनचन्द्र (1104-1114 ई०) शासक हुआ। उसके समय के कुल 5 अभिलेख ज्ञात होते हैं। जिनमें 3 अभिलेख उसके पुत्र गोविन्दचन्द्र द्वारा प्रकाशित किए गये थे। चौथा उसकी रानी पृथ्वीसिका के दान से सम्बन्धित है। आखिरी और पांचवां उसका निजी अभिलेख[10]

1. कृत्यकल्पतरु, राजधर्मकाण्ड, पृ० 164 और आगे।
2. नियोगी, रोमा, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 232।
3. ए० इ०, जिल्द 14, पृ० 197-200 ; इहिक्वा 1949, पृ० 31-37।
4. ए० इ०, जिल्द 14, पृ० 302-5।
5. वही।
6. वही, जिल्द 14, पृ० 193-96 ; इहिक्वा 1949, पृ० 31-37।
7. इ० ए०, जिल्द 18, पृ० 9-14 ; ज० ए० सो० बं०, जिल्द 27, पृ० 220-41।
8. ए० इ०, जिल्द 14, पृ० 197-200 ; इहिक्वा 1949, पृ० 31-37।
9. इ० ए०, जिल्द 14, पृ० 101-04 ; ज० ए० सो० बं०, जिल्द 42, पृ० 314-21।
10. ए० इ०, जिल्द 14, पृ० 197-200।

कहा जा सकता है जिसमें उसके द्वारा वाराणसी में स्नान करने के बाद धन देने का वर्णन है।

कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख[1] में मदनचन्द्र की गरिमा का उल्लेख हुआ है, जिसमें कहा गया है कि मदनचन्द्र की राज्यश्री इन्द्र की तेजश्री से भी महान् थी। गाहडवाल राजा गोविन्दचन्द्र (1114-1154 ई०) के अभिलेखों[2] (वि०सं० 1177) में उसकी अन्य उपाधियों के साथ-साथ उसे परमेश्वर और परममाहेश्वर कहा गया है। उसकी रानी कुमारदेवी के अतैधिक सारनाथ अभिलेख[3] में कहा गया है कि एक मात्र गोविन्दचन्द्र ही संसार की रक्षा करने में समर्थ था तथा हिन्दुओं की धार्मिक नगरी शंकरपुरी को दुष्ट तुर्क सिपाहियों से बचाने के लिए भगवान् हर (शंकर) ने उसे हरि (विष्णु) स्वरूप भेजा था। बंगाल एशियाटिक सोसाइटी दानपत्र[4] (वि०सं० 1177) से सूचना मिलती है कि गोविन्दचन्द्र ने 'बैठी हुई लक्ष्मी' शैली वाले सोने, तांबे और चांदी के साथ मिली हुई धातुओं के सिक्के चलाए। उसके पूर्व के गाहडवाल सिक्कों की बनावट 'वृषभ अश्वारोही' शैली की थी, जो प्रारम्भ में उसकी शैव प्रवृत्ति के द्योतक हैं। राहन लेख[5] (वि० सं० 1166) में गोविन्दचन्द्र की रामदाशरथी से तुलना की गई है। तत्कालीन लेखक लक्ष्मीधर[6] ने कहा है कि गोविन्दचन्द्र मनुष्य के रूप में अवतरित अवश्य हुआ था, परन्तु देवताओं में बली इन्द्र के समान ही उसमें प्रताप विराजमान था, अर्थात् मनुष्य के रूप में वह इन्द्र था।

गोविन्दचन्द्र की रानी गोसलला देवी द्वारा भगवान् सूर्य के समक्ष दान देने की चर्चा अभिलेखों[7] (वि०सं० 1201) में मिलती है। पीछे धार्मिक अवस्था के वर्णन के सन्दर्भ में बौद्ध-धर्म की जो चर्चा की गई है उसमें गोविन्दचन्द्र की रानी कुमार देवी द्वारा बौद्ध-धर्म सम्बन्धी किए गए क्रिया-कलापों को वहां नहीं दिया गया है। उन्हें यहां प्रस्तुत किया जा रहा है। कुमारदेवी के सारनाथ लेख[8] से

---

1. ए०इ०, जिल्द 9, पृ० 319-28।
2. ए० इ०, जिल्द 18, पृ० 224-26;
   —ज० ए० एस० बी०, जिल्द 31, पृ० 123-24।
3. ए० इ०, जिल्द 9, पृ० 319-28।
4. ज० ए० सो० बं०, जिल्द 31, पृ० 123-24।
   —पाठक, वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 357।
5. इ० ए०, जिल्द 18, पृ० 14-19।
6. कृत्यकल्पतरु, पृ० 2, श्लोक 4।
7. ए० इ०, जिल्द 5, पृ० 115-116।
8. वही, जिल्द 9, पृ० 319-28।

ज्ञात होता है कि उसने सारनाथ में भारत का सर्वश्रेष्ठ विहार बनवाया था। इसी अभिलेख में अशोक विहार और धर्मचक्र की रक्षा करने का भी उल्लेख है। अभिलेख से स्पष्ट है कि सम्भवतः शैव मतावलंबी राजा गोविन्दचन्द्र की उस रानी (कुमार देवी) को अपना निजी (व्यक्तिगत) धार्मिक विश्वास बनाए रखने की पूरी छूट थी। गोविंदचन्द्र की दूसरी रानी का नाम बसन्ता देवी था और उसको भी बौद्ध कहा गया है[1]। गोविन्दचन्द्र ने स्वयं बौद्ध संन्यासियों को दान दिया था, इसका भी अभिलेखीय[2] (वि०सं० 1186) उल्लेख मिलता है। कहा गया है कि राजा ने वासुदेव और अन्य हिन्दू देवताओं की पूजा करने के बाद बौद्ध पंडित शाक्यरक्षित के कहने पर शाक्यभिक्षु-संघ को 6 ग्रामों का दान दिया।

गाहड्वाल राजा विजयचन्द्र के व्यक्तिगत धर्म के बारे में कोई विशेष जानकारी नहीं प्राप्त होती है। इसके पुत्र जयचन्द्र (1170-1194 ई०) ने करीब 16 अभिलेख प्रकाशित कराये थे। जयचन्द्र के पुत्र हरिश्चन्द्र के वि०सं० 1255-1298 ई० के एक दानपत्राभिलेख[3] में जयचन्द्र को परममाहेश्वर की उपाधि से सुशोभित किया गया है। धार्मिक अवस्था सम्बन्धी विवेचन में विजयचन्द्र और जयचन्द्र द्वारा मन्दिरों के निर्माण का उल्लेख हम कर चुके हैं। कमोली अभिलेख[4] (वि०सं० 1224) में जयचन्द्र को कृष्ण का भक्त कहा गया है। हम देखते हैं कि जयचन्द्र अपनी **परममाहेश्वर** की उपाधि भी धारण करता रहा तथा भगवान् कृत्तिवास की उपस्थिति में दान भी दिया[5]। बोधगया अभिलेख[6] के आधार पर ऐसा लगता है कि हर्षवर्धन की भांति एक बौद्ध भिक्षु के प्रभाव में आकर जयचन्द्र भी बौद्ध हो गया था। अभिलेख में कहा गया है कि जयचन्द्र ने दीक्षागुरु श्रीमित्र का सम्मान करने के बाद अत्यन्त हर्ष और प्रबल आकांक्षा से अपने को उसके चरणों में अर्पित कर दिया और उसका शिष्य हो गया। जयचन्द्र के बौद्ध धर्म से लगाव होने की सूचना कुछ मुस्लिम इतिहासकारों के ग्रंथों से भी होती है। कामिल-उत्-तवारीख[7] के लेखक इब्न उल अतहर शिहाबुद्दीन गौरी और जयचन्द्र के बाद भी घटना का वर्णन करते हुए कहता है कि गाहड्वाल राजा के हार जाने के कारण गौरी ने हाथियों के एक समूह को पकड़ लिया था। वह उन्हें अपने सामने उपस्थित

---

1. नियोगी, रोमा, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 199।
2. ए० इ०, जिल्द 11, पृ० 20-26 (सहेत-माहेत)।
3. ए० इ०, जिल्द 10, पृ० 92-100।
4. वही, जिल्द 4, पृ० 117-20।
5. इहिक्वा, 1929, पृ० 14-30।
6. वही।
7. इलियट एण्ड डाउसन, जिल्द 2, पृ० 251।

कराकर प्रदर्शन हेतु उनसे अपना अभिवादन कराने का आदेश दिया। वह लेखक कहता है कि सभी हाथियों ने तो अभिवादन किया, परन्तु एक सफेद रंग के हाथी ने अभिवादन नहीं किया[1]। बौद्ध धर्म ग्रंथों में सफेद हाथी को बुद्ध के जन्म से सम्बन्धि मानकर उसे अति पवित्र माना गया है। कुछ विद्वानों के अनुसार इस मुसलमान इतिहासकार का वर्णन उपर्युक्त अभिलेखीय वर्णन को समर्थन प्रदान करता है। वे कहते हैं कि सफेद हाथी ने अभिवादन इसलिए नहीं किया कि उसे पवित्र मानकर किसी को भी ऐसा न करने के लिए शिक्षित किया गया होगा। जयचन्द्र के अतिरिक्त अन्य राजाओं के बारे में कोई विशेष जानकारी नहीं होती। जयचन्द्र की हार एवं मृत्यु से गाहडवाल सत्ता धूल में मिल गई। जयचन्द्र के पुत्र हरिश्चन्द्र के मछली शहर अभिलेख (वि० सं० 1255) में उसे **परममाहेश्वर** कहा गया है। जो उसकी शैव प्रवृत्ति का द्योतक है।

प्रतीहार राजाओं की अपनी प्रजा के प्रति धार्मिक नीति

प्रतीहार राजाओं के धर्म के विषय में पीछे जो लिखा जा चुका है तथा अभिलेखों एवं साहित्यिक ग्रंथों से जो कुछ ज्ञात है उससे स्पष्ट होता है कि उस समय उत्तर भारतवर्ष में बहुत से धार्मिक सम्प्रदाय थे[2]। इन सम्प्रदायों में हिन्दू धर्म के प्रमुख सम्प्रदायों का विशेष जोर परिलक्षित होता है। प्रतीहार वंश के राजाओं द्वारा अलग-अलग देवताओं की पूजा करने की जानकारी होती है। इन देवताओं में विष्णु, शिव, सूर्य और भगवती के नामों का उल्लेख है। वंश के अधिकतर राजा अपने को या तो परममाहेश्वर[3] कहते हैं तथा शिव की पूजा करते हुए पाए जाते हैं अथवा वैष्णव दिखाये गये हैं। नागभट्ट प्रथम को सम्पूर्ण संसार की रक्षा करने वाला कहते हुए उसके देवी स्वरूप का वर्णन किया गया है और उसे विष्णु का अवतार माना गया है[4]। देवशक्ति को **परमवैष्णव** कहते हुए उसको देश की रक्षा करने में इन्द्र के समान बताया गया है। वत्सराज को शिव का भक्त कहा गया है और उसे '**परममाहेश्वर**' की उपाधि दी गयी है। नागभट्ट द्वितीय को **भगवती-भक्त**, रामभद्र को **सूर्य-भक्त** तथा महान् सम्राट् भोज को भगवति और

---

1. इलियट ऐंड डाउसन, जिल्द, 2, पृ० 251।
2. नियोगी, रोमा; पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 198।
3. ए० इ०, जिल्द 14, पृ० 182 और आगे।
4. भोज की ग्वालियर प्रशस्ति, श्लोक 4—

    तद्वन्शे प्रतिहारकेतनभृति त्रैलोक्यरक्षास्पदे ॥

    देवो नागभटः पुरातनमुनेर्मूर्तिबभूवाद्भुतं ॥

महेन्द्रपाल द्वितीय को **परममाहेश्वर** कहा गया है[1]। प्रतीहार राजाओं के व्यक्तिगत धर्म के विषय में जो अभिलेखों से जानकारी मिलती है, वह इस वात का स्पष्ट प्रमाण है कि वे हिन्दू धर्म के महान् रक्षक एवं आश्रयदाता थे। वंश का कोई भी राजा हिन्दू धर्म के प्रमुख देवताओं में किसी न किसी की भक्ति करता हुआ अवश्य पाया गया है।

किन्तु जैन ग्रन्थों में प्रतीहार वंश के राजा नागभट्ट द्वितीय के वारे में जैन धर्म स्वीकार करने की सूचना मिलती है। इस सम्वन्ध में पीछे हम विशेप रूप से चर्चा कर चुके हैं तथापि कुछ वातें और भी देखनी हैं। **स्कन्दपुराण**[2] कहता है कि राजा नागभट्ट द्वितीय के समय में अधर्म फैल रहा था। पाखण्ड (जैन) धर्म का प्रचार वड़ी तेजी पर था, क्योंकि कन्नौज का राजा नागभट्ट ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया था। **स्कन्दपुराण** के इस कथन का समर्थन राजशेखर सूरि के ग्रन्थ **प्रवन्धकोश**[3] से होता है जिसमें कहा गया है कि गोपालगिरी का राजा आम (नागभट्ट द्वितीय) **वप्पभट्टिसूरि** जैन आचार्य को अपना गुरु मानकर जैन धर्म का प्रचार करने लगा तथा जैन आचार्य के प्रभाव में आकर अपनी पुत्री का विवाह ब्रह्मावर्त के राजा कुमारपाल से कर दिया। कहा गया है कि जैन आचार्य अपने क्रिया-कलापों से आम को प्रभावित करते हुए राज्य के प्रमुख आचार्य पद पर पहुंच गया था। **स्कन्दपुराण**[4] आगे कहता है कि आम और कुमारपाल दोनों मिलकर जैन धर्म का प्रचार करने में जुट गये थे।

प्रवन्धकोश[5] से यह भी सूचना गिली है कि जैन आचार्य के राजपंडित पद पर प्रतिष्ठित होने के कारण व्राह्मणों ने अत्यन्त क्रोधित होकर विद्रोह कर दिया। जव सुरेन्द्र ने सुना तो उसने व्राह्मणों को सजा देने की वात कही, राजा ने आचार्य की आज्ञा का अनुमोदन किया **प्रवन्धकोश**[6] जैन आचार्य की महत्ता की सूचना देते हुए आगे कहता है कि राजा आम वप्पभट्टि से इतना प्रभावित था कि वह उसके पीछे-पीछे दौड़ा करता था। इस सन्दर्भ में वह वंगाल के राजा धर्मपाल और नागभट्ट द्वितीय के सम्वन्धों की चर्चा करता है और कहता है कि एक वार वप्पभट्टि धर्मपाल की राजधानी लखनौती चला गया तो आम भी उसका पीछा करते हुए गया। वहां धर्मपाल ने वाक्पति वौद्ध आचार्य और वप्पभट्टि

---

1. ए० इ०, जिल्द 14, पृ० 182।
2. स्कन्दपुराण, पूर्व निर्दिष्ट, 3 । 2 । 36 । 17-67।
3. प्रवन्धकोश, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 28; स्कन्दपुराण 3 । 2 । 36 । 47।
4. स्कन्दपुराण, 3 । 2 । 36 । 47।
5. प्रवन्धकोश, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 29।
6. वही, पृ० 33।

में संवाद इस शर्त पर कराया कि जो पक्ष हार जायेगा, उस पक्ष के राजा दूसरे पक्ष के राजा को अपना राजपाट दे देंगे। संवाद में धर्मपाल की तरफ का बौद्ध आचार्य पराजित हुआ। परिणामस्वरूप धर्मपाल ने अपना राज्य नागभट्ट को दे दिया, परन्तु बप्पभट्टि के कहने पर उसने उसका राज्य पुनः वापिस कर दिया।

किन्तु नागभट्ट द्वारा जैन धर्म स्वीकार करने की बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस बारे में जो सूचना प्रबन्धकोश देता है उसके लेखक जैन बप्पभट्टिसूरि का वर्णन अतिरंजित तो है ही, घटनाओं और तिथि के आधार पर भी गलत साबित होता है। इसके बारे में कुछ उदाहरण दिये जा सकते हैं। पहला उदाहरण तो यह है कि चौलुक्य राजा कुमारपाल से नागभट्ट द्वितीय ने अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। कुमारपाल का राज्यारोहण समय करीब 1143 ई० के आस-पास है और नागभट्ट द्वितीय का समय 800-833 ई० माना जाता है[1]। दोनों के बीच करीब 300 (तीन सौ) वर्षों का अन्तर पड़ता है, ऐसी स्थिति में यह विवाह सम्बन्ध कैसे सम्भव था। बप्पभट्टिसूरि ने जैन धर्म की लोकप्रियता के प्रदर्शन हेतु ही इतिहास को गलत मोड़ दिया है और ऊटपटांग बातें लिख डाली हैं। प्रबन्धकोश की गलत सूचना का दूसरा प्रमाण यह है कि उसने नागभट्ट और धर्मपाल जैसे दो जन्मजात शत्रुओं को आपस में इतनी आसानी से मिला दिया है जो राजनीतिक दृष्टि सर्वथा असम्भव है। उनके द्वारा (धर्मपाल द्वारा) अपनी ही राजधानी (लखनौती) में नागभट्ट के सामने एक मामूली बात (धार्मिक संवाद) पर हार कर अपना पूरा राजपाट छोड़ देना, एक सन्देहास्पद ही नहीं, प्रत्युत् बिल्कुल मनगढ़न्त बात जान पड़ती है। हम अगर द्वितीय नागभट्ट की राजनीति और सैनिक उपलब्धियों की तरफ ध्यान दें तो ग्वालियर प्रशस्ति से स्पष्ट होगा कि नागभट्ट ने धर्मपाल को युद्ध में बुरी तरह हराया[2]। नागभट्ट के विजित क्षेत्रों की सूची से भी स्पष्ट होता है कि उसने उन सभी प्रदेशों को अपनी अधिसत्ता मानने को विवश किया जो खालिमपुर अभिलेख के अनुसार धर्मपाल की अधिसत्ता मानने को विवश हुए थे[3]। ऐसी हालत में जहां दो राजा एक दूसरे के रक्त के प्यासे हों उनके सम्बन्ध में साधारण स्थिति में मेल-मिलाप दिखाने का प्रयास करना सर्वथा अस्वीकार्य है।

1, पाठक, वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 134।

2. पाठक, वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 138।
दुर्वारवैरिवरवारणवाजिवारयाणौघसंघटनघोरघनान्धकारम्।
निर्जित्य वंगपतीमाविर्भूद्विवस्वान्नुदयन्निव त्रिजगदेकविकासकोयः॥
(ग्वालियर प्रशस्ति, श्लोक 10)

3. पाठक, वि०, पूर्व निर्दिष्ट पृ० 139।

प्रश्न यह उठता है कि वप्पभट्टसूरि ने नागभट्ट को अथवा आमराज को जैन दिखाने का प्रयत्न क्यों किया? वास्तव में प्राचीन भारतीय अथवा मध्य-कालीन भारतीय इतिहास को देखने से यह ज्ञात होता है कि भारतवर्ष में प्रत्येक प्रकार के धर्मावलम्वी देश के राजाओं को अपनी ओर आकृष्ट करना चाहते थे और वे बार-बार यह दिखाना चाहते थे कि प्रमुख शासक उनके ही धर्मों को स्वीकार करते थे। उदाहरण के लिए कौशलराज प्रसेनजित और मगधराज बिम्बिसार को बुद्ध के प्रभाव में आकर बौद्ध ग्रन्थों में बौद्ध दिखाने का प्रयत्न किया गया है[1]। श्वान्-च्वांग हर्ष को महायान बौद्ध दिखाने का प्रयत्न करता है[2] तथा मेरुतुंग और अन्य जैन लेखक कुमारपाल को जैन दिखाने को प्रयत्न करते हैं[3]। सम्भवतः वप्पभट्टसूरि भी आमराज को जैन दिखाकर और अपना शिष्य बताकर अपने धर्म के गौरव को बढ़ाना चाहता था।

जहां तक स्कन्दपुराण का सम्बन्ध है उसमें आमराज को एक ही अध्याय[4] में ब्राह्मणभक्त, बौद्ध-धर्म में तत्पर तथा जैन धर्मावलम्वी तीनों ही रूपों में दिखाया गया है। पीछे हम देख चुके हैं[5] कि इस रचना पर जैन ग्रन्थों का प्रभाव हो सकता है। अतः उसके आमराज सम्बन्धी परस्पर विरोधी कथनों को बहुत महत्व देने की आवश्यकता नहीं है।

प्रतीहारकालीन संस्कृति और साहित्य का जो ज्ञान हमें तत्कालीन ग्रन्थों से मिलता है उससे स्पष्ट हो जाता है कि अनेक प्रतीहार राजा स्वयं भी विद्वान् और काव्य तथा कवि दोनों को सम्मान देते थे। महेन्द्रपाल और महीपाल के दरबारी कवि राजशेखर[6] से जो सूचना मिलती है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे सभी विद्याओं एवं भाषाओं के पोषक थे। भाषा की विविधता क्षेत्रीयता के आधार पर अवश्य थी। उनका कोई सांस्कृतिक कारण नहीं था। अभिलेखों से ब्राह्मण धर्म के विभिन्न धार्मिक ग्रन्थों के बारे में जानकारी प्राप्त होती है जिसका समर्थन राजशेखर के ग्रन्थों से भी होता है। यह प्रतीत होता है कि वास्तव में प्रतीहार राजा हिन्दू धर्म एवं संस्कृति के सच्चे

---

1. संयुत्तनिकाय, सारनाथ हिन्दी प्रकाशन, भाग 1, पृ० 71।
2. देखिये पीछे, पृ० 19-21।
3. प्र० चि०, हिन्दी अनुवाद, ह० प्र० द्विवेदी, पृ० 104-05।
   —जयसिंहसूरी, कुमारपालभूपालचरित, सर्ग 5 से 10;
   —प्रभावकचरित, 22। 426-477।
4. स्कन्दपुराण, 3। 2 36 वां अध्याय।
5. देखिये पीछे, पृ० 40।
6. काव्यमीमांसा, पूर्व निर्दिष्ट, अध्याय 7, पृ० 89 और आगे।

हिमायती थे। वैष्णव, शाक्त, शैव, सूर्य, आदि के मंदिरो एवं मठो के निरीक्षण का भार शैव आचार्यो[1] पर छोड़े जाने का सन्दर्भ शैव आचार्यो के प्रति विशेष सम्मान का सूचक है। प्रतीहार भोज अपने को भगवती का भक्त कहता है, किन्तु उसके द्वारा भी शैव आचार्य के लिये दान देने का उल्लेख मिलता है।

प्रतीहारों का दान देने का जो क्रम था वह अधिकतर हिन्दू धर्म से सम्बन्धित देवताओं के मन्दिरो एव संन्यासियों के पक्ष मे ही अधिक रहा जान पड़ता है। उन्होने बौद्ध भिक्षुओ को भी दान दिया। उनके द्वारा जैन धर्म के प्रति संरक्षण देने की बात **प्रबन्धकोश**[2] के अतिरिक्त अन्य कही मे नही ज्ञात होती। किन्तु, ऐसा कदापि नही लगता कि उन्होने किसी धार्मिक संप्रदाय के मानने वाले को सताया हो जिसकी जानकारी हमे न मिलती हो।

प्रतीहार शासक इस्लाम धर्म को धार्मिक चुनौती तो मानते ही थे। मुख्यतः उनका मुसलमानो से राजनीति और सैनिक विरोध था। मुसलमान उस समय अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा से प्रभावित होकर भारत की तरफ अपनी आखे लगाये हुए थे। वे भारत की धन-सम्पन्नता तथा सौन्दर्य को कुचल कर अपनी प्रभुता कायम करना चाहते थे। सच तो यह है कि अधिकाश मुसलमान आक्रमणकारी लुटेरे थे और प्रतीहार राजे उनसे अपने देश की रक्षा करने मे आठवी सदी के प्रारम्भ से ही लगे रहे[3]। अरब इतिहासकार अपने वर्णनो मे प्रतीहारो को मुसलमानो का सबसे बड़ा शत्रु मानते है। इसका कारण यही था कि प्रतीहार राजा अन्त तक मुसलमानो से अपने देश की संस्कृति और राजनीतिक-आर्थिक संप्रभुता बनाये रखने के लिए लड़ते रहे। वे मुसलमानो को अपने देश मे आकर मनमानी नही करने देना चाहते थे। प्रतीहारो ने मुसलमानों की महत्वाकाक्षा को बार-बार धराशायी किया। अगर प्रतीहार राजा मुसलमानों के खिलाफ जानबूझ कर यह नीति नही अपनाये होते तो सम्भव था कन्नौज पर 1019 ई० से पहले ही मुसलमान चढ आये होते और राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक दृष्टि से भारत के हृदय-स्थल कन्नौज प्रदेश को बहुत पहले ही नष्ट-भ्रष्ट कर दिये होते। अरब आक्रमणकारियों से बहुत अधिक दिनो तक यदि कोई भारतीय राजवंश लड़ता रहा तो वह प्रतीहार राजवंश ही था, जिसका प्रमाण भोज के ग्वालियर अभिलेख[4] से मिलता है। यही कारण था कि इतिहासकार

---

1. ए० इ०, जिल्द 14, पृ० 182।
2. प्रबन्धकोश, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 29 और आगे।
3. पाठक, त्रि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 186।
4 ए० इ०, जिल्द 1, पृ० 159 और आगे।

प्रतीहार राजाओं को दूसरे भारतीय राजाओं से बढ़ कर अपना शत्रु मानते थे[1]। प्रतीहार राजाओं की नीति अरबों के प्रति कठोर अवश्य थी, परन्तु वे उनकी भांति कपटी, कुटिल और असहिष्णु नहीं थे। उनमें धार्मिक कट्टरता नाम का कोई दोष नहीं था। मुसलमान हमेशा भारत में अरबों की शक्ति को बढ़ाना चाहते थे। स्कन्दपुराण भी अरबों से प्रतीहारों की शत्रुता की बात स्वीकार करता है[2]।

पीछे धार्मिक, सामाजिक और राजाओं के व्यक्तिगत धर्म का जो उल्लेख किया गया है उससे स्पष्ट होता है कि प्रतीहार राजा भारतीय धर्मो के प्रति पूर्ण रूप से उदार थे, उनकी धार्मिक नीति, सहिष्णुता और समानता तथा उदारता पर आधारित थी। नागभट्ट प्रथम से लेकर महेन्द्रपाल द्वितीय तक के सभी शासक हिन्दू धर्म के देवताओं के अलग-अलग पूजा करते पाये जाते हैं जो उनके धार्मिक स्वतंत्रता सम्बन्धी विचारों की परिचायक है महान् भोज ने भगवती का भक्त होते हुए अपने अन्तःपुर में विष्णु के मंदिर का निर्माण किया था[3] तथा शैव आचार्यो को अन्य सभी मठों के निरीक्षण अथवा देखभाल करने के लिए नियुक्त किया था। उसकी आदिवाराह[4] की उपाधि उसके वैष्णव धर्म के प्रति विशेष सम्मान की सूचक है। प्रतीहारों द्वारा बौद्ध भिक्षुओं को दान देने[5] की चर्चा उसके उदार दृष्टिकोण का ही परिचायक है।

प्रतीहार राजाओं ने ब्राह्मणों के प्रति जो सम्मान दिखाया है उसका मूल कारण भारतीय हिन्दू धर्म और संस्कृति के प्रति उनका लगाव ही प्रतीत होता है। राजशेखर ने प्रतीहारों की साहित्यिक रुचि और स्नेह का खुलकर परिचय दिया है। राजशेखर स्वयं ब्राह्मण था। कर्पूरमंजरी में[6] चर्चित राजा के विनोदी मंत्री (विदूषक) को ब्राह्मण कहा गया है। परम्परा से नियमतः वह पद ब्राह्मणों को ही दिया जाता था। वैदिक क्रियाओं एवं धर्म ग्रंथों में प्रशिक्षित विद्वानों का सम्मान प्रतीहारों द्वारा ब्राह्मण धर्म एवं संस्कृति के प्रति उनके सम्मान को प्रकट करना है। सामाजिक असमानता व पक्षपात का इससे कोई सम्बन्ध नहीं था। अतः यह बिना किसी सन्देह अथवा भय के कहा जा सकता है कि प्रतीहार राजा

---

1. इलियट एण्ड डाउसन, जिल्द 1, पृ० 4—23-24।
2. स्कन्दपुराण 1।1।14।24।
3. ए०इ० जिल्द 18, पृ० 87 और आगे।
4. पाठक, वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 150।
5. मैमोरीज ए०स०ओ०इं०, जिल्द 5, पृ० 64
6. कर्पूरमंजरी, प्रथम यवनिका, पृ० 30।

धार्मिक दृष्टि से स्वतंत्रता की नीति कायम किए हुए थे। सभी धर्मों और सम्प्रदायों के लोग अपने धार्मिक विश्वास के पालन में पूर्ण रूप से स्वतंत्र थे। सभी विद्वानों[1] ने प्रतीहार राजाओं को धार्मिक मामलों में सहिष्णु कहा है।

गाहड्वाल राजाओं की अपनी प्रजा के प्रति धार्मिक नीति

पीछे गाहड्वाल राजाओं के व्यक्तिगत विश्वासों के बारे में चर्चा की जा चुकी है। गाहड्वाल राजाओं द्वारा **परममाहेश्वर**[2] की उपाधि धारण करना उनकी शैव प्रवृत्ति का द्योतक है। हम गाहड्वालकालीन धार्मिक अवस्था का जब बारीकी से अध्ययन करते हैं तो प्रतीत होता है कि उस समय हिन्दू धर्म के साथ-साथ बौद्ध धर्म भी लोकप्रिय था। हिन्दू धर्म के मुख्य दो सम्प्रदाय अधिक ख्याति प्राप्त कर चुके थे। उनके देवताओं की प्रमुख अवसरों पर पूजा की जाती थी तथा उनकी उपस्थिति में (मूर्तियों के सामने) दान भी दिया जाता था। गाहड्वालों के क्रिया-कलाप यह स्पष्ट करते हैं कि वे हिन्दू देवताओं के प्रति विशेष श्रद्धा और आदर रखते थे। बाह्य तथा आंतरिक अभिलेखीय साक्ष्यों से यह साबित होता है कि गाहड्वाल विष्णु की विशेष रूप से पूजा करते थे। उनकी मुद्राओं पर गरुड़ का चित्र उनके वैष्णव धर्म के प्रति विशेष लगाव का परिचायक[3] है। अभिलेखों का प्रारम्भ भी प्रायः विष्णु की पत्नी लक्ष्मी की वन्दना से हुआ है। अनेक नामों के अन्तर्गत विष्णु की पूजा तथा दान का उल्लेख अभिलेखों में हुआ है। वंश के अन्तिम प्रसिद्ध राजा जयचन्द्र को कृष्ण का भक्त कहा गया है[4]। अभिलेखीय साक्ष्यों से वैष्णव धर्म की लोकप्रियता की जानकारी होती है, परन्तु ऐसा नहीं कि अन्य हिन्दू देवताओं का तिरस्ककार किया गया हो। ठीक इसी तरफ के सन्दर्भ शिव और सूर्य के लिए भी पाये जाते हैं। कहा जा चुका है कि गाहड्वाल **परममाहेश्वर**[5] की उपाधि धारण करते रहे। जयच्चन्द्र भले ही कृष्ण का भक्त था परन्तु उसने अपनी **परमाहेश्वर** की उपाधि कभी नहीं छोड़ी[6]। विष्णु के साथ-साथ शंकर के नामों का उल्लेख होता आया। गाहड्वाल राजाओं द्वारा काशी में शिव की उपस्थिति में दान देने का उल्लेख मिलता है। विष्णु

---

1. त्रिपाठी रा०शं० पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 291।
 —पुरी, बी०एन०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 146।
2. ए०इ०, जिल्द 14, पृ० 197; जिल्द 10, पृ० 93-100।
3. नियोगी, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 194।
4. इ०ए०, जिल्द 4, पृ० 117-20।
5. वही, जिल्द 14, पृ० 197।
6. वही, जिल्द 14, पृ० 117; नियोगी, पूर्व निर्दिष्ट पृ० 198।

एवं शिव के अतिरिक्त सूर्य भगवान् की पूजा करने की चर्चा अभिलेखों में है[1]। सूर्य के विभिन्न नामों के उलेख में लोलारक का बनारस के संदर्भ में विशेष महत्व है। आज भी लोलारक (सूर्य) की पूजा भाद्रपद की षष्ठी को हिन्दू लोग बड़े धूम-धाम से करते हैं। इस नाम का जहां मंदिर है वह लोलारक कुण्ड के नाम से जाना जाता है। गाहडवाल राजा गोविन्दचन्द्र की पत्नी गोसल्ला देवी द्वारा लोलारक की पूजा और दान का सम्बन्ध इसी मंदिर से प्रतीत होता है[2]। अभिलेखों में जयचन्द्र द्वारा भी लोलारक मंदिर के निमित्त दान देने की चर्चा मिलती है[3]। इस तरह यह बिल्कुल स्पष्ट है कि गाहडवाल राजा मुख्यत: सभी हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा के प्रति अपनी एक जैसी नीति रखते थे। गाहडवाल राजाओं के समय की सामाजिक अवस्था को देखने से भी यही ज्ञात होता है कि ब्राह्मण व्यवस्था का विशेष सम्मान था। ब्राह्मणों की बड़ी प्रतिष्ठा थी और वे पुरोहित[4] जैसे राज्य के मुख्य पदों पर आसीन थे। वे दरबारी कवि तो थे ही गाहडवालों के गुरु भी थे। लक्ष्मीधर ने मंत्री की जो योग्यता बतायी है[5] वह ब्राह्मणों की तरफ विशेष संकेत करता है। राजशेखर ने अपने ग्रंथ में कहा है कि गाहडवाल राजा स्वयं विद्वान् थे। और विद्वानों का आदर करते थे। कन्नौज विद्याध्ययन का महान् केन्द्र था। ऐसी हालत में यही कहना उचित प्रतीत होता है कि गाहडवालों ने प्रतीहारों की भांति ही हिन्दू धर्म के अगुवा ब्राह्मणों को सम्मान दिया, क्योंकि ब्राह्मण ही सनातन हिन्दू धर्मशास्त्रों के पंडित थे उनके साथ मिल कर हिन्दू धर्म और संस्कृति की रक्षा करने में लगे थे अतएव ब्राह्मणों के प्रति सम्मान हिन्दू धर्म और संस्कृति के प्रति सम्मान प्रकट करना था।

कुछ विद्वानों के मत[6] में कुछ अभिलेखीय साक्ष्य जयचन्द्र के बौद्ध-धर्म के प्रति उन्मुख होने की बात करते हैं, जिसका समर्थन मुसलमान इतिहासकारों[7] के वर्णनों से होता है। किन्तु जयचन्द्र के बौद्ध होने के सन्दर्भ में जो प्रमाण दिए गए हैं वे तर्कपूर्ण नहीं हैं। जयचन्द्र द्वारा बौद्ध भिक्षु श्रीमित्र के केवल सम्मान करने की बात मानी जा सकती है, क्योंकि वह संतों, कवियों एवं महात्माओं

---

1. वही, जिल्द 9, पृ० 1-5।
   —वही, जिल्द 14, पृ० 180-85
2. वही, जिल्द 5, पृ० 115-16।
3. ए०इ०, जिल्द, 4, पृ० 116 और आगे।
4. कृत्यकल्पतरु, राजधर्मकाण्ड, पृ० 164 और आगे।
5. वही, पृ० 22-24।
6. इण्डिक्वा, 1919, पृ० 14-30।
7. इलियट एण्ड डाउसन, पृ० 251।

को सम्मान देता था। प्राचीन शासक किसी भी धर्म के अनुयायियों से घृणा नहीं करते थे, बल्कि सम्मान ही देते थे। अतः जयचन्द्र द्वारा श्रीमित्र को अत्यधिक सम्मान देना उसकी सहृदयता, उदारता एवं तत्वजिज्ञासा का प्रतीक हो सकता है। यह उसके बौद्ध माने जाने का सशक्त प्रमाण नहीं है। हम अभिलेखीय साक्ष्यों से यह भी जानते हैं कि गोविन्दचन्द्र की दो रानियों बौद्ध मतानुयायी थीं[1] उनके द्वारा बौद्ध मठ एवं विहार बनवाने के बारे में उल्लेख किया जा चुका है। उपर्युक्त विवरणों से गाहडवालों की धार्मिक नीति की उदारता और सहिष्णुता बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। गोविन्दचन्द्र ने स्वयं हिन्दू देवताओं की पूजा करने के बाद बौद्ध संघ को दान दिया था[2]। अतः यह जाहिर होता है कि गाहडवालों के समय में धार्मिक स्वतन्त्रता पूर्णरूप से व्यवहृत थी और गाहडवाल राजे उत्तर भारतीय विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के प्रति पूर्ण उदार थे। प्रायः सभी विद्वानों ने गाहडवाल राजाओं को धार्मिक दृष्टि से उदार एवं सहिष्णु कहा है।[3]

गाहडवाल राजाओं के अभिलेखों में जो आर्थिक स्थिति का चित्र दिखायी देता है उसमें एक विषय ऐसा भी है जो अवान्तर रूप से धार्मिक नीति से संबद्ध है। अतः उस पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। अभिलेखों में गाहडवाल राजाओं द्वारा मुसलमानों से तुरुष्कदण्ड नामक एक प्रकार का कर लेने का वर्णन है जिसके आधार पर कुछ विद्वानों ने गाहडवालों को धार्मिक मामले में असहिष्णु कहा है तथा इस 'कर' को हिन्दू जजिया की संज्ञा दी है[4]। अन्य विद्वानों ने इस 'कर' को धार्मिक भाव से अलग रख कर उसका आधार मात्र

---

1. ए० इ०, जिल्द 9, पृ० 319-328; नियोगी, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 199।
2. ए०इ०, जिल्द11, पृ० 20-26 (संत-महंत अभि०)।
3. त्रिपाठी, रा०शं०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 355।
   —डा० त्रिपाठी के अनुसार गाहडवाल राजा सभी धर्मों के प्रति सहिष्णु थे और उन्हें संरक्षण प्रदान करते थे।
   —नियोगी, रोमा, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 195-98।
   नियोगी के अनुसार गाहडवाल राजा एक सच्चे हिन्दू थे और वे अन्य धर्मों के साथ उदारता एवं सहिष्णुता का व्यवहार करते थे।
   —मजुमदार र०च०, स्ट्रगल फॉर इम्पायर, पृ० 443, विद्याभवन, बम्बई, 1966।
   मजुमदार महोदय कहते हैं कि गोविन्दचन्द्र धार्मिक सहिष्णुता का आचरण अपनाता था जो उसके बौद्धों के प्रति व्यवहार से स्पष्ट है।
4. ए०इ०, जिल्द 9, पृ० 321 (स्टेनकोनो);
   —मजुमदार, बी०पी०, सो०इ०हि०ना०इ०, पृ० 126, कलकत्ता 1960

आर्थिक माना है[1]। परन्तु मेरी दृष्टि में मुसलमानों पर गाहडवालों द्वारा जो 'कर' लगाया गया है वह पूर्ण रूप से राजनैतिक प्रतीत होता है। अभिलेखों में इस 'कर' को 'तुरुष्कदण्ड' कहा गया है। इसके नाम से ही लगता है कि यह मुसलमानों पर दवाव डालने के लिए ही लगाया गया था। सम्भव है मुसलमानों के जो आक्रमण हो रहे थे उन्हें रोकने के लिये उनके ऊपर मानसिक दवाव डालने का प्रयास किया गया हो। इस 'कर' को यदि प्रतिशोधात्मक माना जाय तो उसका आधार राजनीतिक ही रहा होगा, न कि धार्मिक विद्वेष। यदि गाहडवाल राजा मुसलमानों का धार्मिक विरोध करना चाहते तो वे स्पष्ट रूप से मुसलमानों के धार्मिक एवं आर्थिक मामलों में दखल दे सकते थे। सचमुच धार्मिक विद्वेष होने पर उनपर मात्र 'कर' लगाकर ही वे अपनी विरोधी भावना नहीं संतुष्ट कर पाते। गाहडवालों से मुसलमानों के बीच धार्मिक विरोध न होने का प्रमाण मुसलमान लेखकों के कथनों से प्रकट होता है। उनके अनुसार मुसलमान गाहडवालों के राज्य में स्वतन्त्रतापूर्वक अपने धार्मिक अनुष्ठान पूरा करते थे[2]।

अत: निःसंकोच भाव से कहा जा सकता है कि गाहडवाल राजाओं की धार्मिक नीति, स्वतन्त्रता, उदारता और सहिष्णुता के सिद्धान्तों पर आधारित थी।

प्रतिहार और गाहडवाल राजाओं की धार्मिक नीति का राजनीतिक आधार :

पीछे प्रतिहार और गाहडवाल राजाओं व्यक्तिगत धर्म और विश्वासों के परिप्रेक्ष्य में उनकी धार्मिक नीति का जो विश्लेषण किया जा चुका है उसकी पूर्णता के लिए आवश्यक है कि यह देखा जाय कि क्या उनकी धार्मिक नीतियों का कोई राजनीतिक आधार भी था। सूक्ष्म रूप से देखने पर इस प्रश्न का उत्तर स्वीकारात्मक ही होगा। प्रतिहारों के कन्नौज में स्थापित होने के पूर्व सिन्ध और मुल्तान में अरबी मुसलमान अपना पैर अच्छी तरह जमा चुके थे। वे प्रतीहारों की गुजरात वाली शाखा को अपने बार-बार के आक्रमणों से ध्वस्त कर चुके थे। मुसलमानी इतिहासकारों के साक्ष्यों[3] तथा पुलकेशिराज अवनिजनाश्रय के नौसारि अभिलेख[4] से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे राजपूताना, गुजरात और

1. गोपाल, लल्लन जी, इ०ला०ना०इ०, पृ० 52, मोतीलाल बनारसीदास 1965।
—प्रो० लल्लन जी गोपाल गाहडवालों द्वारा प्रतिहारों की नीति जो आर्थिक मानने में थी उसका अनुसरण करने की बात करते हैं।
2. इलियट ऐंड हाउसन, पूर्व निर्दिष्ट, जि० 251।
3. इलियट ऐंड हाउसन, पूर्व निर्दिष्ट, जि० 1, पृ० 126।
4. पाठक, वि०, उद्धृत पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 129।

मध्य भारत के अनेक स्थानों में दूर-दूर तक धावे मारने लगे। चूंकि प्रतीहार शासकों के ऊपर उत्तर भारत के प्रमुख सत्ता के रूप में इन प्रदेशों की रक्षा का बड़ा भारी भार था, ये मुसलमान आक्रामक उनके सामने एक चुनौती के रूप में दिखाई देने लगे। साथ ही मुसलमान हिन्दुओं पर आक्रमण कर उनके क्षेत्रों को हड़प लेने मात्र से ही सन्तुष्ट नहीं थे, वे उन्हें जबरदस्ती मुसलमान भी बना रहे थे। भारतीय जनता और उनके रक्षक के रूप में प्रतीहारों और गाहड्वालों के सामने मुसलमान साक्षात् अधर्म की मूर्ति के रूप में दिखाई देने लगे और वे म्लेच्छ कहे जाने लगे।

हिन्दू अवतारवाद सिद्धान्त के अन्तर्गत यह विश्वास किया जाता था कि जब-जब इस प्रकार के अधर्म का प्रादुर्भाव होता था तो धर्म की स्थापना के लिए विष्णु का अवतार होता था[1]। प्रतीहार शासकों ने मुसलमानों द्वारा जबरदस्ती धर्म-परिवर्तन की नीति रूपी अधर्म को समाप्त करने के लिए अपने को नारायण, विष्णु, वराह अथवा सूर्य माना, जिसके उल्लेख भोज की ग्वालियर प्रशस्ति तथा वरह अभिलेख के विभिन्न स्थलों पर नागभट् प्रथम, नागभट्ट द्वितीय, रामभद्र और मिहिरभोज जैसे राजाओं सन्दर्भ में आते हैं[2]। इस प्रकार के उल्लेख गाहड्वाल साक्ष्यों में भी मिलते हैं। उदाहरण के लिए गोविन्दचन्द्र के सन्धि-विग्रहिक लक्ष्मीधर का अपने ग्रन्थ कृत्यकल्पतरु[3] में कथन है कि गोविन्दचन्द्र ने 'अपनी वीरता के बार-बार प्रदर्शन से हम्मीर अर्थात् अमीर को अपना त्याग देने के लिए विवश किया था'। इसी प्रकार गोविन्दचन्द्र की रानी कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख[4] से ज्ञात होता है कि शंकर ने गोविन्दचन्द्र को मानो विष्णु के अवतार के रूप में अपनी नगरी काशी की दुष्ट तुर्कवीर से रक्षा करने के लिए पृथ्वी पर भेजा था। बड़ा स्पष्ट है कि मुहम्मद गोरी द्वारा भारतवर्ष में मुसलमानी साम्राज्य स्थापित करने के पूर्व भी महमूद गजनी के वंशज और लाहौर से शासन

---

1. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
   अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥7॥
   परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
   धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥8॥
   (गीता, अध्याय 4)
2. ए० इ०, जिल्द 1, पृ० 159 (ग्वालियर अभिलेख);
   —वही, जिल्द 14, पृ० 175 (वरह अभिलेख)
3. कृत्यकल्पतरु, दानकाण्ड, भूमिका पृ० 48।
   पाठक, वि० पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 352।
4. ए०इ०, जिल्द 9, पृ० 319-28।

करने वाले यमीनी तुर्कों ने समस्त उत्तर भारत पर एक जबरदस्त सैनिक आतंक उपस्थित कर रखा था। दिवानेसल्मा और अन्य मुस्लिम साक्ष्यों[1] से यह ज्ञात होता है कि लाहौर के तुर्कों ने मदनपाल गाहडवाल के समय बनारस तक लूट-पाट की और उन्होंने उस गाहडवाल शासक को कैद भी कर लिया। अपने पिता को तुर्कों की कैद से मुक्त कराने के लिए गोविन्दचन्द्र को एड़ी-चोटी का पसीना एक करना पड़ा होगा और आश्चर्य नहीं है कि इस महान् कार्य की उपलब्धि स्वरूप वह अपने को विष्णु का अवतार मानने लगा। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतीहार और गाहडवाल शासक व्यक्तिगत विश्वास में तो शैव धर्म एवं सूर्यपूजा की ओर अधिक आकृष्ट थे किन्तु मुसलमानों से अपने क्षेत्रों को मुक्त कराने में अपने को विष्णु का रूपक देते हुए वे अपने को वैष्णव भी समझते थे। किन्तु उनका वैष्णव होना एक सीमित अर्थ में ही सही प्रतीत होता है।

प्रतीहार और गाहडवाल दोनों ही वंशों के शासकों ने मुसलमानों को रोकने के लिए बार-बार प्रयत्न किये। सुलेमान सौदागर[2] मिहिरभोज को इस्लाम का सबसे बड़ा शत्रु कहता है और अलमसूदी[3] महीपाल की सभी दिशाओं की विशाल सैनिक संख्याओं का उल्लेख करता है। हमें यह भी ज्ञात होता है कि प्रतीहारों ने मुसलमानों को सिन्ध और मुल्तान तक सीमित रहने को बाध्य कर दिया[4], साथ ही उनके दबाव से बचने के लिए मुसलमानों ने मुल्तान के सूर्य मन्दिर और उनकी मूर्ति को तोड़ने से बचा रखा था और जब भी प्रतीहारों का दबाव उन पर होता था वे उस सूर्य मूर्ति को तोड़ने की धमकी देकर अपने को बचा लेते थे और प्रतीहार सेनायें पीछे लौट जाती थीं[5]। राजनीतिक दृष्टि से प्रतीहारों की यह जबरदस्त भूल थी। मुसलमानों ने इस प्रकार के छद्म से अपने को बचा लिया और प्रतीहारों ने हमेशा के लिए देश के पैरों में मुसलमानी कांटे को बने रहने दिया, किन्तु प्रतीहारों की इस राजनीतिक एवं सैनिक मूर्खता के पीछे भी एक धार्मिक आदर्श था और वह आदर्श यह था कि किसी भी मूल्य पर वे किसी धर्म के मन्दिर अथवा देवी-देवता का नाश नहीं देख सकेंगे। वैसा देखना तो दूर रहा, वे सभी धर्मों के देवी-देवताओं, मन्दिरों एवं मठों, पुरोहितों एवं पुजारियों, विद्वानों एवं सन्तों तथा आचार्यों एवं महात्माओं को सहायता और दान देते रहना ही अपना परम कर्तव्य मानते थे।

---

1. पाठक, वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 351।
2. इलियट एण्ड डाउसन, पूर्व निर्दिष्ट, जिल्द 1, पृ० 4।
3. वही, पृ० 21 और आगे; पाठक, वि० पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 159।
4. पाठक वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 186।
5. इलियट एण्ड डाउसन, पूर्व निर्दिष्ट, जिल्द 1, पृ० 4 और आगे।

यहां गाहड़वालों द्वारा लगाए गए 'तुरुष्कदण्ड' पर भी विचार करना चाहिए। हम पीछे[1] यह देख चुके हैं कि इस बात पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है कि इसका स्वरूप आर्थिक था अथवा राजनैतिक। 'तुरुष्कदण्ड' का अर्थ प्रतीत होता है—तुर्कों पर लगाया जाने वाला दण्ड। यदि यह तात्पर्य सही मान लिया जाय तो यह दण्ड अथवा 'कर' एक सम्प्रदाय विशेष पर कुछ विभेदीकरण की नीति के आधार पर लगाया हुआ 'कर' अथवा दण्ड प्रतीत होगा। इसी कारण कुछ विद्वानों ने उसे हिन्दू जजिया की संज्ञा दी है। किन्तु यह तुलना सही नहीं प्रतीत होती। मुसलमान शासकों ने हिन्दुओं पर जजिया इसलिए लगाया कि उनकी दृष्टि में धार्मिक व राजनीतिक सिद्धान्तों के अनुसार हिन्दुओं को हिन्दू रूप में जीने देने का एक ही विकल्प था। उनके धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार हिन्दू काफिर ठहरते थे और उनके लिए दो ही रास्ते थे—या तो वे तलवार के घाट उतार दिए जायं अथवा मुसलमान बना दिये जायं। किन्तु भारतवर्ष में हिन्दुओं की संख्या इतनी अधिक थी कि उन सबको मुसलमान धर्म में जबरदस्ती दीक्षित कर लेना अथवा तलवार के बल पर उन्हें पूर्णतः समाप्त कर देना दोनों ही असम्भव था। अतः भारतवर्ष में अपनी सैद्धान्तिक विवशता को छिपाने के लिए कट्टर मुसलमानी शासकों ने जजिया की पद्धति निकाली जिसका एक दोहरा लाभ यह था कि लगे हाथ उनका राजकोष भी भरता रहता था। किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि गाहड़वालों ने अपने राज्य के भीतर रहने वाले मुसलमानों को या तो एकदम साफ कर देने का निश्चय कर लिया हो अथवा उनपर इसलिये 'तुरुष्कदण्ड' लगाया हो कि वे मुसलमान थे। सम्भवतः इस 'कर' का उद्देश्य यह था कि राज्य के भीतर रहने वाले मुसलमानों को सद्व्यवहार के लिए विवश किया जाय और उस समुदाय के अत्याचारी सदस्यों को दण्डित करने के लिए ही इस 'कर' की व्यवस्था हुई होगी। इसके पीछे कोई धार्मिक विद्वेष भावना नहीं प्रतीत होती।

किन्तु 'तुरुष्कदण्ड' का एक दूसरा भी तात्पर्य हो सकता है जो विद्वानों के विचारार्थ नीचे प्रस्तावित किया जा रहा है। दण्ड का अर्थ होता है—बल अथवा सेना। तुर्कों को रोकने के लिए संभवतः गाहड़वालों को एक बड़ी सेना की आवश्यकता थी। उस सेना की भर्ती एवं रख-रखाव के लिए काफी धन की आवश्यकता पड़ती। ऐसी स्थिति में 'तुरुष्कदण्ड' का अर्थ हो सकता है तुर्कों के विरुद्ध प्रयुक्त की जाने वाली सेना और उस सेना के वेतन आदि के लिए लगाया जाने वाला 'कर'। ऐसी स्थिति में यह 'कर' तुर्कों पर नहीं बल्कि राज्य के सभी

---

1. देखिए पीछे, पृ० 57-58।

वर्गों पर लगता रहा होगा और उसमें हिन्दू भी सम्मिलित रहे होंगे। यदि इस नये अर्थ को स्वीकार कर लिया जाय तो 'तुरुष्कदण्ड' के सम्बन्ध में अब तक के सभी विचारों को त्याग देना होगा।

प्रतीहार और गाहड़वाल राजाओं की धार्मिक नीति विशेषत: मुसलमानों के प्रति उनके व्यवहार को सही रूप में समझने के लिए उनके प्रतिद्वन्द्वी हिन्दू राजाओं के व्यक्तिगत धर्मों एवं धार्मिक नीतियों पर भी दृष्टिपात करना चाहिए। प्रतीहारों के पूरब में उनके चिरन्तन शत्रु थे—बिहार और बंगाल के पाल शासक, जो बिना अपवाद के बौद्ध थे[1]। दक्षिणापथ के उनके शत्रु थे राष्ट्रकूट, जिनमें अधिकांश तो हिन्दू थे, किन्तु कुछ जैन मतावलम्बी भी थे[2]। पीछे हम देख चुके हैं कि प्रतीहार शासकों में कोई भी बौद्ध अथवा जैन नहीं था। नागभट्ट द्वितीय के भी जैन होने पर हम संदेह प्रकट कर चुके हैं[3]।

इन दोनों राजनीतिक शत्रुओं के अन्य धर्मावलम्बी होने के कारण भी प्रतीहार अपने हिन्दू धार्मिक विश्वासों में बड़े चुस्त रहे होंगे। भारतीय इतिहास को यदि बारीकी से देखा जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि विदेशियों को जितनी आसानी से बौद्धों एवं जैनों ने स्वीकार किया[4] वैसा ब्राह्मण धर्ममतावलम्बियों ने नहीं किया। मुसलमानी साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि बलहर शासक (बलभद्र अर्थात् राष्ट्रकूट) अरबों के मित्र थे। अनेक मुसलमानी लेखकों ने अरबों के प्रति राष्ट्रकूटों की इस मित्रता का उल्लेख करते हुए प्रतीहारों को उनका सबसे बड़ा शत्रु कहा है[5]। प्राचीन भारतीय अन्तरराज्यीय नियमों के अनुसार शत्रु का शत्रु अपना मित्र होता है और शत्रु का मित्र अपना शत्रु होता है। इस नियम के अनुसार राष्ट्रकूटों के मित्र अरब लोग स्वाभाविक रूप से प्रतीहारों के शत्रु थे। अतः यदि प्रतीहारों के अभिलेख मुसलमानों को म्लेच्छ कहते हैं और उनको नष्ट करने में अपने राजाओं को विष्णु अथवा नारायण की संज्ञा देते हैं तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

किन्तु, इस कारण प्रतीहारों ने मुसलमानों पर मुसलमान होने के नाते कोई अत्याचार किया हो अथवा अपने व्यवहार में उनके प्रति किसी धार्मिक कट्टरता का परिचय दिया, इसका कोई प्रमाण नहीं। वास्तविकता तो यह है कि उन्होंने

---

1. देखिए मजुमदार, र०चं०, पूर्व निर्दिष्ट, धार्मिक अवस्था सम्बन्धी अध्याय।
2. अल्तेकर, अ०स०, राष्ट्रकूटाज एण्ड दीयर टाइम्स, पृ० 269।
3. देखिए पीछे, पृ० 39 40।
4. उदाहरण के लिए देखिये—पाण्डेय, राजबली, संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्य —पाठक, वि, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 539।
5. अल्तेकर, अ०स०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ०

अपने राजनीतिक शत्रु पालों की बौद्ध प्रजा के प्रति भी उतनी ही धार्मिक सहिष्णुता और उदारता दिखाई जितनी अपनी हिन्दू प्रजा के प्रति दिखाई थी। इसका ज्वलंत उदाहरण महेन्द्रपाल प्रथम के अभिलेखों से प्राप्त होता है। महेन्द्रपाल ने अपने पाल शत्रु नारायणपाल से पश्चिमी और मध्य बिहार छोटा नागपुर, संथाल परगना और उत्तरी बंगाल का बहुत बड़ा भाग छीन अपने राज्य में मिला लिया था[1]। उसके अधिकांश अभिलेख इन्हीं क्षेत्रों से प्राप्त हुए है। किन्तु उनमें से अनेक में इस बात के उदाहरण मिलते हैं कि उसने बौद्ध मठों एवं विहारों को भूमि दान किया, भिक्षुओं को सहायता दी और इस प्रकार की अनेक उदारतायें बरतीं।

महेन्द्रपाल के अभिलेखों की संख्या भोज के अभिलेखों से भी अधिक है जिनमें अधिकांश दानपरक हैं। उनमें मुख्य हैं—893 ई० का चालुक्यवंशी महासामन्त अवनिवर्मन (प्रथम) के पुत्र बलवर्मन् के तरुणादित्देव (सूर्य) के मंदिर को दिए जाने वाले ग्रामदान को अंकित करने वाला ऊणा (काठियावाड़) अभिलेख। इसी प्रकार आहाड़ से दस अभिलेखों[2] का एक संग्रह मिला है। जिनमें कम से कम तीन महेन्द्रपाल के समय के हैं। उपर्युक्त प्रायः सभी अभिलेख ऐसे स्थानों से प्राप्त हुए हैं जो प्रतीहार साम्राज्य में भोज के समय अथवा उससे भी पूर्व से शामिल थे। लेकिन इनके अतिरिक्त बिहार और बंगाल से प्राप्त होने वाले भी अनेक प्रतीहार अभिलेख हैं जो महेन्द्रपाल के समय में प्रकाशित किए गए थे। उनमें व्यक्तिगत लोगों द्वारा मंदिर आदि के निर्माण तथा मंदिरों अथवा ब्राह्मणों को दिए जाने वाले दानों को अंकित किया गया है[3] इनमें अनेक दान बौद्धों और बौद्ध मठों को दिए गए हैं। बौद्ध संघ के प्रति इन सहायताओं एवं उदारता से यह भली प्रकार साबित हो जाता है कि महेन्द्रपाल एवं अन्य प्रतीहार राजाओं ने अपने राज्य क्षेत्र में पड़ने वाली सारी प्रजा के धार्मिक विश्वासों को आदर की दृष्टि से देखा तथा समान रूप में उनके प्रति सहिष्णुता एवं उदारता बरती। उन्होंने सभी के देवी-देवताओं की पूजा की और उनके मन्दिरों मठों, विहारों, संघों और गोष्ठियों की आवश्यकता होने पर अथवा अवसर आने पर दान दिए। महेन्द्रपाल प्रतीहार ने नारायण पाल द्वारा शासित बौद्ध क्षेत्रों को तो जीता किन्तु वहां की बौद्ध प्रजा के विश्वासों और उनके धार्मिक संस्थाओं में किसी प्रकार की खलल नहीं डाली।

---

2. पाठक, वि० पूर्व निर्दिष्ट, पृ०

1. ए०इ०, जिल्द1 9, पृ० 52 और आगे।

2. पाठक, वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 151।

गाहडवाल राजाओं ने भी अपने प्रतीहार पूर्ववर्तियों की धार्मिक उदारता की नीति का पूरी तरह अनुसरण किया। पीछे हम देख चुके हैं[1] कि वे भी कहीं शैव दिखाये गए हैं, कहीं वैष्णव। अन्य देवी-देवताओं की भी पूजा करते हुए पाये जाते हैं। वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि जैसी स्थिति आज के हिन्दुओं में है, वह अपने आस-पास के सभी देवी-देवताओं के मंदिरों में जाता है तथा उनकी पूजा करता और प्रसाद चढ़ाता है, वह ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य, शिव, गणेश, अग्नि, हनुमान चण्डी अथवा ऐसे अनेकानेक देवताओं में कोई अन्तर नहीं करता, वही दृष्टि प्रतीहार और गाहडवाल राजाओं में भी थी। पौराणिक धर्म और विश्वासों की यह विशेषता कदाचित् गुप्तकाल के बाद ही भारतीय इतिहास में व्यवहार में लाई जाने लगी थी।

गुर्जर प्रतीहार और गाहडवाल शासक भी इस नियम के अपवाद नहीं प्रतीत होते। गाहडवाल शासक तो अपने परिवार में भी धार्मिक सहिष्णुता के इस सिद्धान्त का पूर्ण परिचय देते हुए दिखाई देते हैं। गोविन्दचन्द्र ने राष्ट्रकूट वंश उत्पन्न पीठी के राजा देवरक्षित की पुत्री कुमार देवी से विवाह किया था[2]। कुमार देवी सहित देवरक्षित का सारा परिवार ही बौद्ध था। साथ ही पाल शासक रामपाल के मामा मथनदेव की दौहित्री थी। इस प्रकार कुमार देवी से विवाह करके गोविन्दचन्द्र ने बौद्धों के कई परिवारों से एक साथ मित्रता कर ली जिसका राजनीतिक लाभ उसने अपने राजनीतिक जीवन के प्रारम्भ में मुसलमान आक्रान्ताओं को अपने राज्य से पीछे ढकेल देने में पूरी तरह उठाया। किन्तु इस विवाह का स्वरूप केवल राजनीतिक ही नहीं था। कुमार देवी बौद्ध के रूप में पूर्णतः बराबरी के अधिकार के साथ हिन्दू धर्मावलम्बी गोविन्दचन्द्र की रानी के रूप में उसके साथ रहती थी। यही नहीं उसने सारनाथ में बौद्ध भिक्षुओं के लिए एक बढ़िया विहार बनवाया[3]। उन्हें दान दिया और उनके लिए अनेक व्यवस्थायें कीं। उस रानी की हिन्दू धर्म के प्रति उदारता उसके सारनाथ अभिलेख से बड़े स्पष्ट रूप से सामने आती है जिसमें विष्णु और शंकर तथा शिव की नगरी वाराणसी एवं विष्णु के अवतार के रूप में गोविन्दचन्द्र का अत्यन्त आदर के साथ उल्लेख किया गया है[4]। गोविन्दचन्द्र की दूसरी रानी भी बौद्ध थी। गोविन्दचन्द्र और उसके परिवार की यह धार्मिक सहिष्णुता और अनेक धर्मों को मानने वाले एक

---

1. देखिए पीछे, पृ०45-49।
2. पाठक, वि० पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 358
3. देखिए पीछे, पृ० 40।
4. देखिए पीछे, पृ० 47।

ही परिवार के अनेक सदस्यों के एक साथ मिल-जुलकर रहने का उदाहरण उनकी राजधानी काशी में आज भी दिखायी देता है। काशी में अग्रवालों के अनेक परिवार ऐसे हैं जिनमें जैन और वैष्णव लोग साथ-साथ रहते हैं तथा जैन और वैष्णव परिवारों में विना किसी सामाजिक रुकावट के विवाह, भोजन-छाजन और एक दूसरे के मंदिरों में आना-जाना होता है।

अध्याय—4

कलचुरि एवं चन्देल राजाओं की धार्मिक नीति

भूमिका

कलचुरियों की अनेक शाखाओं में त्रिपुरी अथवा डाहल के कलचुरि अधिक शक्तिशाली और प्रसिद्ध हुए, जिन्होंने 300 वर्षों तक उत्तर भारतीय राजनीति में महत्वपूर्ण भाग लिया। कलचुरि राजा मात्र विजेता ही नहीं अपितु धार्मिक एवं सांस्कृतिक कार्यों के लिए अनुश्रुत हो चुके हैं। कलचुरि राजाओं के शासन तथा धर्म सम्बन्धी ज्ञान के मुख्य स्रोत के रूप में अभिलेखीय साक्ष्य अधिक महत्वपूर्ण हैं, जिनमें तत्कालीन धर्म, समाज और साहित्य का विपद् वर्णन प्राप्त होता है। अभिलेखों के अलावा साहित्यिक ग्रन्थों से भी कलचुरि इतिहास पर प्रकाश पड़ता है जिनमें **प्रबन्ध चिन्तामणि**[1], **विक्रमाङ्कदेवचरित**[2] राजशेखर[3] के ग्रन्थ एवं तत्कालीन कलचुरि दरबार में रहने वाले अन्य कवियों के ग्रन्थों की गणना की जा सकती है। अभिलेखों एवं साहित्यिक ग्रन्थों में राजाओं के व्यक्तिगत धर्मों एवं उनके धार्मिक क्रिया-कलापों की चर्चायें हैं जिनके परिप्रेक्ष्य में ही उनकी धार्मिक नीति निश्चित की जा सकती है।

---

1. प्रबन्ध चिन्तामणि, हिंदी भाषान्तर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, सिंघी ग्रंथमाला, 1940।
2. विक्रमांकदेवचरित, ब्हूलर, बम्बई, 1875।
3. काव्यमीमांसा, बड़ौदा संस्कृत सीरीज, 1926;
   विद्धशालभंजिका, अनुवादक, पूर्व निर्दिष्ट, वाराणसी, 1965।

कलचुरि राजाओं के समय की साधारण धार्मिक अवस्था

कलचुरि राजाओं के समय उनके राज्य क्षेत्र बघेल खण्ड में हिन्दू धर्म के साथ-साथ बौद्ध एवं जैन धर्म की लोकप्रियता के प्रभूत उदाहरण मिलते हैं। हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय एवं उनके अनेक देवताओं के बारे में अभिलेखों से जानकारी होती है जिसका आगे वर्णन किया जायेगा।

शैव धर्म

कलचुरि राजाओं के शैव धर्म के प्रति लगाव की चर्चा अभिलेखों में की गई है। वंश के तीन राजा कृष्णराज, शंकरगण और बुद्धराज को कलचुरि दान-पत्रों में परममाहेश्वर[1] अर्थात् शिव का अनन्य भक्त कहा गया है। कृष्णराज के समय में पाशुपत सम्प्रदाय की लोकप्रियता के उदाहरण मिलते हैं[2]। कारीतलाई अभिलेख[3] में रुद्र के नाम के अन्तर्गत शिव की स्तुति की गई है। अन्य कलचुरि अभिलेखों[4] में राजा तथा उनकी पत्नियों द्वारा शिव के मंदिर निर्माण कराने की चर्चाएं मिलती हैं। उपर्युक्त वर्णन के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि शैव धर्म आठवीं सदी से लेकर 12 वीं सदी तक कलचुरि राजाओं के राज्य में खूब प्रचलित रहा और उसकी लोकप्रियता भी भरपूर रूप से कायम रही। बघेलखण्ड में शैव संस्कृति के विकास का समय संभवतः युवराज प्रथम का राज्यकाल रहा जिसमें शैव आचार्यों को विशेष संरक्षण एवं सुविधाएं प्राप्त हुई[5]।

अभिलेखों से सूचनायें मिलती हैं कि कलचुरि नरेश अपने देवताओं की पूजा के निमित्त तीर्थ यात्रायें भी किया करते थे। वे अपने साथ सामन्तों एवं अधिकारियों को ले जाते थे तथा बड़ी धूम-धाम से अपने इष्ट देव की पूजा अथवा अर्चना करते थे बिलहरी अभिलेख[6] में सोमनाथ स्वामी की लक्ष्मणराज द्वितीय द्वारा इसी तरह पूजा करने का उल्लेख है। अभिलेखों[7] में शिवलिंग की पूजा

---

1. का०इ०इ०, जिल्द 4, भूमिका, पृ० 147।
2. का०इ०इ०, जिल्द, खण्ड 1, पृ० 41।
3 वही, पृ० 181।
4. वही, पृ० 191;
   —वही, पृ० 396 तथा 317।
5. का०इ०इ०, जिल्द 4 खण्ड 1, भूमिका, पृ० 150।
6. वही, पृ० 160।
7. वही, खण्ड 2, पृ० 635; ए०इ०, जिल्द 2, पृ०1-7।

करने के भी सन्दर्भ मिलते हैं। कलचुरि राजाओं द्वारा अनेक शैव मंदिरों एवं मठों के निर्माण कराने के जो खल्लेख अभिलेखों में किए गये हैं उससे शैव धर्म को उनके द्वारा विशेष संरक्षण प्रदान करने की जानकारी होती है। गुर्गी में[1] 'हर' की महान मूर्ति स्थापित कराने की चर्चा अभिलेखों में मिलती है। अनेक शिव मंदिरों में कर्णभेरु, अलंघेश्वर तथा एलीफेण्टा के मन्दिर विशेष उल्लेखनीय हैं। एलीफेण्टा गुफा का निर्माण उस समय हुआ जब कलचुरि सक्ष अपने विकास पर थी[2]। मंदिरों के अलावा शैव संन्यासियों के लिए मठ, तालाब तथा बगीचे एवं कुएं आदि का कलचुरियों द्वारा निर्माण कराने का उल्लेख मिलता है[3]। उपर्युक्त साक्ष्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शैव धर्म तत्कालीन समाज में विशेष लोकप्रिय था।

वैष्णव धर्म

कलचुरि राज्य में शैव धर्म के साथ-साथ वैष्णव धर्म की लोकप्रियता भी थी। इसकी सूचना अभिलेखों से मिलती है। विष्णु के अनेक नामों का उल्लेख अभिलेखों में पाया जाता है[4] जिनके माध्यम से उनकी प्रार्थनाएं भी की गई हैं[5] कलचुरि राजाओं द्वारा अनेक भव्य एवं विशालकाय विष्णु मंदिर बनवाने के भी उल्लेख हैं। कारीतलाई[6] अभिलेख में सोमस्वामी नाम के अन्तर्गत वराह रूपी विष्णु देवता को मंदिर समर्पित करने की चर्चा है। अभिलेखों से यह भी सूचना मिलती है कि कुछ कलचुरि नरेश परमवैष्णव[7] थे। उपर्युक्त साक्ष्यों से यह तो स्पष्ट ही है कि विष्णु को विभिन्न नामों के अन्तर्गत मान्यता प्राप्त थी। साथ ही कलचुरि राजाओं की मुद्राओं पर चतुर्भुज लक्ष्मी की प्रतिमा का विद्यमान होना कम महत्वपूर्ण नहीं है। लक्ष्मी को विष्णु की अर्द्धांगिनी के रूप में माना जाता है। अतः लक्ष्मी की प्रतिमा का कलचुरियों की मुद्राओं पर विराजमान होना उनके वैष्णव धर्म के प्रति लगाव का सूचक है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि कलचुरि राज्य में शैव और वैष्णव दोनों धर्म अबाध रूप से प्रचलित थे और उन्हें राजाओं का विशेष समर्थन प्राप्त था।

---

1. का०इ०इ०, जिल्द 4, खण्ड 1, पृ० 227 और आगे।
2. वही, भूमिका, पृ० 148।
3. वही, पृ० 160-61 ;
   —ए०इ०, जिल्द 2, पृ० 8-11।
4. वही, पृ० 183।
5. वही, पृ० 181।
6. वही, पृ० 189-90।
7. वही, पृ० 197।

शिव और विष्णु के अतिरिक्त गणेश के नाम का भी अभिलेखों में वर्णन हुआ है[1]।

कलचुरि राजाओं द्वारा शासित प्रदेशों में ऐसे मंदिरों एवं मूर्तियों का समूह प्राप्त होता है जिससे तत्कालीन धार्मिक समन्वयवादी प्रवृत्ति का बोध होता है। जंजगीर में प्राप्त एक विष्णु के मंदिर के गर्भ-गृह के ऊपरी द्वार पर हिन्दू सम्प्रदाय की त्रिमूर्ति-ब्रह्मा, विष्णु और शिव की प्रतिमायें उत्खलित की गई हैं। मंदिर के बीच में विष्णु की मूर्ति स्थापित है तथा खम्भों एवं दीवारों पर विष्णु के अनेक अवतारों के साथ-साथ सूर्य एवं देवी की मूर्तियां चित्रित की गई हैं। यह छत्तीसगढ़ के सर्वोत्तम मंदिरों में से एक है[2]। इन मन्दिरों के अतिरिक्त ऐसे बहुत मंदिर कलचुरी राजाओं और उनके सामन्तों द्वारा बनवाये गये मिलते हैं।

शिव और विष्णु के अतिरिक्त हिन्दू धर्म के अनेक देवी-देवता जैसे पार्वती, एकवीर, गणपति और रेवन्त (सूर्य पुत्र) आदि की पूजायें होती थी तथा उनके निमित्त मंदिर निर्माण कराये जाने की सूचनायें मिलती हैं[3]। दक्षिणकोसल में देवी संस्कृति की लोकप्रियता के बारे में जानकारी होती है। उनकी अनेक नामों के अन्तर्गत पूजा एवं अर्चना की जाती थी, जैसे, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही, आइन्द्री, चामुण्डा, दुर्गा आदि[4]। भेड़ाघाट में चौंसठ योगनियों के मंदिर के निर्माण का उल्लेख है[5]। उपर्युक्त धार्मिक स्थिति से तत्कालीन हिन्दू धर्म के समन्वयवादी युग की रूप-रेखा प्रकट होती है। हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय आपस में साथ-साथ मिलकर रहते थे।

बौद्ध धर्म : जहां एक तरह कलचुरियों के राज्य में हिन्दू धर्म के विशेष लोकप्रिय होने की सूचना मिलती है वहीं दूसरी ओर बौद्ध एवं जैन धर्म की जन प्रियता के बारे में भी जानकारी मिलती है। कर्ण के सारनाथ अभिलेख[6] में बौद्ध धर्म सम्बन्धी चर्चाएं मिलती हैं। अभिलेखों[7] से ज्ञात होता है कि अनेक

---

1. का०इ०इ०, जिल्द 4, खण्ड 2, पृ० 635।
2. वही, खण्ड 1, भूमिका, पृ० 163।
3 वही।
4. वही।
5. विशेष द्रष्टव्य को० कल्लदेव द्वितीय गुर्गी अभिलेख।
6. कापर्स, जिल्द 4, खण्ड 1, पृ० 277 ;
   —आ०स०रि०, 1906-7, पृ० 100-101।
7 ए०इ०, जिल्द 18, पृ० 73 और आगे।

बौद्ध भिक्षु विना किसी भय अथवा अभाव से कलचुरि नरेशों की राजधानी त्रिपुरी के समीप रहते थे और स्वतन्त्रतापूर्वक अपने धार्मिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करते थे। सामन्त कलचुरि नरेशों के कसया से प्राप्त अभिलेख से बौद्ध धर्म के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। अभिलेख का प्रारम्भ 'ओम् नमो वुद्धाय' मंत्र से हुआ है[1]। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म सम्वन्धी दूसरे उल्लेख भी मिलते हैं जिनमें महायान् सम्प्रदाय सम्वन्धी चर्चा है। साथ ही बौद्ध प्रतिमा के पाये जाने का उल्लेख है जो शिक्षा देने की मुद्रा में है[2]। अन्य बौद्ध प्रतिमाओं में गोपालपुर[3] से प्राप्त होने वाली पांच प्रतिमायें विशेष महत्वपूर्ण हैं जिनसे बौद्ध धर्म की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। इन प्रतिमाओं में चार **बौधिसत्व अवलोकितेश्वर** की हैं और एक उनकी पत्नी तारा की है। ये प्रतिमायें मगध के महायान् सम्प्रदाय से सम्वन्धित थीं। उपर्युक्त बौद्ध धर्म सम्वन्धी चर्चाओं से बौद्ध धर्म के विद्यमान होने की वात स्पष्ट होती है।

जैन धर्म : कलचुरि राजाओं के राज्य में जैन धर्म भी अन्य धर्मों की तरह ही समाज में लोकप्रिय था। अभिलेखीय साक्ष्य इस वात के प्रमाण हैं कि कलचुरि नरेशों के राज्य में जैन धर्म सम्वन्धी अनेक निर्माण कार्य हुए थे। वहुरीवन्ध अभिलेख[4] में शान्तिनाथ के मन्दिर के वारे में वर्णन मिलता है। अन्य अभिलेखों में जो जैन धर्म सम्वन्धी चर्चाएं हैं उनसे यह स्पष्ट जाहिर होता है कि कलचुरि राजा जैन भले ही न रहे हों लेकिन जैन धर्म अवाध गति से उनके राज्य में फल-फूल रहा था। मन्दिरों के निर्माण के अतिरिक्त अनेक तीर्थंकरों की प्रतिमाओं सम्वन्धी उल्लेख भी मिलते हैं। जवलपुर से जैन तीर्थंकारों की प्रतिमा मिलने की चर्चा है। सोहागपुर में जैन मन्दिरों से समूह थे, ऐसी सूचना मिलती है[5]। इस तरह धार्मिक स्थिति के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि कलचुरि राज्य में प्रमुख रूप से तीन धार्मिक सम्प्रदाय—ब्राह्मण धर्म, बौद्ध एवं जैन धर्म विद्यमान थे। ब्राह्मण धर्म अथवा हिन्दू धर्म के अनेक देवी-देवताओं के पूजे जाने का वर्णन मिलता है।

सामाजिक स्थिति : कलचुरि नरेशों के समय की सामाजिक स्थिति का अध्ययन करने से तत्कालीन सामाजिक सामंजस्य की वात स्पष्ट होती है। उस

---

1. ए०इ०, जिल्द 18, पृ० 130।
2. वनर्जी, आर०डी०, हैह्याज आफ त्रिपुरी एण्ड देयर मोनामेंट्स (हा०त्रि०मा०), पृ० 93। और आगे।
3. कापर्स, जिल्द 4, खण्ड 1, भूमिका, पृ० 161।
4. कापर्स जिल्द 4, पृ० 311।
5. वनर्जी, आर०डी०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 100।

समय जाति व्यवस्था आजकल की तरह वर्णनशील नही थी। विदेशी शक आदि जातियो को सम्मानपूर्वक हिन्दू समाज मे मिला लिया गया था। इतना ही नही समाज ने रुढिवादी सिद्धान्तो का परित्याग करके अपने को विशेष शक्तिशाली बना लिया था, यही कारण था कि शक, गुर्जर और हूण लोग हिन्दू समाज मे पूर्ण रूप मे विलीन हो गये और अत्यन्त सम्मान तथा गौरव-पूर्ण क्षत्रिय राजपरिवारो के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने लगे। कलचुरि नरेश कर्ण के बारे मे सूचना मिलती है कि उसने हूण वंशी कुमारी आवला देवी से विवाह किया था, जो उसकी मुख्य रानी थी[1]। ऊपर कहा जा चुका है कि जाति व्यवस्था का कठोरता के साथ पालन नही होता था। फिर भी ब्राह्मणो का समाज मे विशेष सम्मान था[2] ब्राह्मण लोग वेद, शाखा और गोत्र के आधार पर जाने जाते थे। ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि स्थानान्तरित ब्राह्मणो को भी कलचुरियो ने सम्मान एवं सहायता दी थी[3]। ब्राह्मणो द्वारा प्रतिपादित बलिकर्म भी सम्पन्न होता था[4]। इतना ही नही ब्राह्मण लोग धर्मपुरोहित तो थे ही वे राज्य के महत्व-पूर्ण पदो पर भी आसीन थे और राज्य के राजनीतिक कार्यो मे सहयोग करते थे[5]। इनमे माकमिश्र, सोमेश्वर, पुरुषोत्तम, गंगाधर आदि विद्वान और प्रधान मंत्रियो के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

कलचुरि नरेशो के अभिलेखो[6] मे ऐसे ब्राह्मणो का उल्लेख मिलता है जिन्होंने कलचुरियो की आर्थिक और राजनैतिक सकट की घड़ी मे उन्हे शान्ति और समृद्धि प्रदान करने मे सहयोग प्रदान किया था। कलचुरिकालीन समाज की सबसे बड़ी विशेषता यह दिखलाई पड़ती है। कि प्राय लोग कडे सामाजिक बन्धनो मे मुक्त थे। अनुलोम एवं बहुविवाह भी सम्पन्न होते थे जिनके बारे मे हमे अभिलेखो से सूचना मिलती है। कलचुरियो के दरबार मे कवि राजशेखर का चौहान वंश की कन्या से विवाह करने का उल्लेख है, यद्यपि वह स्वय ब्राह्मण था[7]। गांगेयदेव द्वारा 100 विवाह करने की चर्चा अभिलेखो मे की गई है[8]।

---

1 कार्पस, जिल्द 4, खण्ड 1, भूमिका, पृ० 292-95।
2. वही पृ० 166।
3. वही।
4 वही, खण्ड 1, पृ० 134-35।
5. वही, पृ० 292-96।
6 वही, जिल्द 4, खण्ड 1, भूमिका, पृ० 167।
7. वही, पृ० 167।
8 वही, पृ० 293।

समाज में व्यक्ति अपने सभी धार्मिक व सामाजिक क्रिया-कलाप करने को स्वतन्त्र था। हमें उस समय सती प्रथा के विद्यमान होने का भी उल्लेख मिलता है। आत्मदाह करने वाले को किसी तरह की रोक नहीं थी, क्योंकि सम्भवतः लोग उसे एक प्रकार का धार्मिक व्रत अथवा धर्म ही समझते थे। एक अभिलेख में वर्णन है कि अल्हनदेव की तीन रानियों ने उसके मरने के बाद सती धर्म के अनुसार आत्मोसर्ग कर दिया[1]। कलचुरि नरेश गांगेयदेव ने स्वयं अपनी रानियों सहित प्रयाग में जल-समाधि ले ली[2]।

धर्म एवं दर्शन—कलचुरि नरेशों के अभिलेखों के अध्ययन से यह जानकारी मिलती है कि शैव आचार्य उनके गुरु थे[3] और उनके लिए मठों एवं संस्थाओं का निर्माण कराया गया था जहां धर्म एवं दर्शन की पढ़ाई होती थी[4]। शैव आचार्यों के प्रति विशेष सम्मान तथा मठ आदि निर्माण कराने के दूसरे भी प्रमाण मिलते हैं[5]। अभिलेखों में कई स्थानों पर ऐसी चर्चाएं मिलती हैं कि शैव आचार्य विभिन्न स्थानों से आकर चेदि देश में संरक्षण एवं सम्मान पाकर शान्तिपूर्वक रहते थे[6]। साहित्य एवं दर्शन के क्षेत्र में यह युग समन्वयवादी था। जहां एक तरफ वेद, वेदांग, न्याय, मीमांसा, सांख्य आदि दर्शनों की पढ़ाई होती थी वहीं दूसरी तरफ बौद्ध, जैन और चार्वाक् जैसे नास्तिक दर्शनों का भी अध्ययन किया जाता था[7]। कलचुरि नरेश विद्या एवं विद्वानों के आश्रयदाता थे। उनके दरबार में मायुराज और राजशेखर जैसे कवि थे। युवराज प्रथम के दरबार में राजशेखर ने **विद्धसाल-मंजिका** नाम की पुस्तक लिखी। राजशेखर ने **काव्यमीमांसा** की रचना भी कलचुरियों के दरबार में ही की थी। **प्रबन्धचिन्तामणि** से अन्य कवियों के बारे में सूचना मिलती है जो कलचुरि दरबार में रहते थे। उनमें बिल्हण, वल्लण, नाचिराज, कर्पूर, कनकामर और विद्यापति का नाम उल्लेखनीय है[8]।

---

1. कार्पस, जिल्द 4, खण्ड 1, भूमिका, पृ० 169
2. वही।
3. वही, पृ० 331। (जबलपुर अभिलेख)।
4. ए०इ०, जिल्द 31, पृ० 148।
5. कार्पस, जिल्द 4, खण्ड 1, पृ० 209 और आगे (बिलहरी अभि०)।
6. वही।
7. वही, भूमिका, पृ० 166।
8. प्र०चि०, हिन्दी भाषान्तर, द्विवेदी, ह०प्र०, पृ० 61।

कलचुरि राजाओं के व्यक्तिगत धर्म एवं धार्मिक विश्वास

अभिलेखों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो चुका है कि अधिकांश कलचुरि नरेश शैव थे। कृष्णराज, शंकरगण और बुद्धराज को 'परममाहेश्वर' कहा गया है[1] मात्र शंकरण तृतीय ही परमवैष्णव था। उसने कलचुरि नरेशों की सामान्य प्रवृत्ति के प्रतिकूल वैष्णव धर्म अपनाया था[2]। वामराज को परममाहेश्वर कहा गया है[3]। लक्ष्मणराज द्वितीय शिव का परम भक्त था। बिलहरी अभिलेख[4] से सूचना मिलती है कि उसने अपने सामन्तों और अधिकारियों के साथ सोमनाथ की यात्रा की थी। वहां पहुंच कर उसने सोमनाथ की पूजा की तथा उड़ीसा से लाये हुए शिवलिंग को मन्दिर हेतु समर्पित किया। वहीं पर उसने शिव की प्रार्थना में गीत रचे और अपने को शिवमय बनाया। इसी अभिलेख में आगे कहा गया है कि उसके पुत्र द्वितीय युवराज ने भी सोमेश्वर के निमित्त दान दिया। कोकल्लदेव द्वितीय के गुर्गी शिलालेख[5] में उसके द्वारा भी सोमनाथ देव की पूजा करने की चर्चा है। इसी अभिलेख में शिव के मन्दिर के निर्माण, पूजा एवं स्तुति सम्बन्धी चर्चाएं हैं। इस अभिलेख में शिव और उमा दोनों की प्रतिमायें मन्दिर में प्रतिष्ठापित करने की चर्चा है जो उसकी शैव प्रवृत्ति का परिचायक है। कलचुरि नरेश कर्ण के बनारस अभिलेख[6] में उसे परममाहेश्वर कहा गया है। उस अभिलेख में कर्ण द्वारा शिव की पूजा करने तथा एक ब्राह्मण को काशी क्षेत्र में भूमिदान देने का उल्लेख है। कर्ण के गोहरवा[7] अभिलेख में भी उसके द्वारा शिव की पूजा करने एवं ब्राह्मण को दान देने का वर्णन है। रीवां अभिलेख[8] में शिव की भक्ति एवं मन्दिर दान देने की चर्चा है। इस तरह कर्ण की शिव के प्रति अटूट श्रद्धा का उदाहरण मिलता है। यशः कर्ण को शिव का अनन्य भक्त कहा गया है। एक

---

1. कार्पस, जिल्द 4, खण्ड 1, पृ० 41।
2. वही, पृ० 191 तथा 197।
3. वही, पृ० 294।
4. वही, भूमिका पृ० 160।
5. वही, खण्ड 1, पृ० 230।
6. कार्पस, जिल्द 4, खण्ड 1, पृ० 244;
   —ए०इ०, जिल्द 2, पृ० 297-310।
7. वही, पृ० 258-59;
   —ए०इ०, जिल्द 11, पृ० 139-46।
8. वही, पृ० 268-72।
   —आ०स०री०, 1921, पृ० 52-53।

अभिलेख से सूचना मिलती है कि यशः कर्ण ने शिवलिंग की प्रार्थना अथवा वन्दना करके अपने माता-पिता की धार्मिक यशः वृद्धि के लिए ब्राह्मण को दान दिया[1] गया। कर्ण के द्वारा शिव के मन्दिरों का निर्माण और उनकी पूजा की चर्चा अभिलेखों में की गई है जो उसकी शैव प्रवृत्ति का द्योतक है[2]। नरसिंह के लाल पहाड़ अभिलेख[3] में उसे **परममाहेश्वर** कहा गया है। भेड़ाघाट अभिलेख[4] में शिव की पूजा करने तथा मन्दिर के लिए ग्राम देने का उल्लेख है।

कलचुरि नरेश जयसिंह को विजयसिंह के कुम्भी अभिलेख[5] में **परममाहेश्वर** अर्थात् शिव का परम भक्त कहा गया है। जयसिंह के कर्णवेल शिलालेख[6] का प्रारम्भ शिव की प्रार्थना वाले श्लोकों से हुआ है। इसी अभिलेख में पार्वती और गणपति की वन्दना की गयी है जो उसके शैव संस्कृति के प्रति स्नेह अथवा लगाव का सूचक है। इतना ही नहीं, उसका एक जबलपुर से प्राप्त अभिलेख[7] है जिसमें उसे शिव का भक्त कहा गया है तथा मंदिर निर्माण कराने और ब्राह्मण को दान देने की चर्चा है। त्रिपुरी के अंतिम कलचुरि शासक विजय सिंह के भी शैव होने के प्रमाण मिलते हैं। उसके स्वयं के रेवा प्रस्तर अभिलेख[8] में उसे शिव का भक्त कहा गया है। अभिलेखीय साक्ष्यों से यह स्पष्ट होता है कि एक शासक शंकरगण द्वितीय को छोड़कर सम्भवतः सभी कलचुरि नरेश शैव धर्म के अनुयायी थे। तथापि अन्य धार्मिक सम्प्रदायों के प्रति उनका धार्मिक दृष्टिकोण उदार था।

उपर्युक्त साधारण धार्मिक और सामाजिक स्थिति तथा राजाओं के व्यक्तिगत धार्मिक विश्वास के परिप्रेक्ष्य में ही कलचुरि नरेशों की धार्मिक नीति का एक निश्चित स्वरूप खींचना होगा।

चन्देल राजाओं के समय की साधारण धार्मिक और सामाजिक अवस्था

चन्देलकालीन धर्म एवं समाज के विषय में अभिलेखों से प्रचुर सामग्री मिलती है, जिनमें राजाओं के व्यक्तिगत धर्म एवं उनके द्वारा सम्पन्न धार्मिक क्रिया-

---

1. कार्पस, जिल्द 4, खण्ड 2, पृ० 635;
   —ए०इ०, जिल्द 2, पृ० 1-7।
2. वही, खण्ड 1, पृ० 306।
3. वही, पृ० 322; ए०इ०, जिल्द 18, पृ० 211-13।
4. वही, पृ० 317।
5. वही, पृ० 635।
6. वही, पृष्ठ 635।
7. वही, खण्ड 1, पृ० 328।
8. वही, पृ० 366-67।

कलापों की चर्चायें आई हैं। अभिलेखों के अतिरिक्त तत्कालीन साहित्यिक ग्रंथों[1] एवं मुद्राओं[2] से भी धर्म के ऊपर प्रकाश पड़ता है। उपर्युक्त स्रोतों में वर्णित धार्मिक स्थिति के आधार पर ही धार्मिक नीति निश्चित की जा सकती है।

चन्देल राजाओं के अभिलेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनके राज्य में हिन्दू धर्म के साथ-साथ बौद्ध एवं जैन धर्म भी विद्यमान थे, जिनका अलग-अलग वर्णन किया जायेगा।

शैव धर्म—चन्देल राजाओं के अभिलेखों में उनमें से अनेक के लिए **परममाहेश्वर**[3] की उपाधि दी गई है जो उनकी शैव प्रवृत्ति की द्योतक है। अभिलेखों का प्रारम्भ शिव की स्तुति से किया गया है[4]। खजुराहो अभिलेख[5] में शिव को शंकर, वैद्यनाथ और सर्व कहा गया है। अन्य अभिलेखों में शिव को विभिन्न नामों के अन्तर्गत पूजा करने की चर्चायें मिलती हैं, जैसे—महादेव, विश्वनाथ, महेश्वर, केदार आदि[6]। खजुराहो के देव मंदिर उत्तर भारत के हिन्दू मंदिरों में सर्वोत्तम माने जाते हैं। खजुराहो अभिलेख में भगवान् शम्भू मरकतेश्वर के मंदिर निर्माण कराने का उल्लेख मिलता है[7]।

वैष्णव धर्म—चन्देल शासकों ने केवल शैव धर्म को ही प्रोत्साहन नहीं दिया, अपितु हिन्दू धर्म से सम्बन्धित अन्य सम्प्रदायों और देवताओं की समान ढंग से पूजा की तथा उन्हें फलने-फूलने का मौका दिया। खजुराहों में एक ऐसे मंदिर के बारे में सूचना मिलती है जिसे शिव को ही नहीं बल्कि विष्णु को भी अर्पित किया गया है[8]। अभिलेखों में शिव की स्तुति के साथ-साथ विष्णु की भी प्रार्थनायें की गई हैं[9]। चन्देल शासकों के राज्य में वैष्णव मंदिर निर्माण सम्बन्धी अनेक सन्दर्भ अभिलेखों में पाए जाते हैं। खजराहो शिलालेख[10] से चन्देल शासक यशोवर्मा द्वारा विष्णु के मंदिर-निर्माण कराने के बारे में जानकारी होती है।

---

1. मिश्र, कृष्ण, प्रबोध चन्द्रोदय, चौ० वि०, व्याख्याकार रामचन्द्र मिश्र, वाराणसी 1955।
2. ए०इ०, जिल्द 16, पृ० 202 और 207-10।
3. आ०स०रि०, जिल्द 21, पृ० 34-35; ए०इ०, जिल्द 4, पृ० 154।
4. ए०इ० जिल्द 1, पृ० 330-338।
5. वही, पृ० 147-52।
6 आ०स०रि०, जिल्द 2, पृ० 423।
7. ए०इ०, जिल्द 1, पृ० 137।
8. ए०इ०, जिल्द 37, पृ० 132।
9. वही, जिल्द 1, पृ० 327।
10. वही जिल्द, पृ० 1, पृ० 144।

विष्णु के इस मंदिर को रामचन्द्र, लक्ष्मण या चतुर्भज का मंदिर कहते हैं[1]। चन्देल शासकों के क्षेत्र से अनेक विष्णु प्रतिमायें पाई गई हैं तथा अभिलेखों में विष्णु की बहुतायत चर्चा मिलती है खुजुराहो का चतुर्भुज विष्णु का मंदिर वहां के मंदिरों में सर्वोत्तम है[2]। इस मन्दिर की अपनी एक अलग ही विशेषता है, वह यह है कि इसमें जो मूर्ति हैं उसके तीन सिर और चार भुजायें दिखाई गई हैं। मध्य का सिर मानव का तथा दो सिंह के सिर के समान हैं, अर्थात् यह प्रतिमा विष्णु के नरसिंहावतार की है। चन्देल शासकों के ताम्र एवं स्वर्ण-पत्रों पर चतुर्भुज लक्ष्मी की जो प्रतिमा पाई जाती है वह उनके वैष्णव धर्म के प्रति लगाव की सूचक है। गर्रादानपत्र[3] के ऊपरी सिरे पर चतुर्भुज लक्ष्मी की प्रतिमा विद्यमान है।

सामाजिक स्थति—चन्देल राजाओं के समय में ब्राह्मण वर्ण गौरव पर था। राजाओं ने ब्राह्मणों का आदर किया और उन्हें भूमिदान तथा अन्य दान दिए (धन धान्यधनुवसुधादानेन सम्मानिताः)। ब्राह्मणों का एकत्र निवास ऐसा लग रहा था कि मानो दूसरा कल्पग्राम (कल्पग्राम एक प्राचीन प्रसिद्ध ब्राह्मण बस्ती थी जो हिमालय के उत्तर में स्थित थी) हिमालय के दक्षिण चन्देल राज्य में स्थित था[4]। अभिलेखीय साक्ष्य इस बात के भी प्रमाण हैं कि चन्देल राजाओं के समय में ब्राह्मण अध्यापन तथा अध्ययन के साथ-साथ सरकारी कामों, मुख्य मंत्री, सेनापति और धर्माधिकारी जैसे पदों पर कार्य करते थे[5]। इतना ही नहीं ऐसी भी सूचनायें मिलती हैं जिनसे ज्ञात होता है कि चन्देलों ने बाहर से आए हुए ब्राह्मणों को अपने राज्य में बसने के लिए दान देकर प्रोत्साहित किया[6]।

चन्देलकालीन समाज में यत्र-तत्र ब्राह्मणों और क्षत्रियों के अलावा कायस्थ नामक जाति का उल्लेख अभिलेखों में पाया जाता है। परन्तु प्रबोधचन्द्रोदय[7] में ऐसी भी चर्चायें मिलती हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि जाति प्रथा पर विशेष ध्यान

---

1 ए०इ०, जिल्द 1, पृ० 144।
2. पर्सी ब्राउन, इंडियन आर्किटेचर, पृ० 136।
3. ए०इ०, जिल्द 16, पृ० 202-210 और 272-77।
4. धंग, जयवर्मन का खजुराहो लेख, श्लोक 53-54।
5. ए०इ०, जिल्द 1, पृ० 137 और आगे; जिल्द 1, पृ० 199।
(धंग के अभिलेख में प्रभास नामक ब्राह्मण को उसका मुख्य मंत्री बताया गया है)।
6. धंग ने भट्ट यशोधर जैसे अनेक ब्राह्मणों को कर-मुक्त भूमि दान देकर अपने राज्य में बसाया ए०इ०, जिल्द 1, पृ० 137)।
7. प्रबोधचन्द्रोदय, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 63।

नहीं दिया जाता था। लोग अधिकतर अपने व्यवसायों के आधार पर जाने जाते थे।

विद्या, साहित्य और दर्शन—अभिलेखों और नाटकों—**प्रबोधचन्द्रोदय** तथा **रूपकषटम्**—से ज्ञात होता है कि विद्वानों, विद्या और संस्कृत को राज्याश्रय प्राप्त था। **प्रबोधचन्द्रोदय**[1] नाटक में वेद, उपवेद, वेदांग, पुराण, धर्मशास्त्र, इतिहास, सांख्य, न्याय, कणाद, महाभाष्या, मीमांसा, व्याकरण, काव्य, आयुर्वेद, आदि विभिन्न दर्शन-शास्त्रों के पढ़ाए जाने का वर्णन मिलता है। इसी ग्रंथ से यह भी जानकारी होती है कि उस समय परस्पर विरोधी आगम एवं तर्कों का समन्वय हो गया था। परमर्दिदेव के मंत्री वत्सराज द्वारा रचित **रूपकषटकम्**[2] में अनेक विद्याओं के बारे में सूचना मिलती हैं। वे निम्नलिखित थीं—कोदण्डवेद विद्या, धनुर्विद्या, अथवा धनुर्वेद विद्या, गदाविद्या आदि प्रसिद्ध शास्त्रास्त्र विद्यायें एवं दण्डनीति विद्या[3]।

चन्देल शासकों के राज्य में हिन्दू धर्म से सम्बन्धित अन्य देवी-देवताओं के मंदिर एवं प्रतिमाओं के भी प्राप्त होने के सन्दर्भ मिलते हैं जिनमें भारती और गणेश (विनायक)[4], सूर्य[5] तथा जगदम्भ[6] के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

जैन तथा बौद्ध धर्म—हिन्दू धर्म के साथ-साथ जैन और बौद्धधर्म की स्थिति के बारे में भी हमें अभिलेखों से जानकारी होती है। खजुराहो में आज भी महत्व-पूर्ण जैन और बौद्ध मंदिर विराजमान हैं। बौद्ध देवी तारा की प्रतिमा खजुराहो में है[7]। **प्रबन्धचन्द्रोदय**[8] नामक नाटक में जैन और बौद्ध धर्म सम्बन्धी चर्चायें की गई हैं, परन्तु वहां इन दोनों धर्मों की स्थिति को हिन्दू धर्म की तुलना में अत्यन्त हीन बताने का प्रयास किया गया है। खजुराहो के मंदिर समूहों में जैन मंदिर भी सम्मिलित हैं[9]। खजुराहो से बौद्ध प्रतिमाओं के पाए का भी अभिलेखों मे वर्णन मिलता है[10]। घनताई के मंदिर को आज जैन मंदिर के नाम से जाना जाता

---

1. प्रबोधचन्द्रोदय, पूर्व निर्दिष्ट पृ० 174 75।
2. रूपकषटकम्, पृ० 3-19 और 44।
3. प्रबोधचन्द्रोदय, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 71।
4. ए०इ०, जिल्द 1, पृ० 137-47।
5. वही, पृ० 143-135।
6 आ०स०रि०, जिल्द 2, पृ० 431।
7. एम०ए०एम०आई०, नं० 8।
8. प्रबोधचन्द्रोदय, पूर्व निर्दिष्ट, अंक 3, पृ० 100-115।
9. ए०इ०, जिल्द 4, पृ० 125।
10. ए०इ०, जिल्द 4, पृ० 125।

है[1]। जैन मंदिरों में पार्श्वनाथ का मंदिर[2] विशेष महत्त्वपूर्ण है जो शिल्प की दृष्टि से हिन्दू मंदिरों के समान है। अन्तर सिर्फ इतना है कि इसके निर्माण में जैन शासकों का आश्रय लिया गया लगता है।

निर्माण कार्यों से जहां चन्देलों के अपूर्व कला प्रेमी एवं वैभवपूर्ण होने की बात स्पष्ट होती है वहीं खजुराहो के अद्भुत मंदिरों का निर्माण उनके अटूट धार्मिक विश्वास की प्रगाढ़ता को प्रकट करते हैं।

चन्देल राजाओं के व्यक्तिगत धर्म एवं विश्वास

चन्देल राजा हर्ष तक के राजाओं के व्यक्तिगत धर्म के बारे में विशेष जानकारी नहीं प्राप्त होती। परन्तु धंग-जयवर्मन के खजुराहो अभिलेख[3] से सूचना मिलती है कि हर्ष कृष्ण का भक्त था। हर्ष के बाद उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी यशोवर्मन् राजा हुआ जसे खजुराहो के जगत्प्रसिद्ध मन्दिरों के निर्माणकर्त्ता के रूप में जाना जाता है। देवपाल से प्राप्त वैकुण्ठ की प्रतिमा की स्थापना एक ऐसे मंदिर में यशोवर्मन ने कराई जो अत्यन्त ऊंचा और खजुराहो के उत्तम मंदिरों में एक है[4]। यशोवर्मन को त्रयी धर्म एवं गो तथा ब्राह्मणों का रक्षक कहा गया है[5]। उपर्युक्त कथनों से प्राचीन हिन्दू धर्मशास्त्रों द्वारा प्रतिपादित धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था की ओर निर्देश किया गया है जिनकी रक्षा का पूर्ण उत्तरदायित्व हिन्दू राजाओं के कन्धों पर था। अपने निर्माण कार्यों से यशोवर्मन ने सम्भवत: जनता का मन मोह लिया था, जिससे राजाओं के समाज में, मुनियों के आश्रमों में, सत्संगों में, ग्रामों में, पामर वृन्दों में, व्यवसायियों की श्रेणी में, गलियों एवं चौराहों पर हर जगह राज मार्गों पर लोग सर्वदा यशोवर्मा का ही गुणगान करते थे[6]।

---

1 एम०ए०एस०आई०, नं० 8।
2. पर्सी ब्राउन पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 136।
3 खजुराहो लेख, श्लोक 20।
4. ए० इ०, जिल्द 1, पृ० 129, श्लोक 42।
5. पाठक, वि०, पूर्व निर्दिष्ट, में उद्धृत पृ०।

पातादभूमिपाता पृथ्वी त्रयीधर्मः प्रवर्द्धतां।
नन्दन्तु गोद्विजन्मानः प्रजा प्राप्नोतुनिर्वृतिम्॥

6. आस्थानेषु महीभुजां मुनिजन स्थाने सतां संगमे,
ग्रामे पामरभठ लीपू वणिजां वीथीपथे चत्वरे।
अध्वन्यध्वगसं कयामू निलयेऽरण्यौकसां विस्मयो।
न्निमर्त्यं तद्गुणकीर्त्तनेकमुखराः मर्वत्र सर्वे जनाः॥
(ए०इ०, जिल्द 1 पृ० 134, श्लोक 40)

धंग का निजी धर्म हिन्दू था, उसके अभिलेखों में सभी देवी-देवताओं, वासुदेव शिव, सरस्वती, गणेश आदि की स्तुतियां की गई हैं। तथापि खजुराहो अभिलेख[1] (1059 वि०सं०) से प्रतीत होता है कि हिन्दू देवताओं में भी उसकी सर्वाधिक भक्ति शिव के प्रति थी। उसने भट्ट यशोधर जैसे अनेक विद्वान् ब्राह्मणों को कर-मुक्त-भूमि दान देकर अपने राज्य में बसने के लिए प्रोत्साहित किया[2]। उसने खजुराहो में अपने पिता द्वारा प्रारम्भ कराए गए वैकुण्ठ मन्दिर के निर्माण को पूर्ण कराया तथा स्वयं भगवान् शम्भु के मन्दिर का निर्माण कराकर उसमें एक मरकत-मणि से बना हुआ शिव-लिंग तथा दूसरा प्रस्तर-लिंग स्थापित कराया। वहीं जैनियों को अपने धर्म प्रसार और जैन मन्दिरों के निर्माण की उसने पूरी सुविधायें दीं[3]। चन्देल धंग की शिव के प्रति असीम श्रद्धा का सबसे ज्वलन्त उदाहरण उसके द्वारा प्रयाग संगम में देह त्यागते समय उसका शिव का ध्यान करना है[4]। वर्णन मिलता है कि इस धरा की रक्षा करते हुए 100 वर्ष की उम्र पार करता हुआ प्रयाग संगम में अपना प्राण त्याग दिया। अभिलेख में धंग की हम्मीर से तुलना की गई है[5]। कहा गया है कि धंग ने मत-मातंगों (म्लेच्छ रूपी हाथी) को पददलित करते हुए हम्मीर की समता प्राप्त की जो पृथ्वी पर आतंक बन गया था। अन्य बुन्देल राजाओं के धर्म के बारे में विशेष जानकारी नही मिलती। परमार्दिदेव को अभिलेखों में **परममाहेश्वर** कहा गया है[6]।

कलचुरि राजाओं की धार्मिक नीति—पीछे कलचुरि राजाओं के व्यक्तिगत धार्मिक विश्वासों के बारे में चर्चा की जा चुकी है। अधिकतर कलचुरि नरेश शैव थे, जैसा कि उनके **परममाहेश्वर**[7] विरुद से स्पष्ट होता है। इतना ही नहीं उन्होंने अधिकांश दान वैदिक धर्म से सम्बन्धित देवी-देवताओं को ही दिया है, जिनकी अभिलेखों से स्पष्ट जानकारी प्राप्त होती है। किन्तु अभिलेखीय साक्ष्यों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कलचुरि राजाओं के राज्य में शैव संस्कृति के

---

1. ए०इ०, जिल्द 1, पृ० 137।
2. वही।
3. पाठक, वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 403।
4. रक्षित्वा क्षितिमंबुराशिरशनामेतामनन्यार्यति।
   जीवित्वां शरदां शतं समधिक श्रीधंग पृथ्वी पतिः॥
   रुद्रं मुद्रितलोचनः स हृदये ध्यायन्जयन् जान्हवी।
   कालिन्द्योः सलिले कलेवर हरित्यागादगानिर्वृति॥ (खजुराहो अभि०)
5. ए०इ०, जिल्द 1, पृ० 221, श्लोक 17।
6. पाठक, वि०, पूर्व निर्दिष्ट में उद्धृत पृ० 423।
7. कार्पस, जिल्द 4, खण्ड 1, पृ० 367।

साथ-साथ वैष्णव संस्कृति तथा हिन्दू धर्म से सम्बन्धित अन्य देवी-देवता, यथा—अम्बिका, गणेश, सूर्य आदि की भी लोकप्रियता थी[1]। हिन्दू धर्म के अतिरिक्त बौद्ध[2] और जैन धर्म[3] के बारे में भी अभिलेखों में चर्चायें मिलती हैं जिनके बारे में पीछे देखा जा चुका है। कलचुरि राजाओं के मंदिर तथा अन्य निर्माण कार्यों में भी बौद्ध और जैन धर्म से सम्बन्धित मूर्तियों और मंदिरों का उल्लेख किया गया है[4]। इस तरह की धार्मिक स्थिति के आधार पर विद्वानों ने अपने दृष्टिकोण से कलचुरि राजाओं की धार्मिक नीति के ऊपर बड़ा ही संक्षेप में प्रकाश डाला है।

वासुदेव उपाध्याय ने कलचुरि राजाओं के कसिया अभिलेख का उदाहरण देते हुए उन्हें धार्मिक मामले में सहिष्णु कहा है[5]।

मीराशी महोदय ने कलचुरि राजाओं को धार्मिक मामले में उदार कहा है। उनका कहना है कि यद्यपि कलचुरि राजा शैव थे फिर भी उन्होंने जैन और बौद्ध भिक्षुओं के प्रति भी पूर्ण उदारता दिखाई[6]।

कलचुरि राजाओं के व्यक्तिगत विश्वास और तत्कालीन सामाजिक स्थिति के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि वे हिन्दू धर्म के साथ-साथ जैन और बौद्ध धर्म के प्रति भी समान दृष्टिकोण अपनाते रहे। परन्तु अगर सावधानी से विचार किया जाय तो यह कहने में कोई संकोच नहीं होगा कि वे हिन्दू धर्म और उसमें भी शैव संस्कृति तथा आचार्यों के प्रति विशेष श्रद्धा रखते और उन्हें संरक्षण प्रदान करते थे। उदाहरणार्थ हम देखते हैं कि उनके अधिकांश अभिलेखों में हिन्दू धर्म से सम्बन्धित देवी-देवताओं की पूजा और उनके मंदिरों के निर्माण की ही चर्चायें की गई हैं तथा उन्होंने जैन और बौद्ध धर्म सम्बन्धी जो निर्माण कार्य सम्पन्न कराया वह निश्चित ही संख्या में हिन्दू मंदिरों एवं मूर्तियों से कम हैं। अगर इस पर ध्यान दिया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि एक तो राजा हिन्दू धर्म के मानने वाले थे साथ ही उनकी प्रजा का एक बहुत बड़ा भाग भी हिन्दू धर्म का अनुयायी था। स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म अन्य धर्मों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय रहा।

---

1. कार्पस, जिल्द 4, खण्ड 1, पृ० 161।
2. बनर्जी, आर०डी०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 93 और आगे।
3. कार्पस, जिल्द 4, खण्ड 1, पृ० 311।
4. वही।
5. उपाध्याय, वासुदेव, सो०री०क०ना०इ०, पृ० 204, चौखम्भा, वाराणसी 1964।
   कसिया अभिलेख का प्रारम्भ 'ओम् नमाबुद्धाय' मंत्र से हुआ है तथा शिव और तारा की प्रार्थना की गई है।
6. मीराशी, वा०वि०, कार्पस जिल्द 4, खण्ड 1, भूमिका, पृ० 145-46।

अगर सामाजिक दृष्टिकोण से हम विचार करें तो भी हिन्दू धर्म के प्रति विशेप संरक्षण की वात समझ में आती है। हम देखते हैं कि वैदिक धर्मानुयायी ब्राह्मणों का कलचुरिकालीन समाज में विशेप सम्मान था[1]। इतना ही नहीं, ब्राह्मण राज्य की तरफ से धर्म के प्रधान के रूप में नियुक्त किये जाते थे। उन्हें महापुरोहित का पद मिलता था[2]। परन्तु जैन अथवा वौद्ध लोगों को राज्य की तरफ से कोई धार्मिक पद दिया गया हो इसकी जानकारी नहीं होती। कलचुरि राजा धार्मिक मामले में सवको एक समान समझाते हुए भी समय-समय पर राज्य के धार्मिक पदों पर हिन्दू सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्य धार्मिक सम्प्रदायों के संतों, विद्वानों को नियुक्ति करते हुए नहीं दिखाई देता। ऐसा हालत में कलचुरि नरेशों के वैदिक धर्म के प्रति ही विशेप लगाव की वात समझ में आती है। उनके हिन्दू धर्म के प्रति पूर्ण लगाव को स्पष्ट करने के लिए दूसरा उदाहरण यह भी दिया जा सकता है कि कलचुरि नरेशों के राज्य में हिंसक यज्ञ क्रिया सम्पन्न होती थी। ब्राह्मण लोग हिन्दू धर्म के अन्तर्गत वलिकर्म सम्पन्न कराते थे जिसमें राजाओं की अनुमति रहती थी। वौद्ध एवं जैन धर्म अहिंसा के उपदेशों से भरे पड़े हैं और उनका प्रादुर्भाव ही यज्ञ आदि के विरुद्ध हुआ था। वे किस स्थिति में इस हिंसा को वर्दाश्त कर रहे होंगे इसकी कल्पना मात्र की जा सकती है। इस सम्वन्ध में दो विचार हो सकते हैं। पहला तो यह हो सकता है कि वे अपने लघु प्रभाव को देखकर मौन रह गये हों अथवा उनके नेता ब्राह्मण धर्म के नेताओं की तुलना में अयोग्य और राजाओं पर अपना प्रभाव कायम करने में असफल रहे हों, जिससे राजाओं का विशेप संरक्षण प्राप्त करने से वंचित रह गये हों। अगर वौद्ध अथवा जैन संतों को राजाओं की समान कृपा का अवसर सुलभ होता तो निश्चित ही राजाओं की अनुमति से उनके सिद्धान्तों के विपरीत वलियां नहीं चढ़ायी जातीं। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय वौद्ध एवं जैन धर्म वहुत सिमट कर रह गये थे और उनके अवशेप मात्र उदाहरण हेतु वच गये थे।

वौद्ध धर्म के सम्वन्ध एक वात और महत्वपूर्ण है। अभिलेखीय साक्ष्यों और तिब्बती साक्ष्यों से हमें जो सूचनायें मिलती हैं उनमें परस्पर विरोध है। किस साक्ष्य को सही माना जाय इसका वड़ी ही सावधानी से विचार करना होगा। कर्ण के अभिलेख[3] में कहा गया है कि कर्ण के समय में सारनाथ के वौद्ध विहारों

---

1. कार्पस, जिल्द 4, खण्ड 1, पृ० 166।
2. वही, पृ० 292-96।
3. वही, पृ० 276।

में वौद्ध धमावलम्बियों को समान सुविधायें प्राप्त थीं और वे अपने धार्मिक क्रिया-कलापों एवं दर्शनों तथा साहित्य की रक्षा करने के लिए पूर्ण रूप से स्वतन्त्र थे। दूसरी तरफ तिव्वती साक्ष्यों से कर्ण के वौद्ध धर्मके प्रति विद्वेष की जानकारी मिलती है। कहा गया है कि कर्ण ने मगध पर आक्रमण किया और वहां वने वौद्ध मंदिरों तथा मठों को नष्ट किया[1]। कर्ण द्वारा पूर्व की ओर गौड और मगध के पाल राजाओं के क्षेत्रों पर कर्ण ने कई अभियान किये थे। सम्भवत: कर्ण ने पाल शासक नयपाल (1038-1055 ई०) के समय आक्रमण किया जिसकी चर्चा कलचुरि अभिलेखों एवं तिव्वती साक्ष्यों में आती है[2]।

परन्तु ऐसी सूचना मिलती है कि नयपाल और कर्ण के वीच दीपंकर नामक वौद्ध भिक्षु ने मध्यस्थता करके सन्धि करा दी। ऐसी हालत में क्या यह मान लिया जाय कि कर्ण ने उस वौद्ध भिक्षु से प्रभावित होकर सन्धि कर ली अथवा किन्हीं राजनीतिक अथवा सैनिक कारणों से उसने सन्धि कर ली। आगे हम देखते हैं कि नयपाल की मृत्यु के वाद कर्ण ने पुन: वौद्ध धर्मानुयायी पाल शासकों के क्षेत्र वंगाल पर आक्रमण करके विग्रहपाल को पराजित किया तथा हारे हुए राजा विग्रहपाल से अपनी पुत्री योवनश्री का विवाह करके मैत्री सम्वन्ध स्थापित कर लिया। ऐसी स्थिति में यह वात स्पष्ट हो जाती है कि कर्ण का मगध आदि पर आक्रमण करना तथा वौद्ध मंदिरों को तोड़ना उसके धार्मिक विद्वेष के कारण नहीं, वल्कि कूटनीतिक एवं राजनीतिक कारणों से था। वह वौद्ध धर्मानुयायी पालों को किसी तरह अपनी तरफ मिला कर उनसे अच्छा सम्वन्ध कायम करना चाहता था। उसके इस उद्देश्य की पूर्ति सन्धि द्वारा ही हो सकती थी और इस सन्धि को कायम रखने के लिए किसी घनिष्ठ सम्वन्ध को वनाना आवश्य था। ऐसा ही सोच कर उसने हारे हुए विग्रहपाल को अपना दामाद वनाया। इस सम्वन्ध में कर्ण को दो महत्वपूर्ण लाभ हुए। पहला तो यह कि उसे पालों की तरफ से निश्चिन्तता हो गई और दूसरे दक्षिण-पश्चिम के चौलुक्यों के मुकावले पालों को मिलाकर कर्ण शक्तिशाली वन गया। ऐसी परिस्थिति में तिव्वती साक्ष्यों के इस कथन को कि कर्ण ने वौद्ध मंदिरों को तोड़ा था[3] उपर्युक्त साक्ष्यों की तुलना में अधिक विश्वासनीय नहीं माना जा सकता।

---

1. रे, हेमचन्द्र, डा० हि०ना०इ०, जिल्द 1, पृ० 326 और आगे।
2. कार्पस, जिल्द 4, खण्ड 1, पृ० 270;
   —पाठक, वि, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 624।
3. आ०स०रि०, 1921-1922, पृ० 155;
   —कार्पस, जिल्द, 4, पृ० 250; पाठक, वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 624।

पालों से वैवाहिक सम्बन्ध होने के बाद उसने बौद्धों को निश्चय ही नहीं सताया होगा। पालों से सम्बन्ध होने से पूर्व अगर कर्ण ने बौद्धों को समाप्त करने का प्रयास किया तो उसका सीधा कारण यही था कि बौद्ध लोग पालों के हितैषी और शुभचिन्तक थे। अतः इस आधार पर यह स्वीकर नहीं किया जा सकता कि कर्ण ने धार्मिक वैर-भाव के कारण पाल क्षेत्रों में बसने वाले बौद्धों को सताता हो, क्योंकि ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता कि अपने राज्य के अन्दर किसी भी धर्म के प्रति उसने धार्मिक कठोरता की नीति का अनुसरण किया।

अतः यह कहा जा सकता है कि कलचुरि नरेशों का हिन्दू धर्म के प्रति विशेष लगाव अवश्य था, परन्तु अन्य धार्मिक सम्प्रदायों के प्रति उनकी धार्मिक नीति उदारता एवं सहिष्णुता के सिद्धान्त पर आधारित थी।

निष्कर्ष

ऊपर जो कुछ लिखा जा चुका है उससे इतना निश्चित हो जाता है कि शंकरगण तृतीय को छोड़कर कलचुरि वंश के सभी शासक निरपवाद रूप से शैव थे। उन्होंने अनेक शैव आचार्यों को बाहर से बुलाकर अपने राज्य में बसाया, उनके लिए मठ और मदिरों का निर्माण किया, उनके भरण-पोषण के लिए ग्रामों का दान किया और स्वयं भी अनेक शैव मंदिरों का निर्माण किया। इनमें सर्वप्रमुख था युवराजदेव प्रथम, जिसने अपनी रानी नोहला देवी के प्रभाव में आकर शैवों के मक्षमयूर सम्प्रदाय के आचार्यप्र भावशिव को आमंत्रित किया और गुर्गी में एक विशाल मठ तथा शैव मंदिर का निर्माण कराया[1]। वहां के शैव मठ के लिए उसने गांवों को तो दान किया ही भेड़ाघाट में उसने चौंसठ योगनियों का मंदिर बनवाया। उसकी रानी नोहला ने नोहलेश्वर मंदिर का निर्माण कराया। इन सबको भी गांवों के दान दिये गये। लक्ष्मणराज द्वितीय के समय प्रशान्तशिव नामक शैव साधु ने चन्द्रेहे में एक शैव मंदिर और तपस्या हेतु समाधि-स्थल का निर्माण किया। तृतीय शंकरगण स्वयं परमवैष्णव था, किन्तु उसने प्रबोधशिव नामक शैव सन्यासी को हर प्रकार की सुविधा इस बात के लिए दी कि वह चन्द्रेहे में मंदिर और मठों का निर्माण करे। युवराजदेव द्वितीय के बिलहरी अभिलेख[2] में शैव सम्प्रदाय के साधुओं की एक लम्बी सूची दी गई है।

कलचुरि राज्य क्षेत्र में जिन शैव साधुओं को आने का निमंत्रण उसके राजाओं

---

1. कोकल्लदेव द्वितीय का गुर्गी अभिलेख।
2. कार्पस, जिल्द 4, खण्ड 1, भूमिका, पृ० 160।

ने दिया उन्हे मक्षमयूर शाखा का बताया गया है[1]। यद्यपि ये आचार्य स्वयं शैव मत के मानने वाले थे, वे अन्य सम्प्रदायों के प्रति कोई विशेष भाव नही रखते थे। जाजल्लदेव प्रथम के गुरु रुद्रशिव को सभी सिद्धान्तो मे निष्णात् कहा गया है जो दिगनाद आदि बौद्ध विद्वानो के दर्शनो से भी परिचित था। गुर्गी अभिलेख मे शैव आचार्य प्रशान्तशिव को पाचरात्रिक अथवा पाशुपत शाखा के दर्शन मे दक्ष और सभी गुणवान् एव विद्वान् लोगो के साथ समागम करते हुए बताया गया है[2]। कलचुरि अभिलेखो से यह भी ज्ञात होता है कि ये आचार्य राजगुरुओ के पद पर नियुक्त होते थे। उदाहरण के लिए विमलशिव जयसिह का राजगुरु था और कीर्तिशिव नरसिंह का राजगुरु था। इन राजगुरुओ के प्रभाव से इन शैव साधुओ को जो मठो के माध्यम से सहायताये मिलती थी उनका सदुपयोग वे बढे व्यापक पैमाने पर करते थे। उसमे वे व्याख्यानशालाये चलाते थे, अन्नशत्र स्थापित करते थे और मठो मे बगीचा लगवाते थे[3]।

इन शैव आचार्यों और उनके मठो तथा मंदिरो को दान देने के बावजूद भी कही भी इस बात का कोई उदाहरण नही मिलता कि कलचुरि राजाओ ने उनके प्रबन्ध मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप किया हो। यह उनकी धार्मिक अहस्तक्षेप की नीति का परिचायक है। कलचुरियो मे युवराज प्रथम संभवतः सबसे उत्साही शैव शासक था जिसके संरक्षण मे गुर्गी, मसाव, चन्द्रेहे, बिलहरी, भेडाघाट और त्रिपुरी जैसे स्थानो मे शैव वास्तुओ का एक जाल-सा बिछ गया। किन्तु यह उसका निजी धर्म था जिसको उसने दूसरो पर कभी लादने का प्रयत्न नही किया। उसकी धार्मिक सहिष्णुता तथा अन्य सम्प्रदायो के विकास के लिए समान अवसर देने का एक बहुत बढिया उदाहरण बात मे मिलता कि उसके गोल्लाक उर्फ नामक गौड अमात्य ने गोपालपुर नामक गाव तथा बान्धवगढ मे पहाडियो मे विष्णु के मत्स्य, कच्छप, वराह, परशुराम और हलधर जैसे अवतारो की मूर्तिया बनवायी। साथ शैपशायी भगवान् की मूर्ति भी निर्मित कराई। इसी प्रकार लक्ष्मण-राज द्वितीय के ब्राह्मण मंत्री सोमेश्वर ने भी जबलपुर जिले मे कारीतलायी नामक स्थान पर सोमस्वामी नामक देवता के नाम से वराहरूपधारी विष्णु के मंदिर का निर्माण कराया। जो आठ ब्राह्मण इस विष्णुमंदिर मे पूजा करते थे उनके भरण-पोपण के लिये उस शैव राजा ने एक गाव का दान दिया। ये दोनो उदाहरण ऐसे

---

1. ए०इ० जिल्द 1, पृ० 351 और आगे;
   —कार्पस, जिल्द 1, भूमिका, पृ० 151।
2. कार्पस, जिल्द 4, भूमिका, पृ० 159।
3. वही, पृ० 158।

हैं[1] जिनमें दोनों कलचुरि राजा तो शैव थे लेकिन उनके मंत्री वैष्णव थे। दोनों ही पक्ष अपने देवताओं के मंदिरों का निर्माण करते रहे और एक दूसरे की सिद्धि में साधक होते रहे। एक दूसरे के धार्मिक विश्वासों के प्रति अत्यन्त सहिष्णुता, सहनशीलता उदारता और सहायता के ये प्रशंसनीय नमूने हैं। प्रश्न यह उठता है कि बघेल खण्ड में कलचुरियों के शासन के समय हिन्दू धर्म का ही विशेष प्रचलन था, ऐसा क्यों? यद्यपि बौद्ध और जैन धर्म के भी उदाहरण मिलते हैं, वे जनता में बघेलखण्ड की जनता में बहुत प्रिय नहीं दिखाई देते। भेड़ावाट से तीन मील दूरी पर स्थित गोपालपुर में कुछ बुद्ध प्रतिमायें जरूर मिली हैं और वहां के एक अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि कलचुरियों की राजधानी त्रिपुरी से थोड़ी ही दूरी पर बौद्ध लोग शान्तिपूर्वक रहते थे जो महायान सम्प्रदाय के थे, तथापि कलचुरि इतिहास से सम्बद्ध प्रमुख बौद्ध केन्द्र बघेलखण्ड के बाहर ही थे, जैसे सारनाथ और कसया। इसी प्रकार[2] गयाकर्ण के बहुरिबन्ध अभिलेख से कुछ जैन मंदिरों के निर्माण की भी चर्चायें मिलती हैं तथा जबलपुर जिले से भी कुछ जैन प्रतिमायें पायी गयी हैं[3]। सोहागपुर जैनों का दूसरा केन्द्र था।

किन्तु इन उदाहरणों के बावजूद भी ऐसा नहीं प्रतीत होता कि हिन्दू धर्म के मुकाबले बौद्ध अथवा जैन धर्म कलचुरि राज्य में कोई विशेष महत्व रखते थे। इसके दो कारण हो सकते हैं। प्रथमतः तो यह कि दशवीं, ग्यारहवीं शताब्दी के आते-आते पौराणिक हिन्दू धर्म के दबाव के कारण और स्वयं अपनी कमजोरियों के कारण बौद्ध धर्म एकदम शिथिल हो गया था। दूसरा यह है कि मध्य प्रदेश के आदिवासी जन-जातियों ने अथवा विदेशी आक्रामकों ने हिन्दू हो जाने के बाद शैव धर्म को ही अपनाया। इस प्रकार राजा और प्रजा दोनों का ही धर्म एक प्रतीत होता है और कलचुरि अभिलेखों से केवल हिन्दू धर्म—विशेषतः शैव धर्म के देवी-देवताओं की जानकारी होती है।

यहां एक बात और ध्यान देने की है जो शैव राजा कर्ण और बंगाल के पाल-वंशी बौद्ध धर्म मतावलम्बी विग्रहपाल तृतीय के आपसी सम्बन्धों से संबद्ध हैं। कुछ बौद्ध ग्रंथों से यह प्रतीत होता है[4] कि कर्ण ने जब बिहार और बंगाल पर विग्रह-पाल के विरुद्ध आक्रमण किया था तो उसने वहां के बौद्ध मठों का विनाश किया, किन्तु इस दोषारोपण का कोई अन्य समर्थक प्रमाण नहीं। पीछे हम कई बार यह

---

1. कार्पस, जिल्द 4, भूमिका, पृ० 150।
2. मिराशी, कार्पस, जिल्द 4, भूमिक, पृ० 161।
3. वही, पृ० 161 और 162।
4. पाठक, वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 624।

देख चुके हैं कि वौद्ध साक्ष्यों में हिन्दू राजाओं के विरुद्ध इस प्रकार के दोषारोपण किए गए हैं जिनका कारण सम्भवतः वौद्ध सम्प्रदायवादियों का धार्मिक विद्वेष प्रतीत होता है। यहां यह वात ध्यान रखने की है कि नयपाल और विग्रहपाल पर कर्ण ने आक्रमण अपनी युद्ध पिपासा और राजनीतिक प्रभाव के विस्तार की इच्छा के कारण किया था और सम्भवतः वंगाल के कुछ भागों को जीतकर[1] कुछ दिनों के लिए उसे अपने अधीन भी कर लिया। किन्तु साथ ही उसने वौद्ध विद्वान् और साधु की मध्यस्थता स्वीकार करते हुए उसने नयपाल से संधि भी कर ली और आगे चलकर विग्रहपाल तृतीय से अपनी पुत्री यौवन श्री का विवाह कर दिया। वड़ा स्पष्ट है कि यदि कर्ण वौद्ध धर्म विरोधी होता अथवा वौद्ध विहारों एवं मठों का नाश करने वाला होता तो अपनी पुत्री का विवाह एक वौद्ध राजा से न करता। प्रवन्ध चिन्तामणि से वड़ा स्पष्ट है कि उसने वनारस में कर्ण मेरु नामक शिव मदिर वनवाया तथा वहीं एक शैव मठ की स्थापना भी की। अतः उस शैव राजा का एक वौद्ध राजा से विवाह सम्वन्ध स्थापित करना उसकी धार्मिक सहनशीलता का एक अपूर्व नमूना है।

चन्देल राजाओं की धार्मिक नीति

चन्देल राजाओं के व्यक्तिगत धार्मिक विश्वास तथा साधारण धार्मिक और सामाजिक अवस्था के वारे में हम विचार कर चुके हैं। अभिलेखों में उन्हें **परममाहेश्वर**[2] कहा गया है, परन्तु प्रायः स्तुतियां शिव और विष्णु दोनों की ही की गई हैं। खजुराहो निर्माण-कला में तत्कालीन सभी प्रमुख धर्मों—हिन्दू, वौद्ध और जैन तीनों के देवताओं की मूर्तियां एवं मंदिर विद्यमान हैं[3], जिसके आधार पर विद्वानों ने चन्देल राजाओं को धार्मिक मामले में सहिष्णु कहा है।

निमाइ स० वौस महोदय ने कृष्ण मिश्र के वर्णन को वैष्णव धर्म के प्रति पक्षपाती कहा है। उनका कहना है कि **प्रवोध चन्द्रोदय**[4] में वौद्ध एवं जैन धर्म के आपसी संघर्ष अथवा विरोध का जो वर्णन किया गया है वह मात्र वैष्णव धर्म की महत्ता को स्पष्ट करने के लिए ही है, क्योंकि **प्रवोधचन्द्रोदय** के वर्णनों के समर्थन में दूसरा कोई प्रमाण नहीं मिलता। किन्तु यदि यह सच भी हो कि कृष्ण मित्र ने वौद्ध अथवा जैन धर्म के अनुयायियों अथवा उनके सिद्धान्तों का उपहास करने के लिए अपना लिखित प्रयत्न (प्रवोधचन्द्रोदय) किया, तो भी उसे वहुत महत्त्व नहीं

1. देखिये कर्ण का पैकोर अभिलेख।
2 आ०रि०, जिल्द 21, पृ० 34, 35; ए०इ०, जिल्द 4 पृ० 154।
3. ए०इ०, जिल्द 4, पृ० 125।
4 प्रवोधचन्द्रोदय, अंक 3, पृ० 100-115।

दिया जा सकता। वह लेखक हिन्दू पौराणिक धर्म को मानने वाला था और अपने मतों की प्रमुखता दिखाने का उसका प्रयास स्वाभाविक था। स्वयं जैन और बौद्ध धर्म सम्प्रदायवादी भी इस प्रवृत्ति के शिकार थे, ऐसा हम पीछे कई बार दिखा चुके हैं। अपनी जनता के बीच विभिन्न सम्प्रदायवादियों की प्रवृत्ति में राजाओं की कोई रुचि नहीं थी और स्वयं वे धार्मिक मामलों में, अपने स्पष्ट व्यक्तिगत विश्वासों के बावजूद, पूर्ण तटस्थता की नीति का अवलम्बन करते थे।

इस आधार पर यह नही कहा जा सकता कि चन्देल राजाओं के समय में विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में कोई धार्मिक कटुता थी। चन्देल शासक वास्तव में धार्मिक दृष्टि से सहिष्णु थे[1]। केशवचन्द्र मिश्र ने भी चन्देल राजाओं को धार्मिक मामले में सहिष्णु ही कहा है। वे कहते हैं कि इसमें कोई सन्देह नही कि उत्तर-भारत हो अथवा दक्षिण, समस्त समकालीन शासकों ने अपनी धार्मिक समग्रता को विदेशी झोंकों से रक्षित करने तथा धार्मिक एकता बनाए रखने के लिए युद्ध किए। चन्देल उनमें सबसे आगे थे[2]। फर्ग्यूसन महोदय ने खजुराहो निर्माण-कला के के आधार पर चन्देल राजाओं द्वारा अपनायी गई धार्मिक एकता की बात को स्वीकार की है। वे सारे मंदिरों को एक ही राजा द्वारा बनवाया गया मानते हैं तथा कहते हैं कि मंदिरों को देखने से एक बात स्पष्ट रूप से सामने आती है कि राजाओं की नीति तत्कालीन सभी धर्मों के प्रति सम्मान आदर और संरक्षण की थी। उनमें धार्मिक द्वेष अथवा प्रतिस्पर्धा का कोई प्रमाण नहीं दिखाई देता[3]।

बाजपेयी महोदय कहते हैं कि चन्देलों के शासन काल में पौराणिक हिन्दू धर्म वाममार्गी, बौद्ध और जैन समान रूप से पनपते रहे थे जो धार्मिक मामलों में चन्देलों की सहिष्णु नीति का परिचायक है[4]। तथापि अभिलेखीय साक्ष्यों का साव धानी से विचार करने पर यह लगता है कि चन्देल युग का पूर्वार्द्ध प्रधान रूप से जिस धर्म विशेष से प्रभावित था वह सनातन हिन्दू धर्म ही था। शिव, विष्णु, देवी जगदम्बी के साथ-साथ पशुओं एवं वृक्षों को भी देवत्व प्राप्त था। बहुदेववाद के कारण वैदिक धर्म सर्वप्रमुख स्थान पर था। जैन धर्म सिमट गया था और बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा केवल नाम मात्र की थी। खजुराहो निर्माण कला में जो धार्मिक एकता देखने को मिलती है वह निश्चित रूप से धार्मिक उदारता का

---

1. बोस, नि०स०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 161।
2. मिश्र के०च०, चन्देल और उनका राजत्वकाल, पृ० 211।
3. फर्ग्यूसन, जे० हिस्ट्री आफ इंडियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, जिल्द 1, पृ० 49 लन्दन 1910।
4. बाजपेयी, राघवेन्द्र, साप्ताहिक विशेषांक, हिन्दुस्तान 16 मार्च, 1969, पृ० 25।

ज्वलंत उदाहरण है। यह बात कही जा सकती है कि राजाओं ने हिन्दू राज-शास्त्रों में वर्णित राजा द्वारा धार्मिक मामलों में बरती जाने वाली सभी धर्मों के प्रति समान नीति के आदर्श का पूरी तरह अनुसरण किया। संभवतः ऐसा ही सोच कर उन्होंने अपनी नीति को चिरस्थायी बनाने के लिए सभी भारतीय धर्मों के संगम रूप में खजुराहो की वस्तु और मूर्ति कला के निर्माण में शिल्पियों को उस धार्मिक समत्व को मूर्ति रूप देने का आदेश दिया। तथापि इस बात के समर्थन में फर्ग्यूसन का एतत्संबंधी मत स्वीकार करते हुए भी उनके इस कथन को नहीं स्वीकार किया जा सकता कि खजुराहो की सम्पूर्ण निर्माण कला एक ही राजा की देन थी। वास्तव में उन सारे मंदिरों की मूर्तिकला की एकरूपता के पीछे यशोवर्मा और धंग के समय निश्चित की गई निर्माण की एक नीति थी, जो सभी चन्देल राजाओं ने समान रूप से आगे भी व्यवहृत की।

अतः उपर्युक्त मत को स्वीकार कर लेने पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि खजुराहो की निर्माण-कला धार्मिक सहिष्णुता दिखाने हेतु चन्देल राजाओं का एक स्तुत्य प्रयास था, क्योंकि पीछे हम देख चुके हैं कि व्यक्तिगत रूप में चन्देल राजाओं का शैव धर्म के प्रति विशेष लगाव था और वे **परममाहेश्वर**[1] विरुद्ध धारण करते थे। साथ ही सामाजिक स्थिति का अध्ययन करने से भी हिन्दू धर्म को उनके द्वारा विशेष संरक्षण प्रदान करने की बात स्पष्ट होती है। हिन्दू धर्म के अनुयायियों, विशेषतः ब्राह्मण लोगों, को विशेष सम्मान प्राप्त होता था। प्रायः सभी अवसरों पर उन्हें दान ग्रहण करते हुए दिखाया गया है तथा उनके द्वारा धार्मिक क्रिया-कलाप सम्पन्न कराने के साथ-साथ राजकीय कार्यों में भी बहुत भाग लेने की चर्चायें प्राप्त होती हैं[2]। अभिलेखों[3] में ब्राह्मणों को राजाओं के मंत्री के रूप में प्रस्तुत किया गया है, किन्तु, अन्य किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय के किसी विद्वान् को राजकीय सेवक के रूप में नहीं प्रस्तुत किया गया है। किन्तु इसका कारण यह कदापि नहीं था कि चन्देल राजाओं के मन में अन्य सम्प्रदायवादियों के लिए आदर नहीं था, अपितु यह था कि बौद्ध और जैन मतावलम्बियों की संख्या बुन्देलखण्ड में अपेक्षाकृत बहुत ही कम थी। ऐसी परिस्थिति में चन्देल राजाओं द्वारा ब्राह्मणों अथवा वैदिक धर्म के प्रति विशेष संरक्षण की बात आसानी से स्पष्ट हो जाती है। उनकी यदि नीति पन्द्रहवी शदी के बाद के मुसलमान शासकों की उस नीति के समान नहीं है जिसमें उन्होंने प्रमुख ऊंचे-ऊंचे पदों पर केवल

---

1. आ०स०री०, जिल्द 21, पृ० 34-35।
2. ए०इ०, जिल्द 1, पृ० 137।
3. वही।

मुसलमानों को नियुक्त किया था और हिन्दुओं की हमेशा उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे, जिसका अंत अकबर के समय में हुआ था[1]। चन्देलकालीन साहित्य एवं विद्याओं के बारे में जो सूचनायें मिलती हैं वह अधिकांशतः हिन्दू धर्म से सम्बन्धित हैं। तथापि मूर्ति-कला की शिक्षा के रूप में जैन और बौद्ध कलाओं की शिक्षा दी जाती थी जो शिल्प की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

अतः समाजिक एवं धार्मिक अवस्था के सही रूप में मूल्यांकन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चन्देलों का आध्यात्मिक विश्वास परम्पराविहित था। वे उपासना एवं भक्ति के मामले में हिन्दू धर्मानुयायी थे, परन्तु निर्माण एवं राजकीय क्रिया-कलापों के क्षेत्र में उनका धार्मिक दृष्टिकोण उदारता के सिद्धांत पर आधारित था।

निष्कर्ष

जैसा कि कलचुरियों की धार्मिक नीति के निष्कर्ष के रूप में हम लिख चुके हैं, मध्य प्रदेश के और उसके आसपास के क्षेत्रों में जैन एवं बौद्ध धर्म अत्यन्त कमजोर थे तथापि बुन्देलखण्ड के चन्देल क्षेत्रों में जैन धर्म एकदम शिथिल नहीं था। बौद्धों के विपरीत जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों और मंदिरों का निर्माण अबाध गति से होता रहा, तथापि उनकी वह मान्यता नहीं थी जो हिन्दू धर्म के देवी-देवताओं अथवा उनके विश्वासों और उनकी मान्यताओं का स्थान था। कलचुरियों की तरह चन्देल शासक भी अधिकांशतः शैव प्रतीत होते हैं, किन्तु जैसाकि धंग के खजुराहो अभिलेख से स्पष्ट है वे हिन्दू धर्म के सभी देवताओं को तो मानते ही थे, खजुराहो के मंदिरों की कला से स्पष्ट है कि वे जैन, हिन्दू और अन्य अनेकानेक सम्प्रदायों के देवमण्डलों को एक साथ देखना चाहते थे। यह उनके शुद्ध व्यापक दृष्टि का परिचायक है। धंग के समय से लेकर आगे के उसके कई वंशज शासकों ने प्रभास[2] नामक ब्राह्मण के वंशजों को कम से कम पांच (5) पीढ़ी तक पिता-पुत्र के क्रम से अपना मंत्री नियुक्त किया। यह उनके वैदिक धर्मानुयायी विद्वान् और शास्त्रज्ञ ब्राह्मण परिवारों के प्रति सच्चे आदर का द्योतक है, किन्तु वे अपना दान सबको देते रहे और उनके अभिलेखों से उनमें किसी प्रकार के संकोच का प्रदर्शन नहीं होता।

चन्देल शासकों के समय में मुसलमान आक्रमणों की वैसी ही समस्या थी जैसी

---

1. द्रष्टव्य, शर्मा, एस०आर०, रिलिजियस पालिसी आव द मुगल्स।
2. पाठक, वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 403।
—अल्तेकर अनन्त सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेंट इन ऐंशियेंट इंडिया, मंत्रिमण्डल से सम्बद्ध स्थल।

प्रतीहार अथवा गाहडवालों के सामने थी अथवा चाहवानों और गुजरात के चौलु-क्यों के सामने थी। किन्तु जहां इन वंशों के अभिलेखों, काव्यों अथवा अन्य सम्बद्ध साक्ष्यों में मुसलमानों के प्रति उनकी भावनाओं का उल्लेख हुआ है, चन्देल साक्ष्यों में चन्देलों की भावनाओं का कोई प्रदर्शन नहीं मिलता। अतः इतिहास के विद्यार्थी का यह दुर्भाग्य ही है कि उसे इस विषय पर कोई प्रकाश नहीं मिलता। चन्देलों पर दो वार मुसलमानी आक्रमण हुए। एक तो विद्याधर चन्देल के समय महमूद गजनवी का कालंजर पर 1019 और 1022 ई० में और दूसरे परमर्दिन के समय कालंजर पर कुतुबुद्दीन ऐवक का 1202 ई० में। दुर्भाग्यवश हमें विद्याधर का कोई अभिलेख अब तक नहीं प्राप्त हुआ और न परमर्दिन के ही किसी अभि-लेख में मुसलमानी आक्रमण की कोई चर्चा है। इस सम्वन्ध के जो भी साक्ष्य हैं वे मुसलमानी विजय का एकतरफा ढोल पीटते हैं। यहां विजय और पराजय के प्रश्न को न उठाते हुए भी यह ध्यान योग्य है कि महमूद गजनवी ने विद्याधर अंत में मित्रता कर ली[1] और गजनी लौट जाने का निश्चय किया। यह दोनों पक्षों की शुद्ध राजनीतिक मित्रता थी, जो एक दूसरे की वलावल को अजमा लेने पर शुद्ध वरावरी के सिद्धान्त पर स्थिर थी और दोनों के जीवन पर्यन्त चलती रही। वड़ा स्पष्ट है कि विद्याधर को महमूद गजनवी के मुसलमान होने के कारण उससे कोई विद्वेष नहीं था और राजनीतिक स्तर पर मित्रता कर लेने में उसने अपना कोई अपमान नहीं समझा। यह उसकी परिपक्व राजनीतिक व धार्मिक वुद्धि का परिचायक है।

---

1. पाठक, वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 411।

अध्याय—5

परमार शासकों की धार्मिक नीति

ज्ञान स्रोत

गुर्जर प्रतीहार और राष्ट्रकूट साम्राज्यों के खण्डहरों पर उठने वाली सत्ताओं में परमार राजवंश प्रमुख था। प्रलयंकारी युद्धों के विजेता एवं तत्कालीन राजनीति के अगुवा महाराजाधिराज कविराज शिष्टशिरोमणि धारेश्वर श्री भोजदेव का प्रादुर्भाव इसी राजवंश में हुआ था। परमार शासकों के युग की साहित्यिक कृतियां, उनके असीम बौद्धिक विकास की तरफ इंगित करती हैं। परमारों के इतिहास की जानकारी उनके अभिलेखों एवं तत्कालीन साहित्यिक ग्रंथों से होती है जिनमें पुराण[1], प्रबन्धचिन्तामणि[2], नवसाहसांकचरित[3], विक्रमांक-देवचरित,[4] भोजप्रबन्ध,[5] तिलकमंजरी[6] आदि की प्रमुख रूप से गणना की जा सकती है। अभिलेखों एवं साहित्यिक ग्रन्थों में वर्णित परमार कालीन धर्म, सामाजिक स्थिति एवं उस वंश के शासकों के व्यक्तिगत धर्म तथा विश्वासों परिप्रेक्ष्य में ही उनकी धार्मिक नीति का एक चित्र खींचना होगा।

---

1. स्कन्दपुराण, पूर्व निर्दिष्ट।
2. प्रबन्धचिन्तामणि, पूर्व निर्दिष्ट।
3. नवसाहसांकचरित, बम्बई संस्कृत सीरिज, 1895।
4. विक्रमांक देवचरित, बम्बई संस्कृत सीरिज 1875।
5. भोजप्रबन्ध, के०एन० पाण्डुरंग, बम्बई 1904;
   —जगदीश लाल शास्त्री, पाटन 1962।
6. तिलकमंजरी, भावदत्त शास्त्री एवं पाण्डुरंग, बम्बई 1903।

भोज के समय की धार्मिक स्थिति की जानकारी के जो स्रोत ऊपर गिनाये गये हैं उनमें से अधिकांश का स्वरूप परम्परागत अथवा अनुश्रुतिमूलक हैं। कुछ ग्रन्थ तो काव्यात्मक हैं जिनसे इतिहास की जानकारी तो होती है किन्तु उनसे ज्ञात सामग्रियों को स्वीकृति अन्य, अभिलेखीय तथा पुरातात्विक, समर्थक प्रमाणों के आधार पर ही दी जा सकती है। उदाहरण के लिये भोज की चर्चा करने वाला एक प्रमुख ग्रन्थ जैन आचार्य मेरुतुंग द्वारा विरचित **प्रवन्धचिन्तामणि** है। मेरुतुंग एक जैन कवि था जो अपने ग्रन्थ लेखन का उद्देश्य विद्वानों का मनोरंजन बतलाते हैं[1]। स्वाभाविक रूप में उसमें कथापरक कुछ ऐसे विवरण भी आ गये हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से सही नहीं प्रतीत होते। इसके अतिरिक्त मेरुतुंग सारी घटनाओं को एक जैन दृष्टि से देखता है जो अपने धर्म के प्रति पक्षपाती प्रतीत होती है। आगे हम देखेंगे कि भोज के धर्म और उसकी धार्मिक नीति सम्बन्धी उसकी चर्चाएं इस नियम का अपवाद नहीं हैं। **प्रवन्धचिन्तामणि** का आगे चलकर भारतीय कथा साहित्य पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा और उसकी उक्तियां भोज के इतिहास का आगे अविच्छिन्न अंग बन गई, जिनको अनेकानेक कवियों और लेखकों ने उद्धृत किया। उदाहरण स्वरूप सोलहवीं शताब्दी के काशी के पंडित वल्लालभट्ट का नाम लिया जा सकता है। उसने **भोजप्रवन्ध**[2] नामक अपना ग्रंन्थ लिखते समय मेरुतुंग की कथाओं का तो यथावत् उतार ही लिया, अपनी ओर से भी ऐसी अनेक बातें जोड़ दीं जो भोज के वास्तविक इतिहास से समर्थित नहीं होतीं। कुछ इसी प्रकार की स्थिति मुगलकालीन इतिहासकर फिरिश्ता की भी है। **तारीखे फिरिश्ता**[3] में वह मालवा के हिन्दू इतिहास की जो चर्चा करता है उसका सम्पूर्ण आधार अनुश्रुतिमूलक है और बहुत अंशों में वह मेरुतुंग के **प्रवन्धचिन्तामणि** में खोजा जा सकता है। अवुलफजल[4] एक अन्य मुगलकालीन इतिहासकार था जिसपर **प्रवन्धचिन्तामणि** की स्पष्ट छाप है। अतः इन ग्रन्थों का उपयोग वास्तविक इतिहास के परिप्रेक्ष्य में अन्य समर्थक प्रमाणों के आधार पर ही किया जायेगा।

परमारकालीन धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति का परिचय

शैव धर्म : परमारा राजाओं के अभिलेखों के अध्ययन से शैव धर्म की लोकप्रियता पर प्रकाश पड़ता है। अभिलेखों में शिव की स्तुतियां की गई हैं तथा

---

1 सुखबोधाय धीमताम्। प्र०चि०, द्विवेदी, पृ० 2।

2. भोजप्रवन्ध, पूर्व निर्दिट।

3. तारीखे-फिरिश्ता, ब्रिग्स का अंग्रेजी अनुवाद; लंदन 1827-29; कलकत्ता 1911।

4. देखिये, आइने अकबरी, अंग्रेजी अनुवाद, द्वारा एच० एस० जरेट, संशोधित, जे०एन० सरकार, कलकत्ता, 1898।

उनके विभिन्न नामों का उल्लेख[1] मिलता है जैसे—शंभु, श्रीकण्ठ, भवानीपति, अमरेश्वर, ओंकार, महाकाल, कालकालेश्वर, सिद्धनाथ, नीलकण्ठेश्वर उदलेश्वर, वैद्यनाथ, गोड़ेश्वर,। इसके साथ ही, केदारेश्वर, रामेश्वर, सोमनाथ और रुद्र आदि नामों से मन्दिरों के निर्माण कराने के भी उल्लेख है[2]।

वैष्णव धर्म—अभिलेखों में शैव संस्कृति के साथ-साथ वैष्णव संस्कृति के भी लोकप्रिय होने सम्बन्धी अनेक उदाहरण मिलते हैं। परमार राजाओं के ताम्र-पत्रों[3] पर उड़ते हुए गरुड़ पर विष्णु भगवान् का चित्र अंकित है जो कम महत्वपूर्ण नही है। इससे तत्कालीन समाज मे विष्णु की लोकप्रियता के साथ-साथ परमार राजाओं द्वारा उसे समान आदर प्राप्त होने का प्रमाण प्राप्त होता है। अभिलेखों में विष्णु के अनेक अवतारी नामो का उल्लेख हुआ है जिनमे नरसिंह, मत्स्य, वराह, परशुराम, राम, कृष्ण तथा कच्छप आदि हैं[4]। परमार शासकों द्वारा विष्णु के मंदिरों के निमित्त दान देने की चर्चाएं मिलती हैं[5]। आगे राजाओं के व्यक्तिगत धर्म और विश्वास का जो वर्णन किया जायेगा उससे वैष्णव संस्कृति के वास्तविक स्वरूप की जानकारी हो जायेगी।

समकालीन अभिलेखों से शिव और विष्णु के अतिरिक्त अन्य देवी-देवताओं के भी पूजे जाने के उल्लेख मिलते हैं। इस समय राजस्थान में सूर्य-पूजा का विशेष जोर देखने को मिलता है[6]। अभिलेखों में भगवान् सूर्य की प्रशंसा की गई है तथा 'ॐ नमः सूर्याय' मंत्र से उनका शुभारंभ हुआ है[7]। इसके अतिरिक्त दुर्गा, लक्ष्मी, भटेश्वरी, विद्याधरी, राधा, वाग्देवी, भारती, हनुमत, अम्बिका, गणेश, लांलिगस्वामी, क्षेत्रपाल, नकुलीश, चतुर्भुज, मारकण्डेय आदि के प्रति जनता की श्रद्धा के परिचय[8] प्राप्त होते हैं। अभिलेखों में चण्डिका आश्रम[9] का उल्लेख हुआ है। जिनमें निम्नलिखित प्रकार के मठाधीशों के रहने की चर्चा है। वे थे—तापस, वाकलराशि, ज्येष्ठराशि, योगेश्वर राशि, मोनराशि, योगेश्वरी, दुर्वासराशि

---

1. ए०इ०, जिल्द 11, पृ० 82।
2 वही, पृ० 235-36।
3. वही, जिल्द 19, पृ० 178।
4. वही, जिल्द 32, पृ० 1-8-49।
5. वही, जिल्द 9 पृ० 109।
6. राजपूताना का इतिहास, पृ० 24।
7. ए०इ०, जिल्द 30, पृ० 213-18।
8. ए०इ०, जिल्द 14, पृ० 16; ए०२०. जिल्द 2, पृ० 188-89।
—ए०उ०, जिल्द 20, पृ० 310; ज०ए०सो०बं०, 1914, पृ० 243।
9. ए०इ०, जिल्द 11, पृ० 221-22।

केदार राशि। इस तरह ऐसा लगता है कि मालवा ब्राह्मण धर्म का एक मुख्य केन्द्र था। अभिलेखों एवं साहित्यिक ग्रन्थों से ब्राह्मण अथवा हिन्दू धर्म के अतिरिक्त जैन धर्म के बारे में भी सूचनायें मिलती हैं।

जैन धर्म—मालवा ब्राह्मण धर्म का प्रमुख केन्द्र तो अवश्य रहा, परन्तु, जैन धर्म भी फलता-फूता रहा। जैन आचार्यों को भी राजाओं का संरक्षण प्राप्त था[1]। ग्यारहवीं सदी के प्रारंभिक भाग में महान् जैनश्वेताम्वर गुरु अम्भदेव के परमारों के राज्य के दक्षिणी भाग में रहने की सूचना मिलती है[2]। वर्णन मिलता है कि उन्होंने जैन धर्म के सिद्धान्तों की विधिवत् व्याख्या करते हुए उन्हें लोगों तक पहुंचाने का सतत् प्रयास किया। इसका फल यह निकला कि वहुत से लोग जैन धर्म की तरफ आकर्पित हुए और अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ। ग्यारहवीं सदी के मध्य के वने हुए अनेक जैन मन्दिर मालवा में पाये जाते हैं[3]। परमार शासकों के समय में अनेक जैन गुरुओं के विद्यमान रहने की चचायें मिलती हैं। मुंज के दरवार में जैन गुरु अमितगति और धनेश्वर के रहने का उल्लेख मिलता है[4]। **अमनस्वामीचरित**[5] से हमें सूचना मिलती है कि मानतुंग और देवप्रमसूरि अत्यन्त पण्डित जैन आचार्य थे। धनमाल और भोज के सान्निध्य का उल्लेख **प्रवन्धचिन्तामणि** में हुआ है[6]। परमार शासक नरवर्मन की सभा में जैनियों की उपस्थिति तथा राजा द्वारा उनके प्रति अगाध स्नेह प्रदर्शित करने का उल्लेख मिलता है[7]।

ऊपर तत्कालीन हिन्दू धर्म तथा उसके विभिन्न सम्प्रदाओं की चर्चा के साथ-साथ भारतीय धर्मों में जैन धर्म की चर्चा की गई है। परन्तु वौद्ध धर्म के वारे में सूचना उपलब्ध न होने के कारण उसका कोई उल्लेख नहीं किया गया है। ऐसा लगता है कि ब्राह्मण धर्म सर्वोच्च स्थान को प्राप्त कर चुका था और जैन धर्म उससे कुछ हीन स्थिति में था परन्तु वौद्ध धर्म के वारे में अभिलेखों और साहित्यिक ग्रन्थों का मौन उसकी अनुपस्थिति का सबूत है।

वर्ण-व्यवस्था हिन्दू सामाजिक ढांचे का आधार था। परमार राजा इसकी अखण्डता वनाये रखने में साहायक थे। उदयादित्य और नरवर्मन ने स्वयं घोपित

---

1. भारती, फरवरी 1955, पृ० 116, 117।
2. ए०इ०, जिल्द 19, पृ० 71।
3. प्रोग्रेस रिपोर्ट आफ द आर्केलाजिकल सर्वे, वं०न०, 1919 पृ० 61-66।
4. पीटरसन, चौथी रिपोर्ट, भूमिका, पृ० 3।
5. वही, तीसरी रिपोर्ट, पृ० 91, श्लोक 23।
6. प्रवन्ध चिन्तामणि, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 52 और आगे।
7. भारती, फरवरी, 1955, पृ० 122।

किया कि उनकी तलवारें वर्ण रक्षा के लिए सदा प्रस्तुत हैं[1]। वर्णों में ब्राह्मण विशेष सम्मानित थे। धार्मिक क्रिया-कलापों के सम्पादन के अतिरिक्त राजकीय पदों पर भी वे नियुक्त किये जाते थे[2]। सूचना मिलती है कि बिल्हण नामक ब्राह्मण विन्ध्यवर्मन का सन्धिविग्रहिकथा[3]। किन्तु उन्होंने अन्तर्विवाह द्वारा भारत के विभिन्न राज वंशों से सामाजिक सम्बन्ध स्थापित किये थे। उदयादित्य की पुत्री का विवाह गुहिल राजा से हुआ था, जगदेव ने अपनी कन्या का विवाह पूर्वी बंगाल के एक वर्मन् राजा से किया था। अर्जुनवर्मन की पहली रानी कुंतल नरेश की पुत्री थी, और उसकी दूसरी रानी एक चौलुक्य राजकुमारी थी। गुजरात के राजकुमार ने परमार राजवंश की एक राजकुमारी से विवाह किया था[4]।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि परमार शासकों के समय मालवा में ब्राह्मण धर्म अपनी पूर्ण वृद्धि पर था। उस धर्म का मुख्य स्वरूप पौराणिक था, जिसमें अनेकानेक देवी-देवताओं के मन्दिरों का निर्माण एक पुण्य कार्य माना जाता था। वैदिक यज्ञों की जगह भक्ति और साकार देवताओं की पूजा ने अपना मुख्य स्थान बना लिया था।

परमार राजाओं की विद्या, विद्वानों एवं साहित्य के प्रति अभिरुचि

परमार शासक निर्माण कार्य में जितने उत्साही थे उससे बढ़ कर कवियों और लेखकों के आश्रयदाता भी रहे। मुंज की सर्वाधिक प्रसिद्ध एक महान् विद्वान् और कवि एवं कवियों और लेखकों के आश्रयदाता के रूप में हुई। पद्मगुप्त कहता है कि विक्रमादित्य के चले जाने के बाद तथा सातवाहन के अस्त हो जाने पर सरस्वती देवी ने कवियों के मित्र मुंज में विश्राम किया[5]। वह उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहता है कि सरस्वती रूपी कल्पलता को पल्लवित करने वाले मानो एकमात्र कन्द (मूल) उस वाक्पतिराजदेव को हम नमस्कार करते हैं

---

1. जब्राब्राराएसो०, जिल्द 21, पृ० 351।
2. एस०एम०के०, पृ० 55।
3. ज०ए०सो०बं०, जिल्द 5, पृ० 379।
4. एनु०रि० मैसूर आर्कलाजिकल डिपार्टमेण्ट, 1929; ए०इ०, जिल्द 5, परिशिष्ट, पृ० 53।
5. नवसाहसांकचरित, 11वां, 93।

   अतीते विक्रमादित्ये गतेऽस्तं सातवाहने।
   कवि मित्रे विशश्राम यस्मिन् देवी सरस्वती॥

जिसके ही प्रसाद से हम पूर्व के कविन्द्रों के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं[1]। पद्मगुप्त को ही नहीं, अपितु अनेक कवियों को मुंज के दरबार में दान प्राप्त हुआ था। अहिच्छत्र का वसंताचार्य नामक दार्शनिक उज्जैन में आकर रहने लगा था जिसे मुंज ने दान दिया[2]। धनिक तथा धनंजय दोनों भाई अहिच्छत्र से मालव दरबार आये थे[3]। **पाइयलच्छीमाला** और **तिलकमंजरी** का प्रसिद्ध जैन लेखक धनपाल अपने भाई के साथ मालव दरबार में रहता था। मुंज के गाओन्दों अभिलेख[4] से ज्ञात होता है कि बंगाल, बिहार, असम और दक्षिण-पथ से आये अनेक ब्राह्मण और विद्वान मालवा में मुंज से दान प्राप्त करके रहते थे। उदयपुर प्रशस्ति[5] से सूचना मिलती है कि अपने वक्तृत्व, उच्चकवित्व, तर्कशक्ति तथा शास्त्रों और आगमों के ज्ञान से वाक्यतिराजदेव सज्जनों से सदा प्रशंसित होता रहता था। मुंज को अभिलेखों में सर्वश्रेष्ठ कवि की संज्ञा दी गई है[6]। कविराज भोज महान् के बारे में कहा गया है कि उसने सब कुछ साधा, सम्पन्न किया, दिया और जाना, जो अन्य किसी द्वारा सम्भव नहीं हो सका था[7]। धारा नगरी सुन्दर महलों एवं मन्दिरों से सजाई गई थी। वहां अनेक देशों से आए हुए तीनों विद्याओं के जानने वाले विद्वानों, का जमघट लगा रहता था[8]। धारा नगर में अतिप्रसिद्ध पार्श्वनाथ विहार था जो जैन शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था[9]। राजतरंगिणी से सूचना मिलती है कि भोज विद्वानों एवं कवियों का महान् आश्रयदाता एवं स्वयं साहित्य का निर्माणकर्ता था। वह स्वयं कविराज की उपाधि से विभूषित होकर उसने अन्य कवियों एवं लेखकों को सम्मानजनक उपाधियां प्रदान कीं। कश्मीरी कवि कल्हण भोज की तुलना कश्मीर के राजा के साथ करता हुआ कहता है कि ये दोनों राजा अपने दान प्रवृत्ति के कारण **कवि बान्धव** के रूप में अत्यन्त विश्रुत थे[10]। **विक्रमांकदेवचरित**[11] का रचयिता बिल्हण कहता है कि भोज की तुलना न

---

1. नवसाहशांकचरित, प्रथम, 3।
2. ए०इ०, जिल्द 6, पृ० 51-52।
3. वही, पृ० 53।
4 ए०इ०, जिल्द 23, पृ० 101-103।
5. वही, जिल्द 1, पृ० 235।
6. वही, जिल्द 16, पृ० 231।
7. वही, जिल्द 1, पृ० 235।
8. ए०इ०, जिल्द 8, पृ० 109।
9. ए०वं०, रो०इन्स०, जिल्द 8, पृ० 142-44।
10. राजरंगिणी, 7, पृ० 259।
11. विक्रमांकदेवचरित, 18, पृ० 99।

कोई राजा ही नहीं था। भोज की दानशीलता का वर्णन करते हुए वल्लारभट्ट सहित अनेक लेखकों ने उसकी प्रशंसा में एक अनुश्रुति ही चला दी कि भोज प्रत्येक श्लोक पर प्रत्येक रचयिता को एक लाख पुरस्कार स्वरूप देता था[1]। इतना ही नहीं **भोजप्रबन्ध** में तो भोज की वास्तविक विद्वानों और मूर्खों के प्रति विवेकपूर्ण व्यवहार की भी स्पष्ट चर्चा की गई है[2]।

भोज प्रबन्ध में यह वर्णन मिलता है कि किसी योगी के कहने पर कि राजा भोज का निधन हो गया, कालिदास[3] ने जबरदस्त विलाप किया जो भोज के प्रति उसके अगाध अनुराग का द्योतक है। परन्तु जब कालिदास ने यह जाना कि उक्त योगी राजा भोज ही था तो अत्यन्त प्रसन्न होकर उसने श्रद्धा भरे श्लोक कहे[4]। धनमाल की **तिलकमंजरी** सूचना प्राप्त होती है कि उस कवि ने **तिलकमंजरी** की रचना भोज के विशेष अनुरोध करने के बाद ही की थी, जिससे प्रभावित होकर भोज जैन धर्म की ओर झुक गया था[5]। भोज द्वारा अन्य जैन साधुओं को संरक्षण देने का भी उल्लेख मिलता है[6]। परमार शासक नरवर्मन् की सभा में भी समुद्रघोष[7], आदि जैन आचार्य रहते थे जिन्हें नरवर्मन ने ग्राम दान दिया[8]।

परमार राजाओं के व्यक्तिगत धर्म और धार्मिक विश्वास

सीयक द्वितीय के हर्सोल अभिलेख से उसके वैष्णव होने की जानकारी प्राप्त होती है जिसमें विष्णु के **नरसिंहावतार** की प्रारम्भ में प्रार्थना की गई है[9]। उसका

---

1. फिरिश्ता ब्रिग्म, जिल्द 1, भूमिका, पृ० 76।
2. भोज प्रबन्ध, पृ० 15।
   विप्रोऽपि यो भवेन्मूर्खः स पुराद्बहिरस्तु मे।
   कुम्भकारोऽपि यो विद्वान्सतिष्ठतु पुरेमम ॥ 74 ॥
3. भोजप्रबन्ध, पृ० 17।
   अद्यधारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती।
   पण्डिताः खण्डिताः सर्वे भोजराजे दिवंगते ॥ 326 ॥
4. भोजप्रबन्ध, पृ० 87।
   अद्यधारा सदांधारा सदालम्बा सरस्वती।
   पण्डिताः मण्डिताः सर्वे भोजराजे भुवंगते ॥ 327 ॥
5. तिलकमंजरी, भूमिका, पृ० 45।
6. भारती, फरवरी, 1955, पृ० 119।
7. वही, पृ० 122।
8. खरतरगच्छबृहद्गुरुवावली, पृ० 13।
9. हर्सोल अभि०, ए०इ०, जिल्द 19 पृ० 241।

पुत्र और उत्तराधिकारी वाक्यति द्वितीय मुंज राज एवं नरवर्मा भी वैष्णव थे[1]। नरवर्मा की उपाधि ही निर्वाणनारायण थी। उसकी नागपुर प्रशस्ति में विष्णु की बड़ी प्रशंसाएं की गई हैं। इसी प्रकार अर्जुनवर्मा और जयवर्मा भी वैष्णव थे जिनके अभिलेखों[2] में विष्णु के अनेक अवतारों के विवरण प्राप्त होते हैं, जिनकी पूजायें की जाती थीं।

किन्तु हिन्दुओं के जिस सम्प्रदाय का सर्वाधिक जोर परमारों के समय दिखायी देता है वह था शैव सम्प्रदाय। शिव कदाचित् परमारवंश का वंशदेवता ही प्रतीत होता है। परमारों के अधिकांश अभिलेख 'ओम् नमः शिवाय' से प्रारम्भ होते हैं। उसकी पूजा उसके विभिन्न नामों से स्थापित मंदिरों में मूर्तियों के माध्यम से की जाती थी, जैसे—स्मरारि, शम्भु, महेश, भवानीपति, सोमनाथ, नटेश, व्योमकेश, हर, ओंकार, महाकालेश्वर, अमरेश्वर, कनकलेश्वर, नीलकण्ठेश्वर, सिद्धेश्वर और केदारेश्वर। भारतवर्ष में जिन बारह (12) ज्योतिर्लिंगों की गणना की जाती है उनमें से कम से कम तीन (3) तो मालव क्षेत्रों में ही स्थापित थे। वे थे—उज्जैन का महाकाल और नर्वदा के किनारे अमरेश्वर और ओंकार मान्धाता के ज्तोतिर्लिग। इनमें उज्जैन के महाकाल ज्योतिर्लिग तो इतना प्रसिद्ध हुआ कि उसकी सारे भारतवर्ष में काशी के विश्वनाथ की तरह ही प्रतिष्ठा हो गई।

ऊपर हम यह कह चुके हैं कि शिव परमार राजाओं का वंशदेवता था। यह कथन इस नाते सही प्रतीत होता है कि सीयक द्वितीय, वाक्पतिराज द्वितीय और नरवर्मा जैसे विष्णु-भक्त राजाओं ने भी शिव की पूजा और शैव सन्तों के समागम में कोई कमी नहीं की[3]। सिन्धुराज और भोज तो शैव थे ही[4]। भोज ने भोजपुर के भोजेश्वर मंदिर तथा चित्तौड़ के संधीश्वर मंदिर का निर्माण कराया[5]। इसी प्रकार जयसिंह और नरवर्मा द्वारा भी शैव देवताओं की पूजा की चर्चायें मिलती हैं[6]।

---

1. इ०ए० जिल्द 14, पृ० 177;
   —प्रतिपाल भाटिया, पृ० 244।
2 देखिए, प्रतिपाल भाटिया, पृ० 245।
3. देखिये, ए०इ०, जिल्द 6, पृ० 51-52;
   —नेपाल राजदरबार लाइब्रेरी से प्राप्त संस्कृत हस्तलिपियों का उद्धरण;
   —प्रतिपाल भाटिया, पृ० 247, पादटिप्पणी 1।
4. नवसा हशांकचरित, जिल्द 18, श्लोक 14, 15, 53, 64।
   —ए०इ०, जिल्द 1, पृ० 235-36।
5 ना०प्र० पत्रिका, जिल्द 3, पृ० 1-18।
6. प्रतिपाल भाटिया, पृ० 248-49।

पोराणिक हिन्दू धर्म में ब्रह्मा, विष्णु और शिव की त्रिमूर्ति को पृथ्वी की सृष्टि, उसके पालन और उसके संहार को केन्द्र बनाकर बड़ा महत्व प्रदान किया गया है। किन्तु विष्णु और शिव की तुलना में ब्रह्मा की चर्चायें इस युग में बहुत नहीं मिलती। परमारों के क्षेत्रों से वसन्तगढ़[1], बांसवाड़ा स्थित चिन्व[2] और चन्द्रावती[3] नामक केवल तीन ब्रह्मा के मंदिरों की जानकारी होती है। किसी भी ब्रह्मा के मंदिर अथवा उसके भक्त को दिये जाने वाले दान का भी कोई उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु अन्य देवी-देवताओं के मंदिरों के द्वारों पर ब्रह्मा के चित्र उत्खचित पाये गये हैं तथा कुछ परमार अभिलेखों में भी अन्य देवी-देवताओं की पूजा के साथ ब्रह्मा भी स्तुति के उल्लेख हैं[4]।

त्रिमूर्ति के अतिरिक्त परमार क्षेत्रों में सूर्य-पूजा के प्रचलन के उल्लेख पाये जाते हैं। भिलसा सूर्यपूजा का सबसे बड़ा केन्द्र था, जहां भेल्लस्वामिन् के मंदिर की स्थापना 878 ई० के पूर्व हो चुकी थी[5]। वहां से दो अभिलेख प्राप्त हुए हैं जो 'ओम् नमः सूर्याय' से प्रारम्भ होते हैं। उनमें से एक पर भोज के संरक्षण में रहने वाले महाकवि चक्रवर्ती पंडित छिच्छ की लिखी एक सूर्य प्रशस्ति उत्खचित मिलती है[6]। इन देवताओं के अतिरिक्त परमार क्षेत्रों में विष्णु की स्त्री लक्ष्मी, शिवपत्नी पार्वती तथा शक्ति के अनेक रूपों और नामों से शक्ति की पूजा होती थी। इनसे सम्बद्ध मंदिरों और अभिलेखों के ब्योरों में जाने की यहां आवश्यकता नहीं। वे अन्यत्र देखे जा सकते हैं[7]। यही स्थिति शिव, ब्रह्मा और विष्णु के पारिवारिक सदस्य देवताओं की भी थी।

परमार राजाओं की धार्मिक नीति

पीछे परमारकालीन साधारण सामाजिक और धार्मिक अवस्था तथा राजाओं के व्यक्तिगत धर्म एवं क्रिया-कलापों का जो वर्णन किया गया है उसी के परिप्रेक्ष्य में राजाओं की धार्मिक नीति का एक निश्चित स्वरूप खींचना होगा।

परमार राजाओं की धार्मिक नीति के बारे में विद्वानों ने अपना अलग-अलग मत प्रतिपादित किया है। प्रतिपाल भाटिया ने परमार राजाओं के समय में उसकी

1. आर्किलाजिकल सर्वे रिपोर्ट, वे० स० 1905-1906, पृ० 50।
2. मरुभारती, द्वितीय, पृ० 85।
3. आर्केलाजिकल सर्वे रिपोर्ट, वेस्टर्न इंडिया, जिल्द 9, पृ० 96-99।
4. प्रतिपाल भाटिया, पृ० 255।
5. ए० इ०, जिल्द 30, पृ० 213।
6. प्रतिपाल भाटिया, पृ० 256।
7. वही, पृ० 257-63।

धार्मिक नीति में समत्व भावना होने की बात स्वीकार की है। वे कहती हैं कि उस समय लोगों में दर्शनों की भिन्नता अवश्य थी, परन्तु हृदय से वे एक थे। उनके सामाजिक रीतिरिवाज एक थे। वे एक साथ अध्ययन-अध्यापन करते थे तथा दूसरे धर्म की सच्चाइयों को मान्यता प्रदान करते थे[1]। डी० सी० गांगुली ने **प्रबन्धचिन्तामणि** के आधार पर महान् भोज को धार्मिक मामले में सहिष्णु कहा है[2]। उपर्युक्त विद्वानों ने साधारण अर्थ ही परमारकालीन धार्मिक नीति का उल्लेख किया है। हमें अन्य साक्ष्यों के आधार पर राजाओं द्वारा धर्म विशेष के प्रति किये गये कार्यों पर भी ध्यान देना होगा।

परमार राजाओं के अभिलेखों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनका हिन्दू धर्म से विशेष लगाव था। वंश के अधिकांश राजा शैव थे[3] और कुछ वैष्णव[4]। शिव और विष्णु की विभिन्न नामों के अन्तर्गत पूजा करने का उल्लेख मिलता है। परमार राजाओं द्वारा किये गये निर्माण कार्य इस बात के साक्षी हैं कि वे मंदिरों के निर्माण में अधिक दिलचस्पी रखते थे। उन्होंने मंदिरों का जो निर्माण कराया उनमें से अधिकांश हिन्दू धर्म से सम्बन्धित देवताओं को ही अर्पित किये गये। साथ ही परमारों ने जो दान दिये और जिस कारण उसकी धार्मिक ख्याति बढ़ी वह अधिकतर ब्राह्मणों के पक्ष में है। शिव और विष्णु के अतिरिक्त शक्ति, सूर्य, गणेश आदि देवताओं की चर्चायें मिलती हैं। ये सारे देवी-देवता वैदिक अथवा ब्राह्मण धर्म से ही सम्बन्धित हैं। इससे स्पष्ट है कि परमार राजाओं का झुकाव हिन्दू धर्म के प्रति विशेष रूप से था। इस मत के समर्थन में हम तत्कालीन सामाजिक स्थिति का भी उल्लेख कर सकते हैं। साहित्यिक ग्रन्थों एवं अभिलेखों से तत्कालीन सामाजिक स्थिति का जो स्वरूप मिलता है उससे भी हिन्दू धर्म अथवा वैदिक व्यवस्था के आधिपत्य की बात स्पष्ट होती है। वर्ण एवं जाति व्यवस्था का उल्लेख बार-बार ग्रन्थों में हुआ है और परमार राजाओं को वर्ण व्यवस्था के रक्षक के रूप में उपस्थित किया गया है[5]। इस व्यवस्था के जनक के रूप में ब्राह्मण ग्रन्थ ही हैं। जैन एवं बौद्ध धर्म के सुधारवादी आन्दोलनों ने इस व्यवस्था का विरोध किया। वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था और परमार राजा इसी व्यवस्था की रक्षा

---

1. प्रतिपाल भाटिया, पृ० 272, दिल्ली, 1970।
2. गांगुली, डी०सी०, परमार राजवंश का इतिहास पृ० 181, लखनऊ।
3. ए०इ०, जिल्द 11 पृ० 82।
4. वही, जिल्द, 14, पृ० 160;
   —वही, जिल्द 2, पृ० 182।
5. ज बां ब्रा, जिल्द 21, पृ० 351।

में तत्पर रहे। ऐसी स्थिति में यह मत निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाना चाहिए कि परमार राजाओं द्वारा ब्राह्मण अथवा हिन्दू धर्म को अन्य धर्मों की अपेक्षा अधिक सुख-सुविधा प्राप्त थी।

ऊपर जो कुछ लिखा जा चुका है उसके आधार पर यह निश्चित-सा प्रतीत होता है कि परमार शासक अपनी धार्मिक नीति में केवल उदार भावना से ही प्रेरित नहीं थे, अपितु उनमें धार्मिक समत्व का जो भाव था उसका आधार स्पष्टतः दार्शनिक था। वे एक ही धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों अथवा विभिन्न धर्मों के मूल तत्वों को एक मानते थे जिसके परिणामस्वरूप उसके धार्मिक आचरण अत्यन्त सहिष्णु एवं सभी धर्ममतावलम्बियों के प्रति उदार और समान व्यवहारों से ओत-प्रोत हो गये थे। ब्रह्मा, विष्णु और शिव एक ही परमसत्ता के त्रिरूप थे।

इसी पृष्ठभूमि में वाक्यतिराज द्वितीय और नरवर्मा जैसे वैष्णवो ने भी अपने अभिलेखों में शिव की पूजा की और शैव मंदिरों का निर्माण कराया। भोज महान् शैव था, किन्तु शैव होते हुए भी उसने चित्तौड़ में नारायण स्वामी का मंदिर बनवाया और स्वयं वहां जाकर कुछ दिनों रहा। शक्ति भी विष्णु और शिव की अर्द्धांगिनी मानी गई। परिणामस्वरूप ब्रह्मा, विष्णु, शिव, दुर्गा, भवानी, लक्ष्मी, काली, कार्तिकेय, गणेश, नन्दी, हंस, गरुड़, चक्र, शंख, गदा, पद्म और त्रिशूल जैसे सारे हिन्दू देवी-देवता और उनके प्रतीक तथा उनके दरबार हिन्दू-धार्मिक संगठन के व्यापक आधार के रूप में उपस्थित हुए। यह दार्शनिक भाव जितना प्रजा में था उतना ही राजाओं में भी था। परिणामतः राजाओं ने यदि धार्मिक सहिष्णुता और उदारता दिखाई तो यह किसी के प्रति कृपा के रूप में नहीं, अपितु असली दार्शनिक सत्य के दर्शन के कारण थी। वे इन सबको ब्रह्म का विराट स्वरूप मानते थे। एक में अनेक का दर्शन करते थे और समष्टि को व्यष्टि के रूप में देखते थे। राजा और प्रजा सभी यह मानते थे कि चाहे पूजा जिस देवता के माध्यम से की जाय, चाहे जिस साकार रूप में की जाय, वह अन्ततोगत्वा उसी अनादि, निराकार, आदि एवं अनन्त ब्रह्म को मिलती है जो सारी सृष्टि के पीछे असली सत्ता के रूप में स्थित है।

पीछे हम देख चुके हैं कि अनेक परमार राजा शैव थे, किन्तु उन सबकी राजमुद्रा पर गरुड़ का चित्र अंकित है[1]। जो परमार राजा वैष्णव भी थे वे भी शिव की पूजा और शैव सन्तों के समागम में तल्लीन दिखाये गये हैं। उदाहरण के लिए सीयक द्वितीय (वैष्णव) ने मत्तमयूर सम्प्रदाय के लम्बकर्ण नामक एक शैव

1. प्रतिपाल भाटिया, पृ० 242।

साधु को अपना आध्यात्मिक गुरु बनाया जिसकी चर्चा **प्रायश्चित समुच्चय** नामक ग्रन्थ में मिलती है[1]। शैव सन्तों और आचार्यो के अनेक सम्प्रदाय इस समय मध्य प्रदेश के कई भागों में स्थिति थे। पीछे हम कलचुरि राजाओं की धार्मिक नीति का विवेचन करते हुए गुर्गी, महसांव, विलहरी, भेड़ाघाट और त्रिपुरी में उन सम्प्रदायों के अनेक सन्तों एवं उनके द्वारा स्थापित मठो और मंदिरों का उल्लेख कर चुके हैं[2]। इसी प्रकार परमारों के क्षेत्र में भी अनेक शैव सम्प्रदायों, मठों एवं मंदिरों का अस्तित्व था, जो धार्मिक साहित्य के अध्ययन, अध्यापन और संरक्षण में अपने को लगाते थे। उदाहरणों के लिए चण्डिकाश्रम नाम का उज्जैन में एक शैव मठ था जिसके क्रमशः आठ आचार्यो का उल्लेख एक अभिलेख में किया गया है। क्रमिक रूप में उनके नाम थे[3]—

तापस
वाकलराशि
ज्येष्ठराशि
योगेश्वर राशि
मोनराशि
योगेश्वरी
दुर्वाश राशि
केदार राशि

इसमें एक नाम योगेश्वरी का है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मठों की अध्यक्ष के रूप में स्त्रियां भी नियुक्त की जाती थीं। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि शैव सम्प्रदायों में स्त्रियों के प्रवेश की मनाही नहीं थी। सम्भवतः शाक्त सम्प्रदाय का यह प्रभाव था। ये सभी सम्प्रदाय मूलत: उपेन्द्रपुर और मक्षमपुर नामक स्थानों में रहने वाले शैव गुरुओं से निकाले हुए माने जाते हैं। इन्हीं की शाखायें कलचुरियों के बघेलखण्ड वाले क्षेत्रों में थीं जिनका निर्देष ऊपर किया जा चुका है।

परमार क्षेत्रों में पाशुपत धर्म के सभी सम्प्रदायों के होने के उल्लेख मिलते हैं जिनमें मुख्य थे—लकुलशि, पांचरात्रिक, कापालिक अथवा महाव्रतधारी और

---

1. उद्धृत् प्रतिपाल भाटिया, पृ० 247।
2. पीछे देखिये, पृ० 106-108।
 —गुर्गी अभिलेख, कार्पस जिल्द 4, खण्ड 1, पृ० 230;
 —लक्ष्मणराज का विलहरी अभिलेख, कार्पस, जिल्द 4 खण्ड 1, पृ० 209।
3. ए०इ०, जिल्द 11, पृ० 220-223।

पाशुपत[1]। इन सबके पुष्पित और पल्लवित होने का एकमात्र कारण यह था कि उन सबको समान रूप से संरक्षण और दान प्राप्त था। साथ ही शक्ति की पूजा के अनेक केन्द्र वहां थे। **स्कन्दपुराण** के अनुसार विन्ध्यवासिनी देवी का अवन्ति में निवास था[2]। उज्जैन और आबू प्रसिद्ध शाक्त पीठों में से थे। जहां भैरव के साथ शक्ति के पूजा-केन्द्र थे[3] और दुर्गा पूजा का प्रसिद्ध त्यौहार मनाया जाता था[4]। इसी प्रकार माण्डू में कालिका देवी का मंदिर प्रारम्भिक परमार युग में ही निर्मित हो चुका था[5]। देवी के इन मंदिरों के कारण शक्ति-पूजा के क्षेत्र में मालवा में तंत्र का भी बड़ा विकास हुआ और साधकों एवं कुलों (साधुओं के कुलों) की एक बड़ी भारी परम्परा-सी चल गई[6]। इन सबके ऊपर परमार राजाओं का वरद-हस्त और उनकी कृपा बनी रही।

परमार राजाओं की जैन धर्म के प्रति नीति क्या थी इस पर भी विचार करना चाहिए। मेरुतुंग अपने **प्रबन्धचिन्तामणि** में मुंज और भोज के जीवन और इतिहास के बारे में अनेक उल्लेख करता है। **भोजप्रबन्ध** के भीतर वह **धनपाल प्रबंध** देता है[7]। तदनुसार शोभन और धनपाल नामक दो भाई थे। उनका पिता सर्वदेव संकाश्य गौत्र का मध्यदेश का रहने वाला ब्राह्मण था जो उज्जैन में जाकर रहने लगा था। सर्वदेव किसी जैन साधु और जैन दर्शन के प्रभाव में आकर जैन हो गया, जिसका अनुसरण उसके छोटे पुत्र शोभन ने भी किया। किन्तु धनपाल बहुत दिनों तक जैन धर्म की निन्दा करता रहा[8]। किन्तु कालान्तर में वह भी जैन धर्म से आकृष्ट होकर जैन हो गया। जैन सिद्धान्तों की मान्यता के साथ वह अहिंसा का पुजारी हो गया। उसने राजा भोज को भी अहिंसा धर्म का उपदेश दिया और उससे मृगया त्यागने का निर्णय करा लिया। मेरुतुंग यह दिखाने का प्रयत्न करता है कि धनपाल के प्रभाव से भोज जैन धर्म को मानने लगा था। किंतु इसका विश्वास कर सकना कठिन है। वास्तव में भोज धनपाल की विद्वत्ता और चरित्र से आकृष्ण था और उसने अहिंसा व्रत का पालन केवल उसे प्रसन्न रखने के लिए किया। इसके प्रमाणस्वरूप एक-दो और उदाहरण दिए जा सकते हैं। हमें

---

1. देखिये, प्रतिपाल भाटिया, पृ० 252 और आगे।
2. अवन्तिखण्ड, 66 वां 27।
3. दिनेशचन्द्र सरकार, द शाक्त पीठ्ज भूमिका, पृ० 20-22।
4. प्रतिपाल भाटिया, पृ० 258।
5. बार्नेस, धार और माण्डू, पृ० 253।
6. देखिये, प्रतिपाल भाटिया, पृ० 259-61।
7. प्र०चि०, द्विवेदी, पृ० 45 और आगे।
8. वही, पृ० 46।

भोजप्रबन्ध से यह सूचना मिलती है कि राजा अपने दरबार में एक मूर्ख ब्राह्मण को नहीं रखना चाहता था, बल्कि उसके स्थान पर एक विद्वान् कुम्भकार रह सकता था[1]। ऐसी हालत से यह कहा जा सकता है कि भोज जाति के आधार पर नहीं बल्कि गुण और विद्वत्ता के आधार पर ही आचार्यों का सम्मान करता था। हम ऊपर देख चुके हैं कि परमारों के समय में वर्ण-व्यवस्था को अधिक महत्त्व प्राप्त था और ब्राह्मण विशेष रूप से सम्मानित थे। ऐसी हालत में इस वृत्तान्त का विशेष महत्व है। **प्रबन्धचिंतामणि** के ही कर्ण और भीम तथा भोज सम्बन्धी चर्चाओं के सिलसिले में यह विवरण आता है[2] कि भोज अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में बीमार पड़ा और उसकी कमजोरी का लाभ उठाकर कर्ण कलचुरि और भीम चौलुक्य ने उसके राज्य पर आक्रमण की योजना बना ली[3]। चर्चा यह मिलती है कि कर्ण की सेनाओं ने आगे बढ़कर उसके राज्य और राजधानी पर धावा बोल दिया और उसके कोष का सारा धन लूट ले गया। उस सिलसिले में यह कहा गया है कि कर्ण के सैनिकों ने भोज को एक ऐसे समय घेर लिया जब वह उज्जैन के महाकाल मंदिर में पूजा कर रहा था[4]। इस आक्रमण और अपनी बीमारी, इन दोनों के धक्के से भोज बीमार पड़ा और शीघ्र ही मर गया। इससे स्पष्ट है कि वह अपने जीवन के अंतिम क्षणों तक शैव बना रहा और कभी भी जैन नहीं हुआ।

धनपाल प्रबन्ध से यह ज्ञात होता है कि धनपाल जैन हो जाने पर ब्राह्मणों की निन्दा, ब्राह्मण धर्म की निन्दा तथा **महाभारत** और **व्यास** की निन्दा करने लगा[5]। यह जैनों के संकुचित स्वभाव का द्योतक है। तथापि भोज ने उसका अनादर नहीं किया। सभी दर्शनों से सत्यमार्ग जानने की इच्छा उसकी बलवती बनी रही। मेरुतुंग कहता है—किसी समय एक बार सब दर्शनों को एकत्र बुला कर राजा ने मुक्ति का मार्ग पूछा। वे अपने-अपने दर्शन का पक्षपात करने लगे। सत्य मार्ग जानने की इच्छा से राजा ने उन सबको एक मत होने को कहा। वे सब 6 महीने तक शारदा की आराधना में लगे। किसी रात्रि के अंत में शारदा ने यह कह कर कि 'जागते हो ?' राजा को उठाया और।

सौगत बौद्ध धर्म है सो तो सुनने लायक है (अर्थात् उसके सिद्धान्त सुनने में अच्छे हैं), और अर्हत (जैन) धर्म है सो करने लायक है। व्यवहार में वैदिक धर्म

---

1. भोजप्रबन्ध, पृ० 15।
2. प्र०चि०, द्विवेदी, पृ० 60 और आगे।
3. प्र०चि०, द्विवेदी, पृ० 61-63। और देखिये, पाठक, वि पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 625।
4. पाठक, वि, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 625 ; ए०इ०, जिल्द 1, पृ० 297।
5. प्र०चि० द्विवेदी, पृ० 46, 48, 52।

का अनुसरण करना योग्य है और परमपद की प्राप्ति हेतु शिव का ध्यान करना उचित है[1]। मेरुतुंग के इस कथन से स्पष्ट है कि भोज स्वत: तो शैव हमेशा बना रहा, किन्तु उसकी सभी धर्मों के सारतत्व ग्रहण करने की स्पष्ट प्रवृत्ति भी बनी रही। धनपाल का सत्कार और आदर वह जैन होने के नाते नहीं अपितु एक बहुत बड़े कवि और लेखक के रूप में करता था। इसी प्रकार उसने कुलचन्द्र नामक एक दिगम्बर जैन को अपनी सेना का सेनापति बनाया जिसके गुजरात पर उस समय आक्रमण की चर्चा मेरुतुंग करता है जब वहां का चौलुक्य राजा भीम स्वयं सिन्धु देश की विजय के लिए गया हुआ था। वर्णन है कि कुलचन्द्र ने चौलुक्य राजधानी लूटकर भीम के मंत्री से जयपत्र पर हस्ताक्षर करा लिया[2]। स्पष्ट है कि भोज शैव होते हुए भी जैनियों के गुणों का आदर करता था।

भोज ने धनपाल से तिलकमंजरी लिखने के लिए आग्रह किया और कहते हैं कि तिलकमंजरी से प्रभावित होकर वह जैन हो गया[3] और धनपाल को सरस्वती की उपाधि दी। किन्तु प्रबन्धचिंतामणि की ही तरह तिलकमंजरी के इस उल्लेख पर संदेह किया जा सकता है। देवभद्र नामक एक दूसरे जैन साधु को भोज की कृपा प्राप्त थी[4]। भोज के ही समकालिक नयनन्दि नामक एक दूसरे जैन लेखक ने सुदर्शनचरित नामक ग्रंथ धारा के जिनवर विहार में रहते समय लिखा था[5]।

भोज के उत्तराधिकारी जयसिंह का संरक्षण जैन विद्वान् प्रभाचन्द्र को प्राप्त था। समुद्रघोष नामक जैन तर्क-शास्त्री विद्वान् नरवर्मा के राजदरबार में रहता था। किन्तु नरवर्मा पर सर्वाधिक प्रभाव था, आचार्य जिनवल्लभ का, जिसे उसने तीन गांवों का दान दिया। किन्तु उस साधु ने उन गांवों का दान अस्वीकार कर दिया जिसके बदले में नरवर्मा ने चित्तौड़ के जैन मंदिरों पर मंडिपकाओं का निर्माण कराया[6]। प्रतिपाल भाटिया[7] ने नरवर्मा के समय मालवा में जैन विद्वानों के जमघट और जैन विद्या के केन्द्रों का ब्योरा दिया है।

नरवर्मा के बाद मालवा पर जयसिंह सिद्धराज और कुमारपाल चौलुक्य का अधिकार हो गया, जिसके परिणामस्वरूप जैन विद्वानों के जड़ वहां और भी जम

---

1. प्र०चि० द्विवेदी, पृ० 53।
2. वही पृ० 41।
3. तिलकमंजरी, भूमिका, पृ० 4-5 ;
   —प्रतिपाल भाटिया द्वारा उद्धृत पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 267।
4. भारती, 1955, पृ० 119।
5. प्रतिपाल भाटिया, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 267।
6. भारती, 1955, पृ० 152; जिनपाल, खरतरगच्छवृहद्गुरुवावली, पृ० 13।
7. भाटिया, पूर्व निर्दिष्ट पृ० 269।

गयी[1]। किन्तु थोड़े ही दिनों में विन्ध्यवर्मा और उसके पुत्र सुभटवर्मा ने परमार क्षेत्रों पर जयसिंह सिद्धराज और कुमारपाल के परमारों पर आक्रमण और विजय का बदला लेने के लिए आक्रमण करना शुरू कर दिया, इसका अवसर उन्हें कदाचित् गुजरात पर होने वाले मुसलमान आक्रमणों के कारण प्राप्त हुआ। जैन ग्रन्थ सुभटवर्मा को जैन विरोधी बतलाते हैं। तदनुसार उसने दभोई के मंदिरों से जैन कुपोलों को उतरवा लिया और गुजरात के अनेक जैन मंदिरों को धराशायी कर दिया[2]। इन विवरणों में दो प्रकार की सम्भावनायें हो सकती हैं। एक तो यह कि कदाचित् जैन लेखकों ने जैन क्षेत्र पर गुजरात पर सुभटवर्मा के आक्रमण के कारण जानबूझकर उसकी निन्दा की हो, और दूसरे यह भी सम्भव है कि मालवा पर किए गये अत्याचारों[3] की स्मृति से रुष्ट होकर सचमुच ही सुभटवर्मा ने गुजरात में कुछ जैन मंदिरों का विध्वंस किया हो। किन्तु प्रत्येक दशा में यह विवरण अतिरंजित लगता है। मन्दिरों का नाश, भारतीय राजाओं की प्रवृत्ति से बिल्कुल विपरीत था। कश्मीर के हर्ष जैसे कुछ राजा अपवादरूप में ही इस प्रकार का अन्य उदाहरण उपस्थित करते हैं, किन्तु वे सब अपवाद ही थे। सुभटवर्मा अथवा हर्ष के इस प्रकार के आचरण का एक कारण उनकी धनलोलुपता हो सकती है[4]। इन मंदिरों के कलशों और शिखरों में बड़ा सोना लगा रहता था। सम्भव है सुभटवर्मा ने उस सोने का लालच करके ही उन्हें तोड़ा हो और मूर्तियों को तोड़ने अथवा अपमानित करने का उसका उद्देश्य नहीं रहा प्रतीत होता है।

सुभटवर्मा के बाद के परमार राजाओं ने जैन धर्म के प्रति अपनी वंश की पुरानी सहिष्णु और उदारनीति को पुनः अपना लिया। इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं[5]। किन्तु वे इस शोध की समय-सीमा के आगे होने के नाते यहां विचारित नहीं किए जायेंगे।

हम यह कह सकते हैं कि परमारों के समय में ब्राह्मण, साहित्य, विद्या एवं विद्वानों को जो संरक्षण प्राप्त हुआ और संस्कृति की जो उन्नति हुई उसके परिणाम

---

1. प्रतिपाल भाटिया, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 269।
2. वही।
3. पाठक, वि० पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 5-6-518।

   कहा गया है कि जयसिंह ने मालवों को युद्ध में हराकर वहां की राजलक्ष्मी अपहृत कर ली और वहां के राजा नरवर्मा को तुम्बे की तरह कठघरे में बन्दी बना लिया (कीर्तिकौमुदी, द्वितीय, 30-32)। यह भी कहा गया है कि जयसिंह ने प्रतिज्ञा की थी कि नरवर्मा को मारकर वह उसकी खाल से अपनी तलवार की खोल बनायेगा।

   (प्रबन्धकोष, पृ० 91)।
4. राजतरंगिणी, सप्तम, श्लोक 1086-1095।1344।
5. प्रतिपाल भाटिया, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 269 और आगे।

स्वरूप उनके राज्य में कोई मूर्ख ब्राह्मण रहा नहीं। अतः भोज की नीति गुण-ग्राहकता की ही थी। उसके द्वारा विभिन्न दर्शनों एवं आचार्यों के प्रति उदारता का व्यवहार उसके साहित्यिक अनुरान के कारण था।

अत: यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि परमार राजा धार्मिक मामले में अत्यन्त उदार थे। उनकी उदारता और मुक्त हस्तदानशीलता का ही परिणाम था कि सभी धर्मावलम्बियों ने उनसे समान संरक्षण प्राप्त करते हुए एक साथ रह कर उनके युग को भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का महान युग बना दिया। संस्कृत साहित्य के भण्डार को मालवा की अमूल्य देनें हैं। परमारों के चिरंतन प्रोत्साहन और उदार सहानुभूति ने एक आदर्श राज्य के सफल निर्माण में प्रेरक शक्ति का काम किया।

अध्याय—6

मगध-गौड और बंग के राजाओं की धार्मिक नीति

बंगाल में वैदिक संस्कृत का प्रवेश

वैदिक संस्कृति का विस्तार केवल पूर्वी भारत में ही नहीं, बल्कि धर्मसूत्रों में वर्णित वैदिक सभ्यता के अन्तर्गत आने वाले राज्यों के बारह भी था। इसका प्रचुर प्रमाण गुप्तकाल तक के अभिलेखों से मिलता है। बुद्धगुप्त के दामोदरपुर ताम्र-पत्र-लेख[1] में बंगाल में रहने वाले विभिन्न गोत्र के ब्राह्मणों का उल्लेख है जिनमें ऋग्वैदिक, यजुर्वैदिक (वाजसनेय) सामवैदिक, भारद्वाज, काण्ड, भार्गव, काश्यम, अगस्त्य, वत्स्य आदि प्रमुख थे। अधिकांश अभिलेखों में ब्राह्मणों को दान देने की चर्चायें हैं। दान का औचित्य स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि राजा अपने तथा अपने माता-पिता के पुण्यलाभ हेतु ब्राह्मणों को दान देते थे। निधानपुर[2] ताम्रपत्र-अभिलेख से सूचना मिलती है कि सिलहट में 205 ब्राह्मण परिवार थे, जो विभिन्न गोत्रों और शाखाओं से सम्बन्धित थे। यह भी ज्ञात होता[3] कि चारों वेदों में निष्णात् ब्राह्मण बंगाल के पूर्व भाग के उन स्थानों पर रहते थे जो सम्भवतः जंगलों के आस-पास थे। पांचवीं, छठी, और सातवीं शती के अभिलेखों से बंगाल में वैदिक सभ्यता के प्रभाव की स्पष्ट जानकारी होती है।

---

1. ए०इ०, जिल्द 15, पृ० 144 और आगे।
2. देखिये, मजूमदार र०च०, हिस्ट्री आफ बंगाल, जिल्द 1, पृ० 396 में उद्धृत संदर्भ।
3. ए०इ०, जिल्द 15, पृ० 307 एवं 311।

पाल शासकों के समय में वंगाल में वैदिक संस्कृत के विशेष शक्तिशाली होने के प्रमाण मिलते हैं। पाल अभिलेखों[1] में वेद, वेदांग, मीमांसा और यज्ञ आदि सम्पन्न कराने में निष्णात् ब्राह्मणों को दान देने की चर्चायें हैं।

ग्यारहवीं और बारहवीं सदियों में वर्मन और सेन राजाओं के संरक्षण में वैदिक संस्कृति ने अपना सर्वोच्च स्थान बना लिया था। भट्टभाव देव के अभिलेख[2] में इस बात का उल्लेख है कि सावर्ण गोत्र के वैदिक शिक्षा सम्पन्न ब्राह्मण 100 गांवों में रहते थे। भोजवर्मन् के वेलवाताम्र[3] में कहा गया है कि वैदिक साहित्य के अध्ययन करने वाले ब्राह्मणों को पुण्डवर्धन में भूमिदान दिया गया था, जो उत्तरराढा से आए थे। सेन अभिलेखों में वैदिक शाखाओं—कौथुमी, आश्वलायन, काण्व, पैप्पलाद आदि, का उल्लेख हुआ है। सामन्तसेन को ब्राह्मवादी कहा गया है[4]।

अभिलेखों में ब्राह्मणों के मध्य देश से वंगाल में स्थानान्तरित होने का भी उल्लेख है। जो ब्राह्मण वंगाल में स्थानान्तरित हुए उन्हें विशेष महत्त्व मिला तथा प्रमुख अवसरों पर उन्हें दान भी दिए गये[5]। पाल शासक महीपाल के समय में हस्तिपद (मध्यदेश) से किसी ब्राह्मण के वंगाल जाने का उल्लेख मिलता है[6]। पाल शासक धर्मपाल ने भी मध्यदेश से आए हुए एक ब्राह्मण को भूमि दान दिया जिसकी चर्चा आसाम से प्राप्त सौणमुखी[7] अभिलेख से होता है। मध्यदेश से जाकर ब्राह्मणों को वंगाल में जो प्रश्रय अथवा संरक्षण प्राप्त हुआ उसका वंगाल के वैदिक साहित्य के आन्दोलन में सातवीं सदी से बारहवीं सदी तक विशेष महत्वपूर्ण स्थान है[8]।

गुप्त शासकों के समय तक हिन्दू धर्म अपने नये रूप में लोगों के हृदय में स्थान प्राप्त कर चुका था। पुराने देवी-देवताओं के स्थान पर नये-नये देवताओं

---

1. ए०इ०, जिल्द 19, पृ० 304 तथा जिल्द 2, पृ० 160 (बादल स्तम्भ लेख) एवं जिल्द 14, पृ० 324 (बानगढ़ अभिलेख)।
2. इ० बंगाल, पृ० 33-36;
   —मजुमदार र०च०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 397।
3. इ० बंगाल, 19; मजुमदार र०च०, पूर्व निर्दिष्ट पृ० 397।
4. मजुमदार र०च०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 397।
5. शर्मा, दशरथ; अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० 239, टिप्पणी 12;
   —ए०इ०, जिल्द 2, पृ० 180; जिल्द 14, पृ० 324;
   —ए०इ०, जिल्द 14, पृ० 166।
6. ए०इ०, जिल्द 8, पृ० 325।
7. ज० आ० रि० सी०, जिल्द 3, पृ० 133 और आगे।
8. मजुमदार र०च०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 397, पाद टिप्पणी 4।

का प्रादुर्भाव हो रहा था वैदिक देवताओं की जगह पौराणिक देवताओं की प्रतिष्ठा हो गई थी। वंगाल इस नये लोकप्रिय धर्म से प्रभावित हुए विना नहीं रह सका, जिसका प्रमाण गुप्तों, पालों तथा सेन शासकों के अभिलेखों में मिलता है। पाल अभिलेखों[1] में इन्द्र को देवताओं के शिरोमणि के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उन्हें पुरन्दर के रूप में दैत्यों द्वारा पीड़ित एवं उनके राजा वलि द्वारा पराजित कहा गया है[2]। लक्ष्मी को हरि, पृथ्वी (वसुन्धर) तथा मुरारि की पत्नी के रूप में उद्धृत किया गया है[3]। कृष्ण को श्रीपति, क्षमापति, मुरारि और जनार्दन[4] तथा गोपाल[5] के रूप में प्रस्तुत किया है। कृष्ण के ये सारे स्वरूप विष्णु अथवा वैष्णव धर्म से सम्वन्धित हैं।

वंगाल में गोपाल को एक शिशु देवता न मान कर लक्ष्मी के पति के रूप में मान्यता प्राप्त थी[6]। सूर्य को 'हरि'[7] के तृतीय नेत्र के रूप में माना गया है तथा दाता कहा गया है। चन्द्र देवता को सितांशु कहा गया है और उनकी पत्नी के रूप में रोहिणी और क्रान्ति को प्रस्तुत किया गया है[8]। अन्य पौराणिक देवताओं में शिव तथा उनकी अर्द्धांगिनी उमा, उनके पुत्र गणेश और कार्तिकेय के भी उल्लेख हैं[9]।

वैष्णव धर्म

वंगाल में वैष्णव पूजा के प्रचलित होने का सवसे प्रारम्भिक उदाहरण सुनुनियां अभिलेख में मिलता है, जिसमें चन्द्रवर्मन को चक्रस्वामी का परमभक्त कहा गया है।[10] चक्रास्वामी विष्णु का अतिप्रसिद्ध नाम है। अभिलेखों में वर्णन है कि पांचवीं शती के प्रथमार्घ में वोगरा जिले[11] में गोविन्द स्वामिन् का मंदिर

---

1. खालिमपुर ताम्रपत्र, ए०इ०, जिल्द 4, पृ० 243।
   —भागलपुर ताम्रपत्र, ए०इ०. जिल्द 15, पृ० 304;
   —वादल स्मम्भलेख, ए०इ०, जिल्द 2, पृ० 160।
2. मुंगेर ताम्रपत्र, ए०इ०, जिल्द 18, पृ० 304।
3. खालिमपुर ताम्रपत्र, मुंगेर ताम्रपत्र, भागलपुर ताम्रपत्र।
4. मुंगेर और भागलपुर ताम्रपत्र, इ०ए०, जिल्द 15, पृ० 304।
5. वादल स्तम्भ लेख, ए०इ० जिल्द 2, पृ० 160।
6. वही।
7. कमौली ताम्रपत्र, ए०इ० जिल्द 2, पृ०-350।
8. देखिये, मजूमदार र०च०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 399।
9. विशेष द्रष्टव्य, वही, पृ० 399।
10. विशेश द्रष्टव्य, वही, पृ० 400 और पाद टिप्पणी 1।
11. ए०इ०, जिल्द 21, पृ० 78।

था तथा इसी शती के अन्त में उत्तरी बंगाल में हिमालय की चोटी पर श्वेतवारा हस्वामिन् एवं कोकामुख-स्वामिन के दो मंदिर स्थित थे[1]। आठवीं शदी के आगे बंगाल में वैष्णव धर्म के विकास के बारे में अभिलेखीय साक्ष्यों से विशेष जानकारी होती है।

धर्मपाल के खालिमपुर ताम्रपत्र[2] में नन्नारायण के देवकुल तथा नारायण-पाल के समय के गरुड़ स्तम्भ लेख के निर्माण का उल्लेख हुआ है। लक्ष्मणसेन और उसके उत्तराधिकारी केशव सेन तथा विश्वरूप सेन को वैष्णव धर्म के प्रति विशेष लगाव रखने वाला कहा गया है तथा उनके अभिलेखों का प्रारम्भ भी विष्णु की वन्दना से हुआ है[3], जबकि चितगांव से प्राप्त एक समकालिक अभिलेख में दामोदर (गणेश) की वन्दना की गई है[4]। पालों तथा सेनों के समय के वैष्णव धर्म की स्थिति के बारे में राजाओं के व्यक्तिगत धर्म और विश्वास सम्बन्धी शीर्षक में आगे वर्णन किया जायेगा। परन्तु बंगाल में विष्णु के जिन अवतारों को मान्यता प्राप्त थी उसका उल्लेख कर देना आवश्यक है। विष्णु के अवतारों में वराह, नरसिंह, वामन और परशुराम प्रमुख थे। तथापि लक्ष्मन सेन की सभा का कवि जयदेव विष्णु के दस अवतारों की सूची देता है जो मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, बुद्ध और कल्कि थे[5]।

शैव धर्म

गुप्त अभिलेखों में शैव धर्म को अत्यन्त लोकप्रिय एवं पूर्ण विकसित धर्म के रूप में मान्यता प्रदान करते हुए शैव संस्कृति के विभिन्न स्वरूपों से जैसे रूद्र, शिव और लिंग पूजा का उल्लेख किया गया है। गुप्त शासकों के समय के उत्तरी भारत में शैव संस्कृति से सम्बन्धित देवताओं की स्थापना और लिंग पूजा के प्रचलित होने के निश्चित अभिलेखीय प्रमाण हैं[6]। दामोदरपुर ताम्रपत्र[7] से सूचना प्राप्त होती है कि पांचवी शती के अंत के पूर्व शिव के लिंगायत स्वरूप की पूजा उत्तरी बंगाल के अगम्य भागों में होती थी। सातवीं सदी प्रथमार्द्ध के शासकों—

---

1. ए०इ०, जिल्द 15, पृ० 135 और आगे;
   —विशेष द्रष्टव्य, मजूमदार र०च०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 400, याद टिप्पणी 3।
2. ए०इ०, जिल्द 4, पृ० 243।
3. इ० बंगाल, 85, 94, 101; मजूमदार र०च०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 401।
4. वही, पृ० 161।
5. देखिये, मजूमदार र०च०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 403, याद टिप्पणी 4।
6. चन्द्रगुप्त का मथुरा स्तम्भलेख, ए०इ०, जिल्द 21, पृ० 4।
7. ए०इ०, जिल्द 15, पृ० 140।

कर्ण सुवर्ण के शशांक[1] और कामरूप के भास्करवर्मा[2] का शैव धर्म से अटूट लगाव था।

पाल तथा सेन अभिलेखों में भी शिव की पूजा के सन्दर्भ मिलते हैं जिसका वर्णन आगे राजाओं के धर्म तथा विश्वास सम्बन्धी अध्याय में किया जायेगा। वंगाल में शैव संस्कृति के अन्तर्गत पाशुपत सम्प्रदाय का विशेप प्रभाव था। इसके साथ-साथ शक्तिवाद का वंगाल की स्थानीय संस्कृति पर अत्यधिक जोर था। देवी की विभिन्न रूपों में पूजा की जाती थी, जिनमें काली, ईशानकाली, रक्षाकाली, वीर्यकाली, प्रज्ञाकाली, सप्तर्णकाली, चक्रेश्वरी, घोरतारा, योगिनी-चक्र आदि स्वरूप उल्लेखनीय हैं[3]। परन्तु पाल तथा सेन अभिलेखों से शक्तिवाद के किसी निश्चित स्वरूप की कोई जानकारी नहीं होती[4]। परन्तु तांत्रिक देवत्व के वारे में नयपाल के गया से प्राप्त अभिलेख से जानकारी होती[5]।

अन्य भारतीय धर्मों में जैन धर्म और वौद्ध धर्म का भी उल्लेख करना आवश्यक है। परन्तु पाल तथा सेन अभिलेखों में जैन धर्म सम्वन्धी कोई जानकारी नहीं मिलती।

वौद्ध धर्म

वंगाल में वौद्ध धर्म की स्थिति के वारे में सातवीं शदी के चीनी यात्रियों के विवरणों से ज्ञात होता है। इन विवरणों में श्वान-च्वांग का वर्णन निश्चित रूप से विशेप महत्त्वपूर्ण है। श्वान-च्वांग कहता है कि राजमहल के पास के जंगल में 6 या 7 वौद्ध विहार थे, जिसमें 300 से अधिक भिक्षु रहते थे[9]। सातवीं सदी में वंगाल में वौद्ध धर्म अपनी विकास की स्थिति में था। नालंदा का प्रसिद्ध वौद्ध विहार पांचवीं सदी के वाद ही अपनी विशिष्ट स्थिति में आया। यद्यपि यह मगध में स्थित था, फिर भी वंगाल के धार्मिक जीवन से इसका अत्यन्त लगाव था। वंगाल के अध्येताओं एवं शासकों ने नालन्दा महाविहार के विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया था। श्वान-च्वांग कलिंग के वारे में कहता[7] है कि वहां महायान शाखा के 500 भिक्षु रहते थे। पाल शासकों ने वौद्ध धर्म

---

1. मजूमदार र०च०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 67।
2. वही, पृ० 405।
3. वही, पृ० 407।
4. वही।
5. ज०रा० ए० सो० वं०, जिल्द, 69, पृ० 190।
6. वाटर्स, जिल्द 2, पृ० 182-193;
   —वील, प्रथम संस्करण, जिल्द 2, पृ० 193-204।
7. वाटर्स, जिल्द 2, पृ० 198।

को कितना संरक्षण प्रदान किया, उसका वर्णन आगे राजाओं के व्यक्तिगत धर्म और विश्वास सम्बन्धी शीर्षक के अन्तर्गत किया जायेगा।

श्वान्-च्वांग से सूचना मिलती है कि पुण्डवर्धन में बौद्ध धर्म के हीनयान और महायान दोनों सम्प्रदायों के शिक्षा केन्द्र थे। इसके अतिरिक्त कर्ण सुवर्ण में सम्मतीय ताम्रलिप्ति में सर्वास्तिवाद और समतट में महायान शाखा के शिक्षा केन्द्र थे[1]। पाल शासकों के समय के अन्य प्रसिद्ध विहारों में त्रैकूटक, देवीकोट, पंडित, सन्नगढ़, फुल्लहरि, पचिकेरक, विक्रमपुरी और जगदल आदि प्रमुख थे। त्रैकूटक विहार में धर्मपाल के संरक्षण में हरिभद्र ने अपनी अभिसमयालंकार नामक प्रसिद्ध टीका लिखी[2]। देवीकोट उत्तरी वंगाल और पंडित विहार चटगांव में स्थित थे[3]। फुल्लहरि मुंगेर के आस-पास मगध में था, जहां अनेक आचार्य रहते थे। सन्नगढ़ भी पूर्वी भारत के प्रमुख बौद्ध शिक्षा केन्द्रों में था। विक्रमपुरी, ढाका में स्थित विक्रमपुर में था जिसका विस्तार चन्द्र और सेन शासकों के संरक्षण में हुआ था[4]।

पाल शासकों के समय वंगाल के आस-पास शासन करने वाले छोटे-छोटे राजाओं में भी कुछ बौद्ध मतानुयायी थे। क्रान्तिदेव[5] (850-950) को परमबौद्ध कहा गया है। तिब्बती साक्ष्यों से सूचना मिलती है कि वंगाल में चन्द्र शासकों के अधीन तांत्रिक बौद्ध धर्म का प्रसार हो रहा था। चन्द्रवंश का शासक गोपीचन्द्र आध्यात्म विद्या से लगाव रखता था[6]। भारतवर्ष में आध्यात्मवाद के विकास में वंगाल की अपनी एक महत्वपूर्ण भूमिका थी। इसका समय संभवतः 10 वीं और 12 वीं सदियों के बीच में रहा होगा[7]। महान् सिद्धजनों (आध्यात्मवादियों) में सरह, नागार्जुन, तिलोपद, नारोपद, अद्यवज्र आदि प्रमुख थे। नागार्जुन ने नालंदा में सरह के शिष्य और सहायक के रूप में आध्यात्म तथा रसायन विद्या का अध्ययन किया था। महान् बौद्ध भिक्षु दीपंकर भी नयपाल के समय (1038-55) ख्याति प्राप्त कर चुका था। इनके अतिरिक्त भी वहुत से आध्यात्मवादी वंगाल में रहते थे और प्राचीन वंगला भाषा में कवितायें करते थे[8]।

---

1. विशेष द्रष्टव्य, मजुमदार र०च०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 417।
2. वही।
3. वही।
4. वही, पृ० 418।
5. विशेष जानकारी के लिये देखिये—मजुमदार र०च०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 134।
6. मजुमदार, र०च०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 418।
7. वही, पृ० 419।
8. वही, पृ० 420।

तिब्बत का बौद्ध धर्म तथा वैराग्य सम्बन्धी निश्चित रूप से बंगाल के बौद्ध आचार्यों द्वारा प्रतिपादित था। तिब्बत के तिथिक्रम निर्धारकों के द्वारा सुरक्षित विस्तृत विवरणों से ज्ञात होता है कि पाल शासकों के समय में कुछ भारतीय पंडित तिब्बत गये। उन्होंने वहां भारतीय ग्रंथों का अनुवाद तथा बौद्ध धर्म मात्र की शिक्षा ही नहीं दी, अपितु उस दुर्गम देश में भारतीय संस्कृति और सभ्यता के विविध तत्वों को बिखेरा[1]। शान्तिरक्षित नामक बौद्ध भिक्षु नेपाल में रहता था किन्तु तिब्बती शासक के अनुरोध सिद्धान्तों की व्याख्या हेतु दो बार तिब्बत गया था[2]। शान्तिरक्षित के कहने पर ही तिब्बती शासक ने दूसरे भारतीय बौद्ध विद्वान् पद्मसम्भव को तिब्बत में आमंत्रित किया। पद्मसम्भव के प्रभाव से बड़े अल्प समय में तत्कालीन तिब्बत में व्याप्त दैत्य प्रवृत्तियों का लोप होने लगा। अत्यन्त प्रसन्न होकर तिब्बत के शासक ने ओदान्तपुर के मठ के ही आकार का तिब्बत में एक बौद्ध-मठ निर्मित कराया। इन दोनों बौद्ध भिक्षुओं ने तिब्बत में 'लामा' की प्रथा स्थापित[3] की, जो तिब्बत में अभी हाल तक प्रत्येक बौद्ध भिक्षु की उपाधि स्वरूप प्रयुक्त हो रही थी। दूसरे भारतीय बौद्ध विद्वान् दीपंकर द्वारा भी तिब्बत में बौद्ध-धर्म सम्बन्धी उपदेश देने की जानकारी होती है[4]। कहा गया है कि तिब्बत के शासक के बार-बार आमंत्रित करने के बाद भी दीपंकर तिब्बत नहीं गया। परन्तु जब उसे शासक की मृत्यु का समाचार प्राप्त हुआ तो वह उसकी बौद्ध-धर्म के प्रति अटूट श्रद्धा का सम्मान करने हेतु तिब्बत गया। तिब्बत जाते समय उसके रास्ते में कठिनाइयां उत्पन्न की गईं। इसके बारे में एक अनुश्रुति का उल्लेख मिलता है। उसमें कहा गया है कि जब दीपंकर ने अपने अनुयायियों के साथ तिब्बत के लिए प्रस्थान किया तो कुछ शैव, वैष्णव और कापालिक नहीं चाहते थे कि वह तिब्बत जाकर बौद्ध धर्म का उपदेश करे। अतः उन लोगों ने भारतीय सीमा पर डाकुओं को उसकी हत्या करने के लिए नियुक्त किया। परन्तु ज्यों ही बौद्ध भिक्षु दीपंकर डाकुओं के पास पहुंचा तो उनके क्रूर हाथ ज्यों के त्यों पड़े रह गये और डाकू वहां से चले गये[5]। दीपंकर तिब्बत पहुंचा और वहां तेरह वर्ष रह कर अनेक बौद्ध ग्रन्थों की रचना करके

---

1. मजुमदार र०च०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 672।
2. ज०रा०ए०सो०बं०, जिल्द 51, भाग 1, पृ० 7-8।
3. मजुमदार र०च०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 673।
4. वही, पृ० 674-75।
5. वही, पृ० 676-77।

तिब्बत मे ही परलोक सिधार गया (1053 ई०) तिब्बत में आज भी दीपंकर को बड़े स्नेह के साथ याद किया जाता है[1] ।

पालों के अधीन गौडवंग की धार्मिक और सामाजिक अवस्था और उनके तत्सम्बन्धी क्रिया-कलाप :

पूर्वी भारत के राजनीतिक तथा धार्मिक इतिहास के बारे में अभिलेखों तथा साहित्यिक ग्रन्थों[2] मे सूचना मिलती है जिसमें अभिलेखीय साक्ष्य विशेष महत्व-पूर्ण हैं । अभिलेखीय साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि पाल शासकों के राज्य मे हिन्दू धर्म से सम्बन्धित अनेक देवताओं के मंदिर बने थे और उनका महत्व भी था । पाल शासकों ने शिव तथा विष्णु की पूजा के निमित्त दान दिया था[3] । शिव और विष्णु के अतिरिक्त सूर्य की प्रतिमायें भी प्रशस्ति-पट्टों पर बनती थीं[4] । पाल अभिलेखों से हमें शिव के अनेकों मंदिरों के निर्माण की सूचनायें मिलती हैं[5] । पाल शासकों के सिक्कों[6] पर लक्ष्मी की प्रतिमा का विराजमान होना कम महत्वपूर्ण नहीं है । उससे उनके वैष्णव संस्कृति के प्रति स्नेह की बात स्पष्ट होती है । तथापि पालों का नाम बौद्ध धर्म के साथ जोड़ा जाता है । उनके शासन के समय बौद्ध धर्म अपने अंतिम विकास पर था । प्रायः सभी पाल राजा बौद्ध थे । उनके द्वारा बौद्ध धर्म को विशेष संरक्षण प्रदान करने की सूचनाओं से अभिलेख भरे पड़े हैं[7] । परन्तु जैन धर्म सम्बन्धी कोई सूचना नहीं मिलती ।

पाल शासकों के अभिलेखों में उन्हें वर्ण-व्यवस्था का रक्षक कहा गया है[8] । बंगाल में 7 जातियों के विद्यमान रहने का संदर्भ मिलता है । इनमें ब्राह्मण, कायस्थ, कैवर्त्त, वैद्य आदि का उल्लेख है[9] । इस प्रकार हम यह देखते हैं कि

1. मजूमदार र०च०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 676-77 ।
2. Gecshichtedes Buddhismus in Indian, Tara Nath,
   पिट्स वर्ग 1869 ।
   —बुस्तोन, हिस्ट्री आफ बुद्धिज्म, ओबरमिलर का अंग्रेजी अनुवाद ।
3. ए०इ०, जिल्द 4 पृ० 243 ।
4. ज०ए०सो०बं०, जिल्द, 4, पृ० 101 ।
5. ए०इ०, जिल्द 15, पृ० 306 ।
6. ज०न्यू०सो०इ०, जिल्द 13, पृ० 123 ।
7. आ०म०रि०, जिल्द 3, पृ० 125;
   —ए०इ०, जिल्द 2, पृ० 160; इ०ए० जिल्द 17, पृ० 307 ।
8. ज०ए०सो०बं०, जिल्द 69, खण्ड 1, पृ० 68;
   —ए०इ०, जिल्द 14, पृ० 325 ।
9. वही; न्यू सीरीज, जिल्द 23, पृ० 301-33 ।

तत्कालीन समाज में ब्राह्मण व्यवस्था मौजूद थी तथा अनेक वर्णेतरों को भी हिन्दू समाज में मान्यता प्राप्त थी। वर्णेतरों में आदिम जातियों जैसे कोल, शवर, पुलिन्दू, हाड़ी, डोम, चाण्डाल, निपाद तथा म्लेच्छ आदि थे[1]।

बौध गया बौद्ध शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। शिक्षा के प्रमुख केन्द्रों में ओदन्तपुरी, जगदलपुर, विक्रमपुरी और सोमपुरी प्रसिद्ध थे[2]। नालन्दा विश्वविद्यालय में अनेक प्रकार की शिक्षायें दी जाती थीं। वहां बड़े-बड़े पुस्तकालय थे[3]। अभिलेखीय साक्ष्य इस बात के साक्षी हैं कि पाल शासकों ने वैदिक शिक्षा के निमित्त भूमि दान दिया था[4]। नारायण पाल के बादाल स्तम्भलेख[5] से पाल शासकों के एक ऐसे मंत्रीपरिवार के बारे में सूचना मिलती है जिसके सदस्यों ने विशेष आग्रह पर वैदिक साहित्य का अध्ययन किया था। देवपाल के मंत्री दर्भपाणि तथा केदार मिश्र चार विद्याओं के पंडित थे। केदार मिश्र के पुत्र गुरु व मिश्र ने वेद, आगम, नीति और ज्योतिष का महान् विद्वान् होते हुए वैदिक व्याख्या के आधार पर विशेष ख्याति प्राप्त की थी। पालनरेश महीपाल प्रथम के बानगढ़ ताम्रपत्राभिलेख[6] में वाजसनेयी संहिता, मीमांसा, व्याकरण और तर्क विद्या के अध्ययन सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं।

देवपालदेव के मुंगेर ताम्रपत्र[7] में वेद, वेदान्त आदि का उल्लेख हुआ है। विग्रहपाल के आमागाछी अभिलेख[8] तथा मदनपाल के मनहली ताम्रपत्र[9] से भी उपर्युक्त वर्णन का समर्थन होता है। धर्मपाल के समय के एक वारेन्द्र ब्राह्मण को श्रुति, स्मृति, पुराण, व्याकरण और काव्य में पारंगत कहा गया है[10]।

पाल राजाओं के व्यक्तिगत धर्म तथा धार्मिक विश्वास

अभिलेखों तथा साहित्यिक ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि पाल शासक बौद्ध थे। तिब्बती परम्पराओं के अनुसार गोपाल बौद्ध धर्मानुयायी था। उसके द्वारा

---

1. विशेष द्रष्टव्य, मजूमदार र०च०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 557-58।
2. तारानाथ, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 204, 206 तथा 209।
3. विद्याभूषण, हिस्ट्री आफ इंडियन लाजिक, पृ० 5-6।
4. ज०ए०सो०बं०, जिल्द 69, पृ० 68।
5. इ०ए०, जिल्द 2, पृ० 160।
6. ए०इ०, जिल्द 14, पृ० 324; ज०ए०सो०बं०, जिल्द 61, पृ० 77।
7. ए०इ०, जिल्द 18, पृ० 304।
8. वही, जिल्द 15।
9. ज०ए०सो०बं०, जिल्द 69, खण्ड 1, पृ० 68।
10. मजूमदार र०च०, पूर्व निर्दिष्ट, जिल्द 1, पृ० 305।

अनेक बौद्ध मठों, विहारों एवं धार्मिक संस्थाओं के निर्माण कराने की सूचना मिलती है[1]। गोपाल के नालंदाताम्रपत्राभिलेख[2] से सूचना मिलती है कि गोपाल ने अपने माता-पिता तथा अपनी धार्मिक यशःवृद्धि हेतु एक बौद्ध मठ के निमित्त 5 ग्रामों का दान दिया था। बु०-स्तोन नामक एक तिब्बती लेखक भी गोपाल द्वारा नलेन्द्र विहार के स्थापित किये जाने का उल्लेख करता है[3]। परन्तु इस बात पर मतैक्य नहीं है कि तारानाथ का नालंदा महाविहार और बु-०स्तोन का नलेन्द्र विहार एक ही थे[4]।

धर्मपाल स्वयं धार्मिक दृष्टि से बौद्ध था, किन्तु अन्य सभी धर्मों का आदर करता था[5]। अभिलेखों से सूचना मिलती है कि धर्मपाल ने ब्राह्मण देवताओं की पूजा के निमित्त दान दिया था[6]। धर्मपाल द्वारा शिव एवं विष्णु दोनों के मंदिरों के निर्माण कराने का उल्लेख मिलता है[7]। बिहार प्रान्त के गया जिले से प्राप्त महाबोधि अभिलेख में कहा गया है कि बौद्धों के प्रमुख तीर्थस्थान बोध गया में शिव का भी एक मंदिर है[8]। देवपालदेव के मुंगेर ताम्रपत्राभिलेख[9] में धर्मपाल तथा देवपाल को **परमसौगत** की उपाधि से विभूषित किया गया है। **परमसौगत** विशेषण उनके बौद्ध मतानुयायी होने का सूचक है। धर्मपाल की बोध गया[10] प्रशस्ति पर विष्णु और सूर्य की प्रतिमायें बनी हैं। पाल शासक नारायणपाल ने **परमसौगत** होते हुए भी शिव के सैकड़ों मंदिरों का निर्माण कराया था[11]। उसने ब्राह्मण संन्यासियों के लिए मठ भी बनवाये थे। भागलपुर अभिलेख के अनुसार नारायणपाल ने शिवभट्टकार के मंदिर के निमित्त ग्राम दान दिया था अपने माता-पिता की धार्मिक यशःवृद्धि हेतु सैकड़ों मंदिरों का निर्माण कराकर उनकी पूजा

---

1. तारानाथ पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 204; इ०ए०, जिल्द 4 पृ० 366।
2. ए०इ०, जिल्द 17, पृ० 318।
3. बु-स्तोन, पूर्व निर्दिष्ट, जिल्द 2, पृ० 156।
4. सरकार दि० चं०, इंडियन कल्चर, जिल्द 7, पृ० 183।
5. ए०इ०, जिल्द 4, पृ० 254।
   (खालिमपुर अभिलेख में धर्मपाल को सभी संप्रदायों, विशेषत. ब्राह्मणों का आदर करने वाला कहा गया है।)
6. वही, जिल्द 4, पृ० 243।
7. वही, पृ० 243 और 247।
8. ज०प्रो०ए०सो०बं०, जिल्द 4, (ना०स०) पृ० 101-102।
9. कार्पस बं० इंस्क्रिप्शन, पृ० 118-19; इ०ए०, जिल्द 31, पृ० 254 और आगे।
10. ज०ए०सो० बं०, जिल्द 4, पृ० 101।
11. इ०ए०, जिल्द 15, पृ० 306।

आदि के निमित्त भूमि दान दिया। उसने अपने उत्तराधिकारियों, किसानों आदि को मंदिरो के संरक्षण और चालन के लिए आदेश भी दिया[1]।

बादाल स्तम्भलेख से सूचना मिलती है कि नारायणपाल ने एक गरुड़ध्वज का निर्माण कराया था[2]। द्वितीय गोपाल के एक समय अभिलेख[3] में बुद्ध की स्तुति की गई है तथा सभी दुःखों से छुटकारा पाने के लिये एक बौद्ध प्रतिमा के अनावरण कराने का उल्लेख है। दूसरे शिलाफलक अभिलेख[4] मे सरस्वती की प्रतिमा को स्वर्ण पात्रो मे सजाने की चर्चा मिलती है। नालन्दा (बिहार) से प्राप्त वागेश्वरी शिलाफलक अभिलेख[5] के चरणपीठ पर सरस्वती की प्रतिमा विराजमान है। प्रथम महीपाल के बानगढ़ ताम्रपत्राभिलेख[6] से सूचना मिलती है कि महीपाल ने अपनी तथा अपने माता-पिता की धार्मिक यशःवृद्धि हेतु भगवान् बुद्ध के निमित्त सम्पूर्ण अधिकारो से युक्त भूमि दान किया था। महीपालदेव के नालदा शिलाफलक अभिलेख[7] मे वर्णन है कि उसने एक बौद्ध मंदिर का जीर्णोद्धार कराया जो आग से नष्ट हो गया था। सारनाथ अभिलेख[8] मे महीपाल द्वारा बौद्ध प्रतिमा के सम्मुख दान देने की चर्चा है। इस तरह धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्रो मे प्रथम महीपाल की सेवायें प्रभूत थी। विग्रहपाल तृतीय के आमागाछी[9] अभिलेख मे नयपाल और विग्रहपाल को परमसौगत कहा गया है। नयपाल के गया प्रस्तर अभिलेख[10] मे वासुदेव की स्तुति करते हुए उनके महत्व को प्रकट किया गया है तथा मंगल की कामना की गई है। इसी शासक के नरसिंह मंदिर अभिलेख[11] मे गदाधर एवं विष्णु के अनेक मंदिरों के निर्माण की चर्चा है। रामपाल को भी परमसौगत कहा गया है[12]।

---

1 इ०ए०, जिल्द 15, पृ० 304-306।
2. ए०इ० जिल्द 2, पृ० 160।
3 कार्पस आफ बंगाल, पृ० 115 ; ज०प्रो०ए०सो०बं०, जिल्द 4, न्यू०नि०, पृ० 115।
4 वही, पृ० 188 ; वही।
5. कार्पस आफ बंगाल, पृ० 192।
—ज०प्रो०ए०सो०बं०, जिल्द 4, न्यू०नि०, पृ० 115।
6. कार्पस आफ बंगाल, पृ० 198-204।
7. वही, पृ० 209।
8. इ०ए०, जिल्द 14, पृ० 139।
9. वही, जिल्द 17, पृ० 307 ; कार्पस बंगाल, जिल्द 2, पृ० 132-35।
10 कार्पस आफ बंगाल, जिल्द 2, पृ० 142-45।
11. प्रो०रा०ए०सो०, न्यू सीरीज, 1902-03, पृ० 2, 3, 9।
12. ज०ए०सो०बं० जिल्द 69, खण्ड 1, पृ० 68।

सेनकालीन साधारण धार्मिक और सामाजिक अवस्था

सेन शासकों के अभिलेखों तथा साहित्यिक ग्रन्थों से जो सूचनायें उपलब्ध हैं उनसे स्पष्ट होता है कि उस समय हिन्दू धर्म का विशेष जोर था। हिन्दू धर्म के देवताओं में शिव[1], विष्णु[2] और सूर्य[3] की पूजा और प्रार्थना करने के उल्लेख मिलते हैं। विजयसेन द्वारा प्रद्युम्नेश्वर (शिव) के मंदिर निर्माण कराने का भी उल्लेख मिलता है[4]। अन्य नामों के अन्तर्गत भी शिव की पूजा करने की चर्चा अभिलेखों में की गई है जिनमें धूर्जटी और अर्द्धनारीश्वर उल्लेखनीय हैं[5]। अभिलेखों में देवताओं के अतिरिक्त देवियों की भी चर्चायें हैं जिनमें लक्ष्मी और पार्वती के नाम मुख्य रूप से आते हैं[6]। ये दोनों देविया क्रमशः विष्णु और शिव की पत्नियां हैं। अतः इन दोनों के उल्लेख का कारण शैव और वैष्णव संस्कृति की प्रधानता है। विष्णु की नारायण[7] के रूप में वार-वार प्रार्थना अभिलेखों में की गई है। हिन्दू धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों के वारे में सेन साक्ष्यों से कोई सूचना नहीं मिलती। इससे स्पष्ट होता है कि अधिकांश जनता हिन्दू धर्म की ही अनुयायी थी।

सेनकालीन समाज में वर्ण एवं जाति व्यवस्था पूर्व युग के अनुसार ही मौजूद थी[8]। राजाओं के दरवार में वाह्मणों का विशेष महत्व था। वाह्मणों में भी कई जातियां एवं शाखायें थीं। राजा लोग वाह्मणों को तरह-तरह के उपहार तथा दान दिया करते थे। वल्लालसेन के समय में वारेन्द्र कुलीन और राढ़ी[9] वाह्मणों के होने की जानकारी होती है। वल्लालसेन को कुलीन प्रथा अथवा कुलशास्त्र-वाद का संस्थापक कहा गया है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार राजा ने सदाचार की 9 आचरण संहिताओं का निर्माण कराया था। इसमें से सभी में निष्णात्

---

1. ए०इ०, जिल्द 1, पृ० 305-315।
2. ए०इ०, जिल्द 12, पृ० 6-10; ज०ए०सो०वं०, जिल्द 69, पृ० 61।
3. ज०ए०सो०वं०, पृ० 6-15, 1896।
4. ज०ए०सो०वं०, जिल्द 34, खण्ड 1, पृ० 128 और आगे;
   —ए०इ०, जिल्द 1, पृ० 305-315।
   आलम्वस्तम्भमेकं त्रिभुवनभवनस्यैकशेषं गिरीणां
   स प्रद्युम्नेश्वरस्य व्यणीत वसुमतीं वासवः सौधमुच्चैः।
5. मजुमदार, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 405 में उद्धृत।
6. ए०इ०, जिल्द 1, पृ० 305-315; कार्पस आफ बंगाल, पृ० 245-49।
7. इ० बंगाल, (आई०वी०) जिल्द 3, पृ० 92-98।
8. मजुमदार, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 557-590।
9. वही, पृ० 581।

को कुलीन तथा 7 व 8 में निष्णात् को सिद्ध श्रोत्रिय और साध्य श्रोत्रिय तथा शेष ब्राह्मणों को कष्ट श्रोत्रिय कहा जाता था[1]।

सेन अभिलेखों[2] से इस बात की सूचना मिलती है कि राजा लोग चारों वेदों की विभिन्न शाखाओं के अध्ययन करने वाले थे। वेदों में पारंगत ब्राह्मणों को अत्यन्त बहुमूल्य सोने, चांदी तथा अन्य आभूषणों के उपहार दान में दिये जाते थे। अभिलेखों में ऋग्वेद की आश्वलायन शाखा, सामवेद की काथुम शाखा, यजुर्वेद की काण्वशाखा आदि का उल्लेख[3] मिलता है। गोविन्दपुर ताम्रपत्राभिलेख[4] में छः वेदांगों के अध्ययन की चर्चा है। बल्लालसेन के सांस्कृतिक क्रियाकलाप इस बात के साक्षी हैं कि उसने बंगाल के सामाजिक इतिहास में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। वहां की कुल पंजिकाओं से यह प्रकट है कि सर्वप्रथम उसी ने कान्यकुब्ज से उन अनेक ब्राह्मण परिवारों को बुलाकर बंगाल में बसाया जो आगे चलकर वहां की कुलीन प्रथा के जनक हुए।

सेनों का इतिहास देखने पर यह ज्ञात होता है कि उनके दरबार में विद्वान्, लेखक और कवियों का निवास था जो सभी हिन्दू धर्म के मानने वाले थे। कुछ तो वैष्णव धर्म के परम उपासक थे। बल्लालसेन स्वयं भी परिष्कृत बुद्धि का विद्वान् था[5], जिसने 1091 शक संवत् 1196-70 ई० में दानसागर नामक ग्रन्थ की रचना की। इसके अतिरिक्त उसने 1168-69 ई० में अद्भुतसागर नामक एक दूसरा ग्रन्थ भी लिखना प्रारम्भ किया था, किन्तु उसे पूरा किये बिना ही उसने गृहस्थ जीवन त्याग कर त्रिवेणी संगम पर अपना अन्तिम समय बिताने का निश्चय कर लिया। बल्लालसेन का गुरु अनिरुद्ध समस्त पुराणों एवं स्मृतियों का महान् विद्वान् था[6]। लक्ष्मणसेन स्वयं विद्वान् एवं लेखकों और

---

1. विशेष द्रष्टव्य, मजूमदार र०च०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 629-30।
2. ए०इ०, जिल्द 15, पृ० 284; जिल्द 14, पृ० 156;
   जिल्द 22, पृ० 6; इहिक्वा, जिल्द 3, पृ० 89;
   —ज०ए०सो०बं०, पृ० 467, 1900।
3. ए०इ०, जिल्द 14, पृ० 159 और आगे।
4. ए०इ०, जिल्द 2, पृ० 336,
   सत्कल्पप्रवणाः श्रुतिप्रणयिनः शिक्षाभिरुद्भासिताः
   सज्जयोतिपर्गतिया निरुक्त विशदाश्छन्दो विधौ साधवः
   ख्याता व्याकरण क्रमेण विदुपामत्युच्चधि शीलना-
   द्वेदाङ्ग प्रतिभाः पडेव भुवनेते बिभर्ति भ्रातरः
5. देखिये, ज०ए०सो०बं०, न्यू सिरीज, पृ० 97 और आगे।
6. पाठक वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 308।

कवियों का आश्रयदाता था। विजयसेन की देवपाड़ा प्रशस्ति का लेखक उमापति-धर उसके समय तक जीवित था। गीतगोविन्द के प्रसिद्ध रचयिता वैष्णव कवि जयदेव के भी उसके दरबार में होने की बात कही जाती है। बंगाल में वैष्णव धर्म की प्रगति के इतिहास में उनका प्रमुख स्थान है। **पवनदूत** के लेखक धोयी, **ब्राह्मण सर्वस्व** कर्ता हलायुध और **सदूक्तिकर्णामृत** के लेखक श्रीधरदास साहित्यिक क्षेत्र में उसके समय के प्रकाशमान तारे थे, जिन्हें उसकी सेवायें प्राप्त थीं[1]। श्रीधरदास को लक्ष्मणसेन का **महामाण्डलीक** कहा गया है। हलायुध द्वारा प्रधान मंत्री और मुख्य न्यायाधीश का कार्य करने की सूचना मिलती है। लक्ष्मणसेन स्वयं कवि था, उसकी अनेक कवितायें श्रीधरदास ने अपने **सदूक्तिकर्णामृत** में संकलित की थीं। लक्ष्मणसेन ने अपने पिता वल्लालसेन द्वारा अधूरे छोड़े हुए खगोल शास्त्र से सम्बन्धित **अद्‌भुतसागर** नामक ग्रन्थ की पूर्ति की जो उसके वैदुष्य का ज्वलंत उदाहरण है[2]।

सेन राजाओं के व्यक्तिगत धर्म एव धार्मिक विश्वास

सेन राजाओं के अभिलेखों के अध्ययन से पता चलता है कि वे ब्राह्मण धर्मावलम्बी थे। इनके राजत्वकाल में पौराणिक धर्म की विशेष उन्नति हुई। सामन्तसेन को शिवभक्त कहा गया है। वह एक धार्मिक व्यक्ति था जिसने अपना अन्तिम जीवन गंगातटवर्ती पुण्य आश्रमों और जंगलों में आत्मज्ञान की साधना में व्यतीत किया[3]। हेमन्तसेन को भी शिवभक्त कहा गया है[4]। वह अपने पिता के अनुरूप गुणों से युक्त था। हेमन्तसेन के बाद रानी यशोदेवी से उत्पन्न विजयसेन भी शैव था जो **अरिराजवृषभशंकर** जैसा विरुद् धारण करता था[5]। उसके दरबारी कवि उमापतिधर द्वारा विरचित उसका एक अभिलेख प्राप्त हुआ है जो यह सूचित करता है कि विजयसेन ने वहां के पदुमसर (प्रद्युम्नसर) नामक तालाब में किनारे प्रद्युम्नेश्वर शिव का मन्दिर बनवाया[6] और मन्दिर के निमित्त दान देते हुए शिव की स्तुति की[7]। देवपाड़ा अभिलेख[8] का प्रारम्भ ही

---

1. मजुमदार, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 218-19।
2. वही पृ० 218-219।
3. विजयसेन का देवपाड़ा अभिलेख, श्लोक 5-9।
4. वही, श्लोक 10-12।
5. पाठक वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 307 में उद्धृत पृ०।
6 ए०इ०, जिल्द 1, पृ० 305-315।
7. इ० बंगाल (आई० बी०) पृ० 46; मजुमदार, पूर्व निर्दिष्ट पृ० 401।
8. ए०इ०, जिल्द 1, पृ० 305-315।

शिव की वन्दना से हुआ है। अभिलेख में लक्ष्मी और पार्वती की भी चर्चायें हैं जो क्रमश: विष्णु और शिव का आलिंगन करती हैं। अभिलेख में शिव की महत्ता प्रदर्शित करते हुए कहा गया है कि शिव की स्वर्णिम जटा, जिससे गंगा प्रवाहित होती हैं, विजयसेन की गद्दी की शोभा बढ़ाती है तथा काला सांप जो शिव के सिर पर छत्र के रूप में फण फैलाये खड़ा है विजय का परिचायक है अभिलेख में कहा गया है कि विजयसेन शिव के चरणरज को अपने मस्तक पर लगाता था जो उसकी परम शैव भक्ति का परिचायक है।

वल्लालसेन के नहट्टी अभिलेख[1] में उसे **परममाहेश्वर** कहा गया है। अभिलेख स्थल के ऊपर शिव की प्रतिमा बनी हुई है तथा उसका प्रारम्भ भी शिव वन्दना से हुआ है। वल्लालसेन द्वारा अनेक ब्राह्मणों को दान देने की चर्चा मिलती है[2]। सेन अभिलेखों[3] में लक्ष्मणसेन को **परमवैष्णव** की उपाधि से विभूषित किया गया है तथा उसके अभिलेखों का प्रारम्भ भी भगवान विष्णु[4] की स्तुति करते हुए किया गया है जो उसके विष्णुभक्त[5] होने का प्रमाण है। उसके माधाइनगर[6] तथा सुन्दरवन[7] अभिलेखों में भी उसके वैष्णव धर्म के प्रति लगाव के प्रमाण प्राप्त होते हैं। तथापि उसके अभिलेखों में उसे अरिराजमदनशंकर कहा गया है। स्पष्ट है कि वह अपने पिता और पितामह द्वारा मान्य शैव धर्म के प्रतीक इस विरुद् को धारण करता रहा[8]। तथा उसकी **परमवैष्णव** उपाधि स्पष्ट रूप से उसके अभिलेखों में प्राप्त होती है। उसी की तरह उसका पुत्र विश्वरूप सेन भी वैष्णव था। किन्तु उसके मदनपाड़ा अभिलेख में उसे **परमसौर** (सूर्यभक्त) भी कहा गया है[9]। विश्वरूपसेन के अभिलेखों[10] का प्रारम्भ भी नारायण की स्तुति से हुआ है। परन्तु उसकी मुद्राओं पर शिव की प्रतिमायें हैं। केशवसेन के अभिलेखों की प्रारम्भ भी नारायण की वन्दना से हुआ है। साथ ही केशवसेन

---

1. ए०इ०, जिल्द 15, पृ० 280-82।
2. वही।
3 ए०इ०, जिल्द 12, पृ० 6-10; ज०ए०सो०बं०, जिल्द 69, पृ० 61।
4. ए०इ०, जिल्द 12, पृ० 6-10; ज०ए०सो०बं०, जिल्द 69, पृ० 61।
5. ज०ए०सो०बं०, जिल्द 44, पृ० 61।
6. वही, न्यू सिरीज, जिल्द 5, पृ० 467।
7. न०गो० मजूमदार; इन्स आफ बंगाल, जिल्द 3, पृ० 169-72।
8. पाठक वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 309-310।
9. न०गो० मजूमदार, पूर्व निर्दिष्ट, जिल्द 3, पृ० 118-131।
10. ज०ए०सो०बं० 1896, पृ० 6-15।

को असह्यशंकर कहा गया है[1]। जो इस बात का प्रमाण है कि वह अपने प्रपितामह और पितामह के धार्मिक विरुदों को धारण करता रहा।

पाल राजाओं की धार्मिक नीति का स्वरूप

पाल नरेशों के समय की साधारण सामाजिक स्थिति तथा उनके व्यक्तिगत धर्मों के बारे में हम देख चुके हैं। पाल शासक बौद्ध थे और उन्होंने बौद्ध धर्म को विशेष संरक्षण प्रदान किया। परन्तु उनके अभिलेखों में जो चर्चायें मिलती हैं, उनसे प्रकट होता है कि पाल राजा हिन्दू धर्म के देवताओं की भी पूजा करते थे। उनके धार्मिक क्रिया-कलापों के आधार पर विद्वानों ने उनकी धार्मिक नीति स्पष्ट करते हुए कहा है कि मध्ययुग के पाल नरेश परमसौगत (बौद्ध) होकर भी ब्राह्मण देवताओं के निमित्त दान दिया करते थे। इस तरह बौद्ध धर्मानुयायी राजाओं द्वारा हिन्दू देवी-देवताओं के निमित्त दान देना उनकी धार्मिक सहिष्णुता का परिचायक है[2]। काणे महोदय ने उपर्युक्त मत का समर्थन किया है[3]। मैती महोदय धर्मपाल द्वारा बौद्ध तीर्थ के परम स्थान बोधगया में शिव की प्रतिमा को मंदिर में प्रतिष्ठापित कराने का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं[4]।

धर्मपाल को धार्मिक मामलों में उदार कहा गया है। कथित है कि धर्मपाल बौद्ध था, किन्तु अन्य सभी धर्मों का आदर करता था[5]। पाल नरेशों के राज्य में विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के होते हुए भी उनमें कोई साम्प्रदायिक द्वेष अथवा आपसी विरोध नहीं था। अभिलेखों में जो वर्णन मिलते हैं उसके आधार पर स्पष्ट है कि बौद्धानुयायी पाल नरेश धार्मिक मामलों में पूर्णतः उदार थे। धर्मपाल और विग्रहपाल तृतीय को धार्मिक ग्रंथों में प्रतिपादित हिन्दू सामाजिक ढांचे के मूल आधार जाति व्यवस्था का रक्षक कहा गया है। नारायणपाल ने अपने ब्राह्मण मंत्री द्वारा संपादित बलिकर्म यज्ञों में भाग ही नहीं लिया, अपितु, अपने सिर पर यज्ञ का जल भी छिड़का। मदनपाल की पत्नी चित्रमटिका ने महाभारत का

---

1. वही, जिल्द 7, पृ० 43-45।
2 उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भा०अ०, पृ० 24, द्वितीय संस्करण, ज्ञानदा प्रकाशन, पटना 1970;
   —उपाध्याय वासुदेव, सो०री०क०ना०इ०, पृ० 205, प्रथम संस्करण, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी 1964।
3 काणे पी०वी० धर्मशास्त्र का इतिहास, जिल्द 5, खण्ड 2, पृ० 10.3 पूना, 1960।
   काणे महोदय ने विष्णु, शिव तथा अन्य हिन्दू धर्म से सम्बन्धित मन्दिरों के निर्माण, जो पालों द्वारा कराये गये थे, के आधार पर उन्हें सहिष्णु कहा है।
4. मैती एस०के०, कार्पस आफ बंगाल, पृ० 113, कलकत्ता, 1967।
5. पाठक वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 244।

पाठ सुनाने के उपलक्ष्य में ब्राह्मणों को दान दिया[1]। यहां हमें इस बात पर भी विचार करना है कि पाल राजाओं ने कहां तक बौद्ध सिद्धान्तों के प्रति अपनी आस्था बनाये रखी। उनके अभिलेखों अथवा प्रशस्तियों का प्रारम्भ निश्चित रूप से बुद्ध की प्रार्थनाओं से हुआ है। उन्होंने बौद्ध विहारों, मठों और प्रतिमाओं के निर्माण में अधिक रुचि दिखाई तथा वे परमसौगत की उपाधि धारण करते हुए बौद्ध भिक्षुओं को प्रश्रय देते रहे। बौद्ध धर्म सम्बन्धी इन क्रिया-कलापों के आधार पर ही उन्हें बौद्ध धर्मानुयायी कहा गया है। परन्तु हम यह भी देखते हैं कि पाल राजाओं ने जितने ही उत्साह के साथ बौद्ध विहारों का निर्माण कराया उतने ही उत्साह से उन्होंने हिन्दू धर्म से सम्बन्धित शिव और विष्णु के अनेक मंदिरों का भी निर्माण कराकर उसमें प्रतिमायें स्थापित करायीं।

इतना ही नहीं पाल राजाओं ने अधिकतर **परमभट्टारक महाराजाधिराज** परमेश्वर की उपाधि धारण की। साथ ही यदि उन्होंने **परमसौगत**[2] की उपाधि धारण करके बौद्ध धर्म के प्रति अपना स्नेह प्रकट किया तो वहीं उनके सिक्कों पर लक्ष्मी[3] की प्रतिमा का होना उनकी विष्णु के प्रति भक्ति का परिचायक है। जहां उन्होंने बौद्ध भिक्षुओं को संरक्षण प्रदान किया, वहीं अनेक ब्राह्मण उनके परामर्शदाता और मंत्री के रूप में उनका संरक्षण और उनसे आदर पाते रहे। इन ब्राह्मण मंत्रियों की धार्मिक मामलों में ही नहीं बल्कि राजनीतिक, विशेषकर विजयी मामलों में भी उनकी विशेष भूमिका रही है। उदाहरण के लिए नारायणपाल के दो मंत्रियों का नाम लिया जा सकता है—गुरुव मिश्र तथा केदार मिश्र। ये विद्या में प्रवीण होते थे और मंत्री पद सुशोभित करते थे[4]। अगर श्वान्-च्वांग के वर्णन के आधार पर देखा जाय तो भी बौद्धों की तुलना में ब्राह्मणों का महत्व अधिक प्रतीत होता है। जहां वह बंगाल में 70 विहारों में रहने वाले 8000 भिक्षुओं की सूची देता है वहीं वह 300 देव मंदिरों तथा असंख्य शिक्षित ब्राह्मणों का उल्लेख करता है। तत्कालीन बंगाल विद्वान् ब्राह्मणों तथा भिक्षुओं का केन्द्रस्थल बन गया था। मठों और विहारों में रहने वाले विद्वान् ब्राह्मणों और भिक्षुओं के आदर्श जीवन का आंखों देखा हाल श्वान्-च्वांग ने दिया है।

1, मजुमदार र०च० पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 426।
2. कार्पस आफ बंगाल, 118-119;
   —ए०इ०, जिल्द 31, पृ० 254 और आगे।
3 ज०न्यू०सो०इ०, जिल्द 13, पृ० 123।
4 इ०ए०, जिल्द 2, पृ० 160।

बौद्ध वर्णनों में बौद्ध विद्वान् दीपंकर के पालों पर अत्यधिक प्रभाव का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उसके प्रभाव से पाल और कलचुरियों में सन्धि हो गई[1]। साथ ही हमें यह भी सूचना मिलती है कि गर्ग नामक ब्राह्मण मंत्री के सत्परामर्श के कारण ही धर्मपाल भारत के पूर्वी ओर की प्रमुख सत्ता बना पाया[2]। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि पाल राजाओं ने अन्य हिन्दू राजाओं की भांति ही ब्राह्मण अथवा वैदिक धर्म के प्रति उतनी ही श्रद्धा दिखायी जितनी हिन्दू धर्म मतावलम्बी राजाओं ने बौद्ध अथवा जैन धर्म के प्रति दिखाई।

स्पष्ट है कि पाल राजाओं ने बौद्ध मतानुयायी होते हुए भी राजनीति के क्षेत्र में धर्म को महत्त्व नहीं दिया, जिसका प्रतीक उनका अनेक युद्धों में फंसा रहना है। बौद्ध धर्म की जड़ ही अहिंसा के सिद्धान्तों पर टिकी हुई थी। परन्तु पाल राजाओं ने युद्धजन्य हिंसा की कोई परवाह न करते हुए अनेक युद्धों में भाग लिया[3] जिसमें असंख्य लोग खेत रहे होंगे। पाल अपनी धार्मिक भावना की अपेक्षा साम्राज्यवादी विचारधारा से अधिक प्रभावित थे। यह इस बात का साक्षी है कि वे कट्टर बौद्ध नहीं थे। हम उन्हें सच्चा बौद्ध तो तब मानते जब वे अशोक की भांति ही युद्धों का परित्याग करके धर्म विजय प्रारम्भ कर देते। परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। इस सन्दर्भ में एक-दूसरे उदाहरण की चर्चा की जा सकती है। अभिलेखों में वर्णन है कि पाल राजा अपने ब्राह्मण मंत्रियों द्वारा बलिकर्म सम्पन्न कराये जाने पर वहां उपस्थित रहते थे[4]। उन्हें वैदिक व्यवस्था का रक्षक भी कहा गया है[5]। परन्तु हम जानते हैं कि बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव ही ब्राह्मण धर्म के यज्ञ विधान के विरोध में हुआ था तथा बौद्ध जाति-पाति के बन्धन को नहीं मानते थे। ऐसी हालत में बौद्ध राजा की उपस्थिति में बलिकर्म का सम्पन्न होना उस राजा द्वारा बौद्ध धर्म के साथ विश्वासघात करने से कम नहीं था। अन्ततोगत्वा हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि धार्मिक दृष्टि से किसी धर्म विशेष के प्रति हृदय से न तो उनका सैद्धान्तिक लगाव था और न दुराव। उनका धार्मिक आचरण तथा नीति समानता, उदारता और सहिष्णुता के उच्च आदर्शों पर आधारित था।

---

1. पाठक वि०, पूर्व निर्दिष्ट. पृ० 270।
2. वही, पृ० 245।
3. वही, पृ० 234-261।
4. मजूमदार, पूर्व निर्दिष्ट, जिल्द 1, पृ० 426।
5. इ०ए०, जिल्द 21, पृ० 99; ज०ए०सो०बं०, जिल्द 69, खण्ड 1, पृ० 68; ए०इ०, जिल्द 14, पृ० 325।

सेन राजाओं की धार्मिक नीति का स्वरूप

सेन राजाओं के व्यक्तिगत धर्म तथा उनके समय की साधारण सामाजिक और धार्मिक स्थिति का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि वे भी उत्तर भारत के अन्य राजाओं की भांति धार्मिक मामलों में उदार थे। परन्तु एक बात विशेष उल्लेखनीय यह है कि वे सभी के सभी राजे हिन्दू धर्म के ही विभिन्न सम्प्रदायों के प्रति श्रद्धा अथवा उदारता का आचरण अपनाते थे। सेन राजाओं के अभिलेखों में वौद्ध अथवा जैन धर्म सम्बन्धी कुछ भी वर्णन नहीं मिलता। एक बात बड़े आश्चर्य की प्रतीत होती है कि बंगाल में जो वौद्ध धर्म सेनों के पहले छाया हुआ था वह इतना जल्दी नगण्य कैसे हो गया। सेनों ने पालों की शक्ति का नाश करके ही बंगाल पर अपना अधिकार जमाया था[1]। पालों के ऐतिहासिक साक्ष्यों से यह निर्विवाद रूप से स्वीकृत है कि उनके द्वारा अनेक वौद्ध विहारों तथा मठों का निर्माण बंगाल में सम्पन्न हो चुका था[2]। अतः यह तो कहा जा सकता है कि बंगाल में मठ और विहार अवश्य रहे होंगे, परन्तु सेनों द्वारा उनके जीर्णोद्धार अथवा उनको कोई दान आदि न दिये जाने के कारण ही उनका सेन अभिलेखों में वर्णन नहीं मिलता। सेन राजाओं द्वारा वौद्ध भिक्षुओं को भी संरक्षण देने की कोई चर्चा अभिलेखों में नहीं मिलती। इससे बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि सेन राजाओ द्वारा संरक्षण न पाने के अभाव में वौद्ध धर्म के विद्वान् अथवा भिक्षु बंगाल छोड़ कर या तो बाहर चले गये होंगे अथवा वौद्ध धर्म अपनी आन्तरिक कमजोरियों के कारण शिथिल पड़ रहा होगा।

सेन राजाओं द्वारा ब्राह्मण संस्कृति को विशेष संरक्षण देने की चर्चा मिलती है। इसके एक दो कारण हो सकते हैं। पहला कारण तो यह हो सकता है कि उनके पूर्वज कर्णाटक ब्राह्मण के जो वैदिक साहित्य के अध्ययन-अध्यापन एवं यज्ञ कार्यों से अपनी जीविका चलाते थे[3]। अतः अपने वंश के पुराने धार्मिक विश्वास को बनाये रखना उनका उत्तरदायित्व था और इसी कारण वे वैदिक साहित्य, ब्राह्मण व्यवस्था और धर्म के प्रति विशेष कृपालु और उदार थे। दूसरा कारण

---

1. पाठक वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 307 और आगे।
2. ज०ए०सो० बं०, जिल्द 17, खण्ड 1, पृ० 492 और आगे;
   —इहिक्वा, पृ० 586, 1927; इ०ए०, जिल्द 16, पृ० 307।
3. माधाइनगर अभिलेख (श्लोक 3) में यह कहा गया है कि सेनों ने त्रिलोकों की विजय के लिए उपर्युक्त यज्ञों का आयोजन करते हुए देवताओं के सोमयज्ञ के पुरोहितों को दबाया।
   —डा० पाठक, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 304।

यह हो सकता है कि सेन राजे ब्राह्मण धर्म के विरोधी अन्य धार्मिक सम्प्रदायों को न तो संरक्षण प्रदान करना चाहते थे और न ही उनके विरुद्ध वे कोई दुराचरण करते थे। मुसलमान इतिहासकार मिनहाजुद्दीन[1] कहता है कि बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के हाथों अत्याचार तो हुआ ही नहीं। वह अपनी दानशीलता के लिए भी प्रसिद्ध था। इसका अर्थ यह निकलता है कि सेनों की उदारता से मुसलमान भी परिचित थे।

अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सेन राजा अपने साम्राज्य के अन्दर लोकप्रिय सभी धार्मिक सम्प्रदायों के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाते थे। वे स्वयं भी शिव, विष्णु अथवा सूर्य जैसे अलग-अलग हिन्दू देवताओं के भक्त थे, किन्तु सबके प्रति समान व्यवहार रखते थे।

---

1. तबकाते नासिरी, रेवर्टी का अंग्रेजी अनुवाद, जिल्द 1, पृ० 554।

अध्याय—7

चालुक्य तथा चाहमान राजाओं की धार्मिक नीति

विषय प्रवेश

प्राचीन भारतीय इतिहास में प्रतीहार वंश के पतन के बाद चालुक्यों जैसा विशाल साम्राज्य किसी का नहीं हुआ। गुजरात के सुवर्ण युग का शिखरभूत चालुक्य कुमारपाल था। गुजरात के साम्राज्य निर्माताओं में जयसिंह सिद्धराज तथा कुमारपाल के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके राजनीतिक तथा धार्मिक इतिहास की जानकारी देने वाले साक्ष्यों में तत्कालीन अभिलेख तथा अनेकानेक जैन ग्रन्थ हैं[1]। कहा जाता है कि सिद्धराज ने गुजरात के गौरवधाम गिरनार के ऊपर महातीर्थ की स्थापना की तो कुमारपाल ने आबालवृद्धों को उसकी यात्रा सुलभ कराने के लिये सीढ़ियों का निर्माण कराया। सिद्धराज ने अगर गुजरात के पराक्रम को प्रदर्शित करने के लिए महायात्रायें की तो कुमारपाल ने उन्हें चिरस्थायी करने

---

1. हेमचन्द्र : द्वयाश्रयकाव्य, पी०एल० वैद्य, पूना द्वारा संपादित;
   —अभयतिलकमणि की टीका सहित, 2 जिल्दों में, सं० काठवते, बम्बई 1915;
   —कुमारपाल प्रतिबोध, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज;
   —कुमारपाल चरित्रसंग्रह, सिंघी जैनशास्त्र शिक्षा पीठ, बम्बई 1956;
   —प्रबन्धचिन्तामणि, हिन्दी भाषान्तर, सिंघी जैन ग्रन्थमाला;
   —जिनविजयमुनि, कलकत्ता 1933।
   —यशपाल, मोहराज पराजय, गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, संख्या 9, 1918।

के लिए महाप्रशस्तियों की रचना करायी। इन दोनों के समय में गुजरात विद्या, वैभव, धर्म-कर्म की पराकाष्ठा पर पहुंच गया। अद्भुत कला तथा निर्माण एवं विद्वानों, संन्यासियों को संरक्षण प्रदान कर चालुक्यों ने अपने को इतिहास में अमर बना दिया। अतः चालुक्यों की धार्मिक नीति को स्पष्ट करने के लिए तत्कालीन साधारण धार्मिक और सामाजिक अवस्था तथा राजाओं के व्यक्तिगत धर्म एवं धार्मिक विश्वासों पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

चालुक्य राजाओं के समय की साधारण धार्मिक और सामाजिक अवस्था

अभिलेखों तथा साहित्यिक ग्रन्थों के अध्ययन से तत्कालीन लोकप्रिय धर्मों में हिन्दू, जैन और इस्लाम धर्म की गिनती की जा सकती है। हिन्दू अथवा ब्राह्मण धर्म के प्रसिद्ध देवता शिव के अनेक मंदिरों के निर्माण तथा पूजे जाने के उल्लेख मिलते हैं। चालुक्य अभिलेखों में शिव को कई नामों के अन्तर्गत पूजने की चर्चायें हैं जिनमें मदनशंकर[1], रुद्र,[2] सोमनाथ,[3] उमापति[4] आदि प्रमुख हैं। चालुक्य राजा **उमापतिवरलब्ध**[5] की उपाधि धारण करते थे जो उनके शैव मतानुयायी होने का परिचायक है। चालुक्य राजाओं के व्यक्तिगत धर्म के बारे में आगे वर्णन करते समय शैव धर्म पर अभी प्रकाश डाला जायेगा।

जैन धर्म : चालुक्यों के शासनकाल में हेमचन्द्राचार्य के प्रभाव से जैन धर्म की स्थिति अत्यधिक सुदृढ़ हुई। चालुक्य राजाओं द्वारा नेमिनाथ के मन्दिर का निर्माण कराना तथा उसके खर्च के निमित्त दान लेने की चर्चायें मिलती हैं[6]। इसके अतिरिक्त कुमारपाल के द्वारा अनेक जैन मन्दिरों तथा तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के निर्माण कराने का उल्लेख है[7]? जैन ग्रन्थों में कई जैन महोत्सवों अथवा समारोहों का उल्लेख मिलता है[8] जो चालुक्य राजाओं के समय में सम्पन्न हुए थे। इससे जैन धर्म की लोकप्रियता पर प्रकाश पड़ता है। इतना ही नहीं, चालुक्यों द्वारा पशु-हिंसा पर पाबन्दी लगाने सम्बन्धी आदेश जारी करने के भी

---

1. इ०ए०, जिल्द 4, पृ० 26।
2. प्र०चि०, जिल्द 3, पृ० 72-73।
3. वही, पृ० 69; द्वाश्रय, 20, श्लोक 10।
4. इ०ए०, जिल्द 18, पृ० संख्या 341-43।
5. वही।
6. राजर्षि कुमारपाल, पृ० 25।
7. कुमारपाल प्रतिबोध, पृ० 113, 143 और 174।
8. कुमारपाल प्रबोध, पृ० 175; मोह० पराजय, 4, श्लोक 19;
   —महावीर च०, सर्ग 12, श्लोक 76।

उल्लेख अभिलेखों[1] में मिलते हैं। अहिंसा जैन धर्म का प्रमुख सिद्धान्त है जिसका अनुसरण चालुक्य शासन में किया जाता था। हिंसा करने वाले व्यक्ति को प्राणदण्ड तक दिया जाता था[2]। मुसलमान इतिहासकारों के वर्णन से इस्लाम धर्म के फलने-फूलने के बारे में जानकारी होती है।

समाज चार वर्णों में विभक्त था। इसमें ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। मंदिरों के लिए लिखे गये दान-पत्रों से यह ज्ञात होता है कि ब्राह्मण मन्दिर के पुजारी होते थे[3] तथा यज्ञ आदि सम्पन्न कराते थे[4]। ब्राह्मण मात्र धार्मिक कार्य ही नहीं करते थे अपितु राजनीतिक कार्यों में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। अभिलेखों से सूचना मिलती है कि ब्राह्मण राजाओं के मंत्री होते थे और अपने परामर्श से राजा तथा राष्ट्र दोनों की रक्षा करते थे। वे दूतक, महाक्ष-पटलिक आदि महत्वपूर्ण पदों पर कार्य करते थे[5]। वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत आने वाला तीसरा वर्ग वैश्यों का था जो केवल व्यापार ही नहीं करता था वल्कि धार्मिक मामलों में भी अत्यधिक रुचि लेकर जैन धर्म के प्रचार और प्रसार में अत्यधिक जीवट के साथ जुटा। गुजरात के वैश्य लोगों ने अपने धार्मिक निर्माणों के आधार पर राजनीति के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण उपलब्धियां अर्जित कीं। दिलवाड़ा के मन्दिरों के निर्माणकर्ता वस्तुपाल और तेजपाल ने अपने सम्वन्धियों के सम्वन्ध में लेख प्रकाशित कराये। उनके पूर्वजों को राजाओं के मंत्री तक होने का सौभाग्य प्राप्त था[6]। ये मंत्री जैन धर्म के स्तम्भ माने जाते थे[7]। ऐसा प्रतीत होता है कि वैश्य लोग अपने धन के वल पर काफी प्रभावशाली हो गये थे। इनके द्वारा नगर श्रेष्ठ और दण्डनायकों के पद पर पहुंच कर अलग नगर वसाने का भी उल्लेख मिलता है[8]।

चालुक्य राजाओं द्वारा विद्वानों को आश्रय देने की सूचनायें मिलती हैं। चालुक्य कुमारपाल के संरक्षण में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा प्राचीन गुजराती भाषा में धार्मिक तथा साहित्यिक रचनायें हुईं। धार्मिक तथा दार्शनिक विषयों पर

---

1. ए०इ०, जिल्द 11, पृ० 44।
2. वही।
3. आ०स०इ० (वे०स०), पृ० 54-55, 1907-8।
4. रासमाला अध्याय 4, पृ० 64।
5. ए०इ०, जिल्द 1, पृ० 293।
6. आर्केलाजी आफ गुजरात, अध्याय 10, पृ० 210।
7. वही।
8. मुंशी, के०एम०, पाटन का प्रभुत्व, पृ० 3 तथा 43।

उस शासक द्वारा स्वयं विचार-विमर्श करने की सूचना मिलती है[1]। कुमारपाल के महामात्य तथा सचिव विद्वान् थे। उनकी राजसभा में रामचन्द्र और उदयन दो जैन विद्ववान् थे। हेमचन्द्र उस युग का सबसे महान जैन पण्डित था और कुमारपाल का परामर्श दाता था। हेमचन्द्र व्याकरण शस्त्र का सर्वश्रेष्ठ प्रणेता हुआ। हेमचन्द्र ने चालुक्यों के गौरवगान के लिए ही द्याश्रयकाव्य की रचना की।

कुमारपाल प्रतिबोध का रचयिता सोमप्रभाचार्य प्रसिद्ध जैन विद्वान् था। उसने जैन धर्म को स्पष्ट करने वाली अनेक कहानियां अपने ग्रन्थों में लिखी हैं। इस समय संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषाओं में रचनायें हुई। चालुक्यों के समय के दो नाटक प्रमुख हैं जिनसे उनके इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। इनमें एक जयसिंह का हम्मीरमदमर्दन और दूसरा यशपाल का मोहराजपराजय है[2]। कविता के क्षेत्र में उदय सुन्दरी सोड्ढल की महत्वपूर्ण रचना है[3]।

चाहमान राजाओं के समय की साधारण धार्मिक और सामाजिक अवस्था

चाहमान राजाओं के अभिलेखों तथा साहित्यिक ग्रन्थों से उस समय के प्रमुख धर्मों के बारे में सूचनायें मिलती हैं, जिनमें हिन्दू और जैन धर्म उल्लेखनीय हैं। हिन्दू धर्म के अन्तर्गत विभिन्न देवताओं के लोकप्रिय होने का प्रमाण अभिलेखों से प्राप्त होता है, जिनमें विष्णु, शिव, ब्रह्मा और गणेश तथा पार्वती विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं[4]। चाहमान राजाओं के समय में पेड़ों तथा पत्थरों को भी देवत्व प्राप्त था[5]। मूर्ति-पूजा उस समय पूरी तरह प्रचलित थी। इसी कारण मन्दिरों का निर्माण कराकर उसमें ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य और दुर्गा आदि की मूर्तियां स्थापित कराने के सन्दर्भ मिलते हैं[7]।

चाहमान राज्य में विष्णु के अनेक मन्दिरों के निर्माण कराये जाने सम्बन्धी सूचनायें मिलती हैं[8]। विष्णु की मुरारि के नाम के अन्तर्गत पूजा करने का उल्लेख मिलता है।

---

1. कुमार० प्रति० पृ० 423।
2. गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज में प्रकाशित संख्या 9, 10।
3. वही।
4. ए०इ०, जिल्द 9, पृ० 63, 67, 74; पृ०वि०, 4, पृ० 67।
5. इलियट एण्ड डाउसन, पूर्व निर्दिष्ट जिल्द 1, पृ० 76।
6. पृ०वि०, 5, पृ० 37-68 गौ० हीराचन्द ओझा, अजमेर 1940।
7. पृ०वि०, 5, पृ० 68; 8, पृ० 65;
   —ज०ए०सो०बं०, जिल्द 55, खण्ड 1, पृ० 42।

वैष्णव धर्म के साथ-साथ शैव धर्म के प्रचलित होने का प्रमाण अभिलेखों से प्राप्त होता है[1]। शिव के मन्दिरों तथा उनके गर्भ-गृहों के निर्माण के उल्लेख किये गये हैं[2]। शिव की पूजा के निमित्त अनेक शिवलिंगों की भी स्थापना की गई थी[3]। इन शैव मन्दिरों में लक्ष्मणस्वामिन्, जागेश्वर, सोमेश्वर, जयेन्द्रराजेश्वर अण्हिलेश्वर, पृथ्वीपालेश्वर आदि उल्लेखनीय हैं[4]। अभिलेखों में गणेश देवता की चर्चा है, उन्हें शिव का पुत्र कहा गया है। शिव के दूसरे पुत्र कार्तिकेय की पूजा का भी वर्णन मिलता है[5] चाहमान राज्य में सूर्य के मन्दिरों की उपस्थिति सूर्य की लोकप्रियता की सूचक है। सूर्य को जयस्वामी अथवा जगतस्वामी भी कहा गया है[6] तथा अनेक सौर मन्दिरों के निर्माण का उल्लेख है[7]।

चाहमान राजाओं के समय में जहां पुरुष देवताओं की पूजा होती थी वहां स्त्री देवियों की पूजा का प्रचलन भी स्वाभाविक था। देवियों में पार्वती शिव की पत्नी के रूप में प्रसिद्ध थीं। उनके अनेक नामों का उल्लेख अभिलेखों में हुआ है, जैसे—*पार्वती, देवी, दुर्गा, बहुगुनामाता, शाकम्भरी अथवा आशापुरी*[8] अभिलेखों में देवी के विकट स्वरूप का उल्लेख करते हुए उन्हें काली, कराली, कपाली, चामुण्डा, चण्डी, कात्यायनी आदि कह कर पुकारा गया है[9]। उपर्युक्त साहित्यिक तथा अभिलेखीय साक्ष्य इस बात का प्रमाण उपस्थित करते हैं कि हिन्दू धर्म के अनेक साम्प्रदाय चाहमान राज्य में स्वतन्त्रतापूर्वक फल-फूल रहे थे।

हिन्दू धर्म के साथ-साथ जैन धर्म भी चाहमान राज्य में विद्यमान था। अभिलेखों में जैन देवताओं के निमित्त दान देने तथा उनकी पूजा सम्बन्धी चर्चाएं मिलती हैं[10]। अजमेर में अनेक जैन मन्दिर बनवाने[11], उन्हें स्वर्ण-कलश प्रदान

1. ए०इ०, जिल्द 2, पृ० 119 और आगे।
2. पृ०वि०, पृ० 43 और 45।
3. वही, पृ० 37-39।
4. ए०इ०, जिल्द 11, पृ० 305।
5 इहिक्वा, पृ० 570, 1940।
6. ए०इ०, जिल्द 11, पृ० 56।
7. वही, जिल्द 14, पृ० 176-88।
8. ए०इ०, जिल्द 9, पृ० 71; जिल्द 11, पृ० 32;
   —पृ०वि०, 4, पृ०वि०, 4, पृ० 64-67। (चाहमान राजा आशापुरी की भक्ति और प्रशंसा करते थे। विग्रहराज द्वितीय ने भड़ोच में इस देवी का सुन्दर मन्दिर बनवाया था।
9. ए०इ०, जिल्द 9, पृ० 71-74।
10. ए०इ०, जिल्द 11, पृ० 28, 35, 36 और आगे।
11. खतरगच्छपट्टावली, पृ० 16।

करने[1] और श्वेताम्बर तथा दिगम्बरों के बीच होने वाले धार्मिक वाद-विवादों में न्यायाधीश का काम चाहमान राजाओं द्वारा करने की सूचनायें मिलती हैं[2] चाहमान राज्य में पशुवध-निषेध की भी जानकारी मिलती है[3]।

चाहमान राज्य में जैन भक्तों द्वारा अनेक सुन्दर और अद्भुत मन्दिरों के निर्माण तथा उनमें तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के प्रतिष्ठापित करने के उल्लेख मिलते हैं, जिनमें पार्श्वनाथ, महावीर, धर्मनाथदेव, शान्तिनाथदेव आदि के नाम उल्लेखनीय हैं[4]। जैन देवताओं की पूजा तथा जैन महोत्सवों पर राजाओं द्वारा मन्दिरों को उदारतापूर्वक दान देने की चर्चायें प्राप्त हैं[5]।

बौद्ध धर्म के बारे में कोई विशेष सूचना नहीं मिलती। सम्भवतः उस समय तक बुद्ध को विष्णु के अवतार के रूप में माना जाने लगा था। अतः वह वैष्णव धर्म में समाहित हो गया था। बौद्धों और जैनियों की भाँति वैष्णव लोग विष्णु के 24 अवतारों में विश्वास करने लगे थे जिसे नया वैष्णव सम्प्रदाय कहा गया। चार भुजाओं वाले विष्णु अन्त में 24 हाथों वाली प्रतिमा के रूप में उपस्थित किये जाने लगे। एक ही सिर के अन्तर्गत तीन (3) मुख (एक तरह वराह, दूसरी तरह सिंह तथा बीच में मनुष्य का सिर) धारण करने वाली प्रतिमाओं की स्थापना की जाने लगी[6]।

चाहमानकालीन समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था मौजूद थी जिसका समर्थन ग्यारहवीं शती के लेखक अल्बीरूनी के कथनों से होता है[7]। वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मणों को विशेष अधिकार प्राप्त थे। वे धार्मिक कार्यों के अलावा दूसरे (सैनिक अथवा प्रशासनिक) कार्य भी करते थे[8]। समाज में सती प्रथा प्रचलित थी, परन्तु सती होने के लिए किसी को बाध्य नहीं किया जाता था[9]।

---

1. वही।
2. कैटलाग आफ मैन्यूस्क्रिप्ट्स इन पाटन भंडार, जिल्द 1, पृ० 369 गायकवाड़ सीरीज।
3. शर्मा, दशरथ, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 64-65।
4. ए०इ० जिल्द 26, पृ० 105।
5. वही, जिल्द 11, पृ० 41 और 47 तथा 47-53।
6. ओझा, मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० 20, इलाहाबाद 1928।
   —सिंह, रामवृक्ष, हिस्ट्री आफ चाहमान्ज, पृ० 377, वाराणसी, 1964।
7. बील, पूर्व निर्दिष्ट, जिल्द 1, पृ० 82;
   —सचाऊ, अल्बीरूनीज इंडिया, जिल्द 1, पृष्ठ 100, लंदन 1914।
8. इहिक्वा, पृ० 569-71, 1940।
9. इलियट एण्ड डाउसन, पूर्व निर्दिष्ट, जिल्द 1, पृ० 6।

चाहमानों के साम्राज्य में ब्राह्मणों को विशेष सम्मान प्राप्त था। पृथ्वीराज विजय से सूचना मिलती है कि चाहमान राजा पृथ्वीराज प्रथम ने सात सौ चालुक्यों की ब्राह्मणों को लूटने के कारण हत्या करवा दी थी[1]।

चाहमान राजाओं के समय के साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि संस्कृत भाषा को उनके काल में विशेष संरक्षण मिला था[2]। चाहमान राजा विद्वानों और कवियों का आदर करते थे। अजयराज के दरबार में जैन धर्म के श्वेताम्बर और दिगम्बर संन्यासियों के बीच धार्मिक वाद-विवाद तथा राजा द्वारा स्वयं निर्णायक के रूप में कार्य करने की सूचना मिलती है[3]। पृथ्वीराज तृतीय के दरबार में दो जैन आचार्यो जिनपतसूरि तथा पद्मप्रभसूरि के बीच धार्मिक वाद-विवाद होने तथा राजा द्वारा विजेता को पुरस्कृत करने का उल्लेख मिलता है[4]।

चाहमान राजाओं द्वारा विद्या मन्दिरों के निर्माण कराने की सूचनायें मिलती हैं। राजस्थान को भीनमाल स्थान-ब्रह्मसूरी कहा जाता था, क्योंकि वहां के ब्राह्मण वैदिक क्रियाओं में पूर्ण दक्ष होते थे[5]। विग्रहराज चतुर्थ ने अजमेर में एक प्रसिद्ध शिक्षा मन्दिर की स्थापना की थी, जहाँ दूर-दूर के स्थानों से संस्कृत के विद्यार्थी अध्ययन करने के लिए आते थे। दुर्भाग्यवश चौहानों के पतन के बाद वह विद्यालय आक्रामक तुर्क तलवार का शिकार हुआ और मस्जिद के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। आज भी वह 'अढ़ाई दिन का झोंपड़ा' के रूप में उत्तरी भारत के उन अनेक हिन्दू मन्दिरों और भवनों का प्रतीक है, जो वर्षों तक कुशल कारीगरों द्वारा प्रभूत धनराशि से निर्मित किए गए, किन्तु, जिन्हें अर्द्ध सभ्य-आक्रामकों ने आधा अथवा पूरा तोड़कर जल्दी-जल्दी बनाई गई अपनी मस्जिदों से आरोपित कर दिया। पहाड़ियों को काटकर बनाये हुए उस वास्तु के चित्रालंकरण और स्तम्भों की अवली वाला पिछला भाग आज भी पुर्णतः हिन्दू रूप में अवशिष्ट है और देश के प्राचीन वास्तुओं में बनावट की पूर्णता की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान रखता है[6]। बालोर के समीप कुमार विहार

1. पृ०वि, 5, पृ० 17-18।
2. इ०ए०, जिल्द 20, पृ० 201-12।
3. कैटलाग आफ मैन्यूस्क्रिप्ट्स पाटन भंडार, पृ० 369।
4. खरतरगच्छ गुरुवावली, पृ० 22-25।
5 कन्हडप्रबन्ध, 3, पृ० 22-29।
6. टाड, ऐऐरा 9, जिल्द 1, पृ० 609। इस संबंध में और देखिये,
—आसरि०, जिल्द 2, पृ० 263 ; हरविलास शारदा, अजमेर पृ० 68।

जैन शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। वल्लभी और उज्जैन शैव संस्कृति के केन्द्र थे[1]।

अभिलेखों[2] से वेद, वेदांग, इतिहास, पुराण, रामायण, महाभारत, स्मृति तथा षड्दर्शनों के अध्ययन के वारे में जानकारी होती है। चाहमान शासकों के समय में जैन साहित्य का पूरा विकास हुआ और अनेक जैन आचार्यों द्वारा जैन धर्म एवं साहित्य सम्बन्धी रचनायें हुई[3]। पृथ्वीराज के दरवार में विभिन्न सम्प्रदाओं के आचार्य परस्पर शास्त्रार्थ के लिए जुटते थे, जिनकी व्यवस्था के लिए पद्मनाभ नामक मंत्री की नियुक्ति की गई थी[4]।

चालुक्य राजाओं के व्यक्तिगत धर्म तथा धार्मिक विश्वास

अभिलेखों तथा साहित्यिक ग्रन्थों से जो सूचनायें प्राप्त होती हैं उनके अनुसार चालुक्य वंश के अधिकांश राजा शैव प्रतीत होते हैं। मूलराज को शिव की पूजा करते हुए हम पाते हैं। उसके द्वारा शिव के निमित्त दान देने तथा मन्दिर वनवाने की सूचना मिलती है। मूलराज के वारे में कहा गया है कि वह सोमनाथ की पूजा करने के लिए प्रति सोमवार को पाटन जाता था। वहां पर सोमनाथ की पूजा आदि के निमित्त उसके द्वारा एक पुजारी की नियुक्ति तथा प्रतिदान पूजा की सामग्री देने की जानकारी प्राप्त होती है[5]। अभिलेखों में इस वात का उल्लेख मिलता है कि मूलराज दान देने से पहले शिव की पूजा किया करता था[6]। चालुक्य चामुण्डराज द्वारा भी चन्दनाथ नाम से शिव-मन्दिर के निर्माण कराने का वर्णन मिलता है[7]।

चालुक्य राजा दुर्लभराज द्वारा मदनशंकर (शिव) के मन्दिर के निर्माण कराने की सूचना मिलती है[8]। भीम प्रथम द्वारा राजपूताना और गुजरात में शिव मन्दिरों के वनवाने के उल्लेख हैं[9]। आवू पर्वत पर उसके मंत्री विमल द्वारा

---

1. इ०ए०, जिल्द 11, पृ० 221-22।
2. ए०इ०, जिल्द 11, पृ० 30।
3. देसाई, एम० डी०, जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, जिल्द 1, पृ० 411, वम्बई, 1933।
4. पृ०वि०, 12, 58।
5. प्र०चि०, जिल्द 3, पृ० 22, द्विवेदी;
   —मजूमदार अ०कु०, चौ० गुजरात, पृ० 288, वम्बई 1956।
6. मजूमदार, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 288।
7. इ०ए०, जिल्द 4, पृ० 111; प्र०चि०, जिल्द 3, पृ० 25।
8. प्र०चि०, जिल्द 3, पृ० 26।
9. वियना ओरियंटल जर्नल, जिल्द 3, पृ० 1 और आगे।

एक जैन मन्दिर बनवाने की चर्चा मिलती है। भीम के समय में बने मन्दिरों में मोढेरा का सूर्य मन्दिर विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। मेरुतुंग से सूचना मिलती है कि भीम ने त्रिपुरुष प्रसाद (मन्दिर) बनवाया। इसके अतिरिक्त भीम द्वारा बनवाये गये मन्दिरों में भीमेश्वरदेव और भट्टारिका भीरुवानी के मन्दिर भी प्रसिद्ध हैं[1]। भीम के पुत्र एवं उत्तराधिकारी कर्ण द्वारा भी शिव[2] तथा देवियों[3] के अनेक मन्दिरों के बनवाने की सूचनायें मिलती हैं, जिनमें कर्णेश्वर (शिव) का मन्दिर मुख्य था। मेरुतुंग से सूचना मिलती है कि जयसिंह सिद्धराज ने रुद्र-महालय नामक मन्दिर बनवाया यह मन्दिर 23 हाथ ऊंचा था[4]।

मेरुतुंग की सूचनाओं के आधार पर सिद्धराज बड़ी धार्मिक प्रवृत्ति का राजा मालूम होता है। उसने अपनी माता मणयल्ला देवी के कहने पर अपनी एक बहुत बड़ी आय जो उसे तीर्थयात्रियों से 'कर' के रूप में होती थी, समाप्त कर दिया[5]। चालुक्य नरेश कुमारपाल के बीस (20) से अधिक अभिलेखों में उसे **उमापतिवरलब्ध**[6] कहा गया है जो उसके शिवभक्त होने का परिचायक है। कुमारपाल के शैव होने सम्बन्धी कई प्रमाण मिलते हैं। हेमचन्द्र से सूचना मिलती है कि कुमारपाल ने अण्हिलवाड़ में कुमारपालेश्वर नामक शिव का मन्दिर बनवाया तथा पाटन के सोमनाथ मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया एवं केदारेश्वर के मन्दिर निर्माण हेतु अपने अमात्य भागवत को आदेश दिया[7]। कुमारपाल के बारे में कभी-कभी यह कहा गया है कि वह हेमचन्द्र के प्रभाव में आकर जैन हो गया था[8]। कहा गया है कि जब कुमारपाल ने हेमचन्द्र से मुक्तिदायक अथवा परमात्मा के स्वरूप के बारे में जानकारी की इच्छा प्रकट की तो हेमचन्द्र ने ध्यान किया और कुमारपाल ने धूप दिया गर्भगृह में बिल्कुल अंधेरा छा गया और इसी में कुमारपाल को जगदीश का दर्शन हुआ। इस घटना से प्रभावित होकर कुमारपाल ने परमार्हत की उपाधि धारण कर ली[9]। कुमारपाल द्वारा जैन धर्म सम्बन्धी अनेक निर्माण कार्यों के कराये जाने की सूचनायें मिलती हैं। उसने

---

1. प्र०चि०, टानी, 78; जिनविजयमुनि, 55; मजूमदार अ०कु० पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 289।
2. मजूमदार अ०कु०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 289 में उद्धृत संदर्भ।
3. वही।
4. प्र०चि०, जिल्द 3, पृ० 62, द्विवेदी।
5. वही।
6. इ०ए०, जिल्द 18, पृ० 341-43।
7. द्वयाश्रकाव्य, सर्ग 20, श्लोक 101।
8. कुमारपाल चरितसंग्रह, पृ० 26।
9. प्र०चि०, जिल्द 3, पृ० 104, द्विवेदी।

पाटन में कुमार विहार का निर्माण कराया तथा उसमें पार्श्वनाथ की एक विशाल मूर्ति की स्थापना कराई। साथ के अन्य मन्दिरों चौबीस तीर्थंकरों की स्वर्ण, रजत तथा पीतल की मूर्तियां प्रतिष्ठापित कराई गई[1]।

कुमारपाल द्वारा अनेक जैन देवताओं की प्रतिमाओं को विहारों में प्रतिष्ठापित कराने की चर्चायें जैन ग्रन्थों में की गई हैं। वर्णन मिलता है कि उसने त्रिभुवन विहार का निर्माण कराया। इसके साथ के बहत्तर (72) मन्दिरों में अलग-अलग देवताओं को प्रतिष्ठापित कराते हुए केन्द्रीय मन्दिर में उसने तीर्थंकर नेमिनाथ की मूर्ति स्थापित करायी[2]। कुमारपाल के समय में जैन धर्म से संबंधित महोत्सवों के मनाये जाने का भी वर्णन मिलता है। कहा गया है कि प्रतिवर्ष चैत्र तथा आश्विन शुक्ल पक्ष के अन्तिम सप्ताह में पाटन के प्रसिद्ध कुमार विहार में एक समारोह आयोजित होता था। समारोह के अन्तिम दिन रथ में पार्श्वनाथ की सवारी राजप्रासाद तक जाती थी तथा राजा स्वयं जाकर मूर्ति की पूजा करता था[3]। अन्य साहित्यिक ग्रन्थों में भी रथ महोत्सव का वर्णन मिलता है[4]। अभिलेखीय साक्ष्यों में कुमारपाल द्वारा जैन धर्म के सिद्धान्तानुसार एक कड़े आदेश द्वारा हिंसा पर रोक लगाने का उल्लेख मिलता है[5]। कुमारपाल का जैन धर्म के प्रति कितना लगाव था इसके बारे में धार्मिक नीति स्पष्ट करते समय चर्चा की जायेगी। कुमारपाल के बाद के चालुक्य राजा अजयपाल को जैन विरोधी बताते हुए कहा गया है कि उसने क्रूरतापूर्वक जैन मन्दिरों को तुड़वा दिया[6]।

चाहमान राजाओं के व्यक्तिगत धर्म एवं धार्मिक विश्वास

चाहमान राजाओं में विशेष रूप से उन्हीं का उल्लेख किया जायेगा जिनके धार्मिक क्रिया-कलापों से उनकी कुछ धार्मिक नीति स्पष्ट होती है। वाक्पति प्रथम को शिव का भक्त कहा गया है। उनके द्वारा शिव के मंदिर निर्माण कराने की चर्चा है[7]। चामुण्डराज को वैष्णव मंदिर बनवाने का श्रेय दिया गया है[8]। पृथ्वीराज प्रथम के बारे में कहा गया है कि उसने धार्मिक यशःवृद्धि हेतु सोमनाथ

1. कुमारपाल प्रतिबोध, पृ० 113।
2. कुमारपाल प्रतिबोध, पृ० 143-74।
3. वही, पृ० 175।
4. मोहराजपराजय, 4, श्लोक 19; महावीरचरित, 12, श्लोक 76।
5. ए०इ०, जिल्द 11, पृ० 44।
6. प्र०चि०, जिल्द 3, पृष्ठ 118, द्विवेदी।
7. पृ०वि०, 5, पृ० 43 और 45।
8. वही, पृ० 68।

के पूजागृह का निर्माण कराया तथा रणथम्भोर में जैन मंदिरों में कनक-कलशों की स्थापना की[1]। अजयराज यद्यपि शिव का भक्त था, किन्तु वैष्णव तथा जैन संन्यासियों का भी वह आदर करता था। उसके द्वारा अजमेर में जैनियों को जैन मंदिर बनाने की अनुमति देने तथा पार्श्वनाथ के मंदिर हेतु स्वर्णकलश प्रदान करने एवं श्वेताम्बरों तथा दिगम्बरों के बीच धार्मिक वाद-विवाद में न्यायाधीश का कार्य करने की सूचनायें मिलती हैं[2]। अर्णोराज को विष्णु का परमभक्त कहा गया है[3]। परन्तु उसके द्वारा धार्मिक वाद-विवाद में विजयी एक श्वेताम्बर संन्यासी को विजयपत्र देने की चर्चा है[4]। विग्रहराज यद्यपि शिव का भक्त था फिर भी उसने एक जैन विहार की स्थापना की तथा जैन आचार्य धर्मघोष के आदेशानुसार एकादशी के दिन पशुवध निषेध करा दिया[5]।

पृथ्वीराज द्वितीय के बारे में सूचना मिलती है कि उसने शैव[6] होते हुए भी एक जैन मंदिर के लिए दान दिया था। सोमेश्वर द्वारा विष्णु के एक मंदिर के निर्माण की सूचना मिलती है[7]। इतना ही नहीं एक ही मंदिर में ब्रह्मा, विष्णु और शिव की प्रतिमा स्थापित कराने का उल्लेख किया गया है[8]। इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि चाहमान राजा हिन्दू-धर्म के सभी सम्प्रदायों के साथ-साथ जैन धर्म को भी संरक्षण प्रदान करते रहे।

चालुक्य राजाओं की धार्मिक नीति

चालुक्य राजाओं की धार्मिक नीति के बारे में विद्वानों ने प्रायः एक प्रकार का मत प्रतिपादित किया है। आधुनिक जैन आचार्यों ने उस समय की धार्मिक अवस्था के आधार पर उस युग को धार्मिक सहिष्णुता के युग की संज्ञा प्रदान की है। आचार्य जिनविजयमुनि ने कहा है कि कदाचित् भारत के प्राचीन इतिहास में यह पहला और अंतिम उदाहरण होगा कि हेमचन्द्र जैसा जैन धर्म का महान् आचार्य शिव मंदिर में श्रद्धालु शैव की तरह शिव की स्तुति करता है[9]।

---

1. वही पृ० 82; पाठक वि॰ पूर्व निर्दिष्ट, पृ॰ 453।
2. कैटलाग आफ मैन्यूस्क्रिप्ट इन पाटन भण्डार, जिल्द 1, पृ० 369।
3. ज॰ए॰सो॰बं॰, जिल्द 55, खण्ड 1, पृ० 42।
4. कैटलाग आफ मैन्यूस्क्रिप्ट इन पाटन भण्डार, जिल्द 1, पृ० 395।
5. शर्मा, दशरथ, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 64-65।
6. इ॰ए॰, जिल्द 41, पृ० 19।
7. ए॰इ॰, जिल्द 26, पृ० 105 (विजौलिया अभिलेख)।
8 पृ॰वि॰, 8 पृ० 65 और आगे।
9. कुमारपाल चरित्र संग्रह, पृ० 25।
   यत्र तत्र समये यथातथा योऽसिसो स्पमिदया यय तया।
   वीतदोपकलुपः सचेंद्‌भवान् एक एव भगवन्नमोऽस्तुते ॥

गण्डभाव बृहस्पति जैसा महान् शैव मठाधीश जैन आचार्य के चरणों में वन्दना करके अनुग्रह की याचना करता है[1]। कुमारपाल के बारे में जिनविजय-मुनि कहते हैं कि इतिहास के सैकड़ों प्रबन्धों में खोजने पर मात्र कुमारपाल ही ऐसा शासक प्रतीत होता है जो अपनी कुल-परम्परा के अनुसार चले आ रहे हैं **उमापतिवरलब्ध प्रौढ़** प्रताप विरुद भी धारण करता रहा और उसके साथ ही साथ अपनी इच्छा से **परमार्हत** (जैन) विरुद भी अंगीकार किया। जिस स्नेह भरे भावों से प्रेरित होकर कुमारपाल ने सोमेश्वर महादेव के मंदिर का जीर्णोद्धार किया उतनी ही श्रद्धा के साथ उस सोमेश्वर मंदिर के सन्निकट ही पार्श्वनाथ के जैनचैत्य की स्थापना भी की। कुमारपाल ने गुजरात की गर्वोन्नित राजधानी अण्हिलपुर में शंभुनाथ के निवासार्थ 'कुमारपालेश्वर' और पार्श्वनाथ के लिए 'कुमार विहार' नामक दो मंदिरों का निर्माण साथ-साथ एक दूसरे के समीप ही कराया। धार्मिक सहिष्णुता का इससे बड़ा उदाहरण मिलना कठिन है[2]। कुमारपाल की अहिंसा प्रवर्तक साधना की सफलता देखकर ब्राह्मण पंडित श्रीधर ने एक विशेष प्रसंग पर हेमाचार्य की स्तुति की[3]।

जैन ग्रंथों[4] में चालुक्य अजयदेव अथवा अजयपाल को जैन धर्म विरोधी कहा गया है, परन्तु मजूमदार महोदय इस मत को खण्डित करते हुए माणिक्यचन्द का यह कथन प्रस्तुत करते हैं कि वर्धमान नामक जैन साधु ने जैन सिद्धान्तों की व्याख्या से कुमारपाल और अजयपाल के दरबार को प्रकाशित किया[5]। डाक्टर पाठक[6] भी अजयपाल को जैन विरोधी नहीं मानते। उनका कहना है कि अजयपाल ने उन्हीं जैनियों का अन्त किया जो उसके राज्याधिकार के विरोधी

---

1. कुमारपाल चरित्र संग्रह, पृ० 26।
चतुर्मासीमासीत्व पदयुगंनाथ। निकपाकपाय प्रध्वंसाद्विकृतिपरिहार व्रतमिदम्।
इदानीमुद्भिपन्निजचरण निर्लोठितकर्लेजलाविलन्नैरन्नैर्मुनि तिलकः वृत्तिभवतुमे ।।

2 कुमारपाल चरित्र संग्रह, पृ० 26।

3. पूर्ववीरजिनेश्वरे भगवति प्रख्याति धर्म स्वयम्।
प्रज्ञावत्यभयेऽपि मन्त्रिणि न यां कर्तुं क्षमः श्रेणिकः।
अक्लेशेन कुमारपालनृपतिस्तां जीवरक्षां व्यधात्
यस्यासाद्य वचस्सुधां स परमः श्री हेमचन्द्रो गुरुः ।।
(कुमारपाल चरित संग्रह, पृ० 28)

4. प्र०चि०, जिल्द 3, पृ० 117-18, द्विवेदी।
5. मजूमदार अ०कु०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 129-30।
6. पाठक वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 542।

थे। उसने ब्राह्मण धर्म की मान्यता स्थापित की[1]। इससे यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि वह आंख मूंद कर जैन विरोधी हो गया और जैन धर्म समाप्त करने को कटिबद्ध हो गया। वैद्य महोदय ने चालुक्य राजा जयसिंह को मुसलमान इतिहासकारों के वर्णन के आधार पर सहिष्णु कहा है। उनका कहना है कि जयसिंह सिद्धराज सहित सारे हिन्दू शासक मुसलमानों के प्रति सहिष्णु थे[2]। व्यास महोदय चालुक्य कुमारपाल को धार्मिक मामले में सहिष्णु कहते हुए उसकी मौर्य राजा अशोक से तुलना करते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार अशोक ने बौद्ध होकर भी अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु तथा आदर भाव रखा, उसी प्रकार कुमारपाल भी जैन होकर शैव सम्प्रदाय का समादर करता हुआ, धार्मिक सहिष्णुता की भावना रखता था[3]।

जहाँ एक तरफ अनेक विद्वानों ने उस समय के धार्मिक सम्प्रदायों में सहयोग एवं सद्भावना की बात स्वीकार की है वहीं फोर्वस् महोदय ने उस समय के दो प्रमुख धर्मों—जैन तथा ब्राह्मण—में परस्पर विरोध की बात कही है[4]। उसकी रसमाला में ब्राह्मण और जैन आचार्यों में संघर्ष और कटुभावना को व्यक्त करने वाली अनेक कहानियों का उल्लेख मिलता है जिनमें से निम्नलिखित प्रमुख हैं—

ब्राह्मण परम्परा के अनुसार कुमारपाल का विवाह सिसोदिया वंश की कन्या से हुआ था। उसे किसी तरह यह ज्ञात हो गया कि कुमारपाल उसे जबरदस्ती हेमचन्द्र के मठ में ले जाएगा तो उसने अण्हिलवाड़ जाने से इन्कार कर दिया। परन्तु बाद में चारण जयदेव द्वारा ऐसा विश्वास दिलाने पर कि उसे ऐसा करने के लिए बाध्य नहीं किया जायेगा, वह अण्हिलवाड़ गयी अण्हिलवाड़ पहुंचने पर हेमचन्द्र की आज्ञा से कुमारपाल ने रानी से उसके मठ में जाने का आग्रह किया। रानी इन्कार करके अपने मायके जाने के प्रयास में जुट गई और चारणों की स्त्रियों के सहयोग से वह अपने मायके चल दी। कुमारपाल ने उसका पीछा किया। जब रानी को कुमारपाल के पीछा करने की बात मालूम हुई तो वह घबड़ा गई और हतोत्साह होकर आत्महत्या कर बैठी[5]।

ब्राह्मणों और जैनों में पारस्परिक संघर्ष का परिचय कराने वाली एक दूसरी भी कहानी फोर्वस् ने दी है। एक बार कुमारपाल ने एक जैन साधु से तिथि का ज्ञान करना चाहा। जैन साधु ने गलती से अमावस्या की जगह पूर्णिमा

---

1. ए०इ०, जिल्द 2, पृ० 442।
2. वैद्य, चि०वि, हिस्ट्री आफ मेडिवल हिन्दू इण्डिया, पृ० 429।
3. व्यास, ल०शं०, चालुक्य कुमारपाल, पृ० 270, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1954।
4. फोर्वस् रासमाला, अध्याय 13, पृष्ठ 235, आक्सफोर्ड 1924, खण्ड 1।
5. फोर्वस्, रासमाला, अध्याय 11, पृ० 192-93, आक्सफोर्ड 1924, खण्ड 1।

बता दिया। जब ब्राह्मणों ने सुना तो उन्होंने जैनियों की खूब हंसी उड़ाई। इस पर कुमारपाल ने ब्राह्मणों के प्रधान तथा हेमचन्द्र को बुलाकर तिथि के बारे में पूछताछ की। ब्राह्मण प्रधान ने निश्चित तिथि अमावस्या बतायी परन्तु हेमचन्द्र ने पूर्णिमा। ब्राह्मणों ने गलत बताने वाले को देश निकालने की शर्त रखी। शाम के समय हेमचन्द्र ने अपनी सिद्ध देवी की सहायता से पूर्व दिशा में कृत्रिम उजाला बिखेर कर प्रकाश ही प्रकाश करके सही ब्राह्मणों को झूठा साबित कर दिया। कुमारपाल ने हारे हुए ब्राह्मणों को राज्य छोड़कर चले जाने की आज्ञा दी। इसी समय शंकर स्वामी का आगमन हुआ। उन्होंने कुमारपाल से अपने आदेश को रद्द करने का आग्रह करते हुए कहा कि किसी को राज्य से निष्कासित करने की जरूरत नहीं है। नौ बजे समुद्र उमड़ कर सारे देश को जलमग्न कर देगा। इस पर कुमारपाल ने हेमचन्द्र से पूछा कि क्या यह सत्य है तो हेमचन्द्र ने कहा कि यह संसार न कभी निर्मित हुआ और न नष्ट होगा। शंकर स्वामी ने जल घड़ी मंगाई और तीनों बैठकर उस समय की प्रतीक्षा करने लगे। जब नौ बजा जो समुद्र की लहरें उमड़ती हुई सारे नगर को जलमग्न करते हुए वहां तक पहुँच गईं, जहां ये तीनों बैठे थे। चारों तरफ जल ही जल दिखाई देता था। अतः भय से कुमारपाल ने शंकर स्वामी से इससे बचने का उपाय पूछा। शंकर स्वामी ने कहा कि पश्चिम दिशा से एक नाव आयेगी और हम लोग उसी में बैठ जायेंगे। नाव आई तो राजा ने उस पर बैठने का प्रयास किया। शंकर स्वामी ने उसे खींच लिया, किन्तु तब तक हेमचन्द्र खिड़की से कूद चुके थे। इस घटना से कुमारपाल शंकर स्वामी का शिष्य हो गया और तभी से जैनियों पर अत्याचार प्रारम्भ हो गया[1]।

फोर्ब्स की उपर्युक्त दोनों कथाओं का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं जान पड़ता। प्रथमतः तो फोर्ब्स ने जब अपनी **रासमाला** लिखी थी तो न सभी जैन ग्रन्थों का व्यापक अध्ययन हुआ था, न चालुक्य अभिलेखों का पूरी तरह प्रकाशन ही हुआ था और न चालुक्य इतिहास के सम्बन्ध की सारी जानकारी ही प्राप्त हो सकी थी। रासमाला का पूरा आधार अनुश्रुतिमूलक और कथापरक है, जिसके पीछे के इतिहास की सत्यता हमेशा प्रमाणित नहीं ठहरती। साथ ही फोर्बस् महोदय की विदेशी दृष्टि भारतवर्ष में विभिन्न धर्म मतावलम्बियों के बीच कलह और संघर्ष के अनुमान से सम्भवतः पूर्वाग्रहयुक्त थी। सम्भवतः इसी कारण उपर्युक्त दोनों कहानियों के ऐतिहासिक तथ्यों का विवेचन न करके उन्होंने उनसे भी एक अनैतिहासिक निष्कर्ष निकाल लिया। सच तो यह है कि कुमारपाल का सिसोदिया वंश में उत्पन्न किसी राजकुमारी से विवाह हुआ था, इसका कोई

---

1. व्यास, ल०शं०, पूर्व निर्दिदिष्ट, पृ० 230-31।

अभिलेखीय अथवा साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अतः उस सम्बन्ध की सारी कथा ही कपोलकल्पित लगती है। दूसरी कथा जो हिन्दुओं और जैनियों के बीच तिथि के विवाद को लेकर अन्ततः एक हिन्दू साधु के द्वारा अपनी अति प्राकृतिक शक्ति से जल-प्रलय उपस्थित कर देने के रूप में उपस्थित की गई है, वह भी कोरी अन्धविश्वासमूलक है। इसे कोई भी आधुनिक इतिहासकार स्वीकार नहीं कर सकता। अतः इन कहानियों के आधार पर फोर्बस् महोदय का यह निष्कर्ष स्वीकार नहीं किया जा सकता कि जैन और हिन्दू सम्प्रदायवादी कुमारपाल को पारस्परिक उत्पीड़न के लिए उत्साहित करते थे।

चालुक्य राजाओं के अभिलेखों तथा उस समय के साहित्यिक ग्रंथों के अध्ययन से एक बात यह स्पष्ट हो जाती है कि वे सभी के सभी धार्मिक मामलों में उदारता की नीति का अनुसरण करते थे, चाहे उनके धार्मिक विश्वास भले ही भिन्न हों। यहां कुमारपाल के सम्बन्ध में यह विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है कि क्या वह जैन हो गया था? अभिलेखों तथा साहित्यिक ग्रंथों में जो चर्चायें मिलती हैं, उनसे स्पष्ट होता है कि वह अपने जीवन के अंत तक शैव बना रहा। इसके समर्थन में दो-चार बातें कही जा सकती हैं। जैन ग्रन्थों में कुमरपाल को जैन धर्म के संरक्षक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। एक बात बड़ी स्पष्ट है कि राजगद्दी प्राप्त करने में कुमारपाल को हेमचन्द्र और उदयन जैसे प्रसिद्ध जैनों से सहायता मिली थी। अतः वह उनका कृतज्ञ रहा होगा। जैन लोग कुमारपाल के प्रति किए गये अपने एहसानों के बदले कुमारपाल को अपने पक्ष में करने का अवश्य प्रयत्न कर रहे होंगे। किन्तु जैन ग्रंथों के ऐसे विवरण कोरे काल्पनिक तथा अतिरंजित लगते हैं कि जैन आचार्यों और तीर्थंकरों के चमत्कारी कार्यों से प्रभावित होकर कुमारपाल जैन हो गया था। अगर जैनियों के ऐसे वर्णनों को सही माना जाता है तो हम फोर्ब्स[1] की कहानियों को क्यों न सही मानें, जिसमें शंकर स्वामी के चमत्कार से प्रभावित होकर कुमारपाल के उसके शिष्य हो जाने की चर्चा है और जिसके बाद जैनियों के उत्पीड़न की बात कही गई है। परन्तु यहां एक प्रश्न यह उठता है कि फोर्ब्स की कहानियों का समर्थन साहित्यिक ग्रंथों अथवा अभिलेखों से नहीं होता और उन्हें इतिहास की सच्ची घटनायें नहीं माना जा सकता। जैन साहित्यों में कुमारपाल के जैन धर्म ग्रहण सम्बन्धी वर्णन कोरे काल्पनिक प्रतीत होते हैं[2] और उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। फोर्ब्स के भी वर्णन उसी श्रेणी में आते है। जहां अभिलेखों से कुमारपाल के जैन धर्म के प्रति स्नेह

---

1. पीछे देखिए, पृ०, 207-208।
2. कुमारपाल भूपालचरित, 5-10; प्रभावकचरित, 22, 426-477; —पाठक वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 539।

का समर्थन होता है वहीं उसके शैव धर्म के प्रति भी श्रद्धा का प्रमाण मिलता है। एक तरफ वह अपनी कुलपरंपरा प्राप्त उमापतिवरलब्ध उपाधि धारण करता रहा तो दूसरी ओर परमार्हत विरुद्ध धारण कर अपने गुरु और उपकारक हेमचन्द्र के प्रति अपना आदर भी प्रस्तुत करता रहा। यह दोनों धर्मों के प्रति उसके समान स्नेह अथवा लगाव का परिचायक है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन लोग शैव अथवा अन्य धर्मों के ऊपर जैन धर्म की विशेषता दिखाने का प्रयास कर रहे थे। कुमारपाल, अनेक प्राचीन हिन्दू राजाओं की भांति, सभी धर्मों के तत्वों को जानने के लिए प्रयत्नशील रहा प्रतीत होता है। स्वयं जैन लेखकों से यह ज्ञात होता है कि सभी सम्प्रदायों के आचार्यों के मतमतान्तर वह सुनता था तथा उनमें परस्पर शास्त्रार्थ भी कराता था। चूंकि हेमचन्द्र एक उच्च कोटि का विद्वान् था, उसने निश्चित ही अपनी विद्वत्ता से कुमारपाल को प्रभावित किया होगा। अतः कुमारपाल का उसके प्रति आदर एवं श्रद्धा और उसके कहे हुए मार्गों को अपनाना इस बात का सच्चा प्रमाण नहीं है कि वह जैन धर्म अपना चुका था। इस दृष्टि से विचार करने पर कुमारपाल का जैन धर्म के प्रति झुकाव उतना ही सीमित लगता है जितनी सीमित गौतम बुद्ध के समकालिक कौशलराज प्रसेनजित की बौद्ध धर्म में रुझान थी अथवा श्वान्-च्वांग के व्यक्तित्व से प्रभावित हर्षवर्धन का सौगतपंथ में आदर मात्र व्यक्त करने वाला विश्वास था। इन सबने जैन अथवा बौद्ध धर्मों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण उदारता मात्र दिखाई, किन्तु उन्होंने कभी भी अपने पैतृक हिन्दू धर्म अथवा अपने व्यक्तिगत धर्म अथवा विश्वास नहीं छोड़े। वे तीनों ही आजीवन ब्राह्मण धर्म मतावलम्बी बने रहे। जैसे प्रसेनजित बुद्ध के प्रति आदर रखते हुए तथा उनका प्रायः दर्शन करते रहने पर भी वैदिक यज्ञ-यागों से विमुख नहीं हुआ[1] तथा हर्ष श्वान्-च्वांग से प्रभावित होकर भी शिव और सूर्य की सदा पूजा करता रहा, वैसे ही कुमारपाल भी शैव बना रहा। उसके द्वारा अनेक शिव-मंदिरों के निर्माण, उसके अभिलेखों का शिव-वन्दना से प्रारम्भ, (जबकि उसके किसी अभिलेख का प्रारम्भ किसी जैन देवता की प्रार्थना से नहीं, हुआ है) उसकी सारी विजयों का शिव और पार्वती की कृपा से होना उसकी शैव धर्म में आद्योपान्त आस्था बनी रहने का परिचायक है। निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि अपने समय के जैन विद्वानों, विशेषतः हेमचन्द्र, के चारित्रिक गुणों और विद्वत के प्रभाववश कुमारपाल जैन धर्म के प्रति काफी कृपालु और उन्मुख तो था, किन्तु उसने अपने परिवार में प्रारम्भ से ही मान्य शैव धर्म का त्याग नहीं किया। जीव-हिंसा बन्द कराने, मदिरा-पान निषेध, वेश्यावृत्ति पर रोक

---

1. पाठक वि० हिस्ट्री आफ कौशल, पृ० 226-30, बनारस 1964।

आदि उसकी आज्ञाओं का श्रेय केवल जैन धर्म को ही नहीं दिया जाना चाहिए, ये नैतिक आचरण हैं, जिनका उपदेश सभी धर्म करते हैं[1]।

कुमारपाल के जैन धर्म के प्रति लगाव के बारे में एक बात और कही जा सकती है। लगता है कि कुमारपाल कुछ राजनीतिक कारणों से ही प्रेरित होकर जैन धर्म को विशेष महत्व देता था। कुमारपाल के मंत्रियों में अधिकांश व्यापारी थे। ये लोग अपनी आर्थिक सम्पन्नता और वास्तु निर्माण के आधार पर ही राजनीति में आगे बढ़े थे और महत्त्वपूर्ण पदों पर आसीन थे। उस समय के व्यापारियों को जैन धर्म का स्तम्भ कहा गया है[2]। तत्कालीन समाज की स्थिति का वर्णन करते समय हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि पश्चिम भारत में व्यापारी लोग इतने सशक्त हो गये थे कि वे अपनी स्वतन्त्र बस्तियां बसाने लगे थे[3]। उन्हें सम्राट का भय नहीं रहा। सम्भव है कुमारपाल ने व्यापारियों के प्रिय धर्म, जैन धर्म, के प्रति इसीलिए विशेष कृपा दिखाई हो कि उसे उस व्यापारी वर्ग के भौतिक सम्पत्ति का भाग मिल सके और साथ ही राजनीति के क्षेत्र में वणिकों ने जो अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया था, उसका भी वह भलीभांति लाभ उठा सके। उनसे कुमारपाल कभी टकराना नहीं चाहता था। प्रारम्भ में जयसिंह के जीवित रहते उसके सामने जब उत्तराधिकारी की समस्या थी तो उदयन नामक मंत्री और हेमचन्द्र ने उसकी खुलकर सहायता[4] की थी। ये दोनों क्रमशः धनी वैश्य वर्ग और प्रभावशाली, जैन सम्प्रदाय के प्रतिनिधि थे। अतः कुमारपाल का जैनों की सहायता, उनका आदर और उनके प्रति झुकाव के आर्थिक और राजनीतिक कारण तो थे ही, उसकी उस प्रवृत्ति का आधार मनोवैज्ञानिक और नैतिक भी था। कहा गया है कि कुमारपाल ने जैन दीक्षा ग्रहण करने की प्रेरणा भी अपने मंत्री वाहड से पाई थी[5]। यह मंत्री उदयन (वणिक्) का पुत्र था जो स्वयं जैन प्रतीत होता है। अतः उसने अपने धर्म की तरफ राजा को आकर्षित करने का प्रयास किया, जिससे उसके धर्म के प्रचार और प्रसार में वृद्धि हो और उसका वैश्य-जैन-समाज राजा के और सन्निकट हो जाये। अतः कहा जा सकता है कि कुमारपाल हृदय से नहीं बल्कि अन्य (राजनीतिक-आर्थिक) कारणों से ही जैन धर्म के प्रति श्रद्धावान् था। कुमारपाल के जैन धर्म के प्रति आकृष्ट होने के बाद भी शिव के प्रति उसके पूर्णतः अनुरक्त होने का आभास

---

1. पाठक वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 540-41।
2. पीछे देखिये, पृ० 191।
3. पीछे देखिये, पृ० 191।
4. पाठक वि०, पृ० पृ० 528।
5. व्यास, ल०सं०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 218।

इस बात से होता है कि उसने हेमचन्द्र से शिव की पूजा करने को कहा और हेमचन्द्र ने शिव की पूजा की[1]। हेमचन्द्र जैन धर्म का एक महान् आचार्य था जिसने अपने धर्म के विरोधी सम्प्रदाय के इष्ट की पूजा की। शैव धर्म के अन्तर्गत शाक्त सम्प्रदाय आता है जिसकी देवता के रूप में शक्ति देवी (दुर्गा) की पूजा हिंसक यज्ञ बलिकर्मों के द्वारा सम्पादित होती थी। इसके विपरीत जैन धर्म का मूल ही अहिंसा पर आधारित है। अतः हेमचन्द्र ने शिव की पूजा करके अपने धार्मिक विश्वास के प्रतिकूल आचरण क्यों अपनाया ? इसके पीछे कुछ अवश्य कारण था। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि हेमचन्द्र यह अच्छी तरह जानता रहा होगा कि कुमारपाल की शिव के प्रति विशेष श्रद्धा है, अगर वह उसका कहना नहीं मानेगा तो कुमारपाल उसके प्रति संशयवान् हो जायेगा और सम्भव है कि वह उसे अपना संरक्षण देना बन्द कर दे तथा जैन धर्म की ओर से अपना मन हटा ले। अतः कुमारपाल शैव धर्म के ही प्रति विशेष श्रद्धावान् प्रतीत होता है। यह भी निश्चित है कि वह धार्मिक मामलों में अत्यधिक उदार था। कुमारपाल की सभी धर्मों के प्रति समान श्रद्धा का अनुभव करके ही कदाचित् हेमचन्द्र ने शिव का पूजन किया था।

अभिलेखों तथा साहित्यिक ग्रंथों से स्पष्ट होता है कि सभी के सभी चालुक्य राजा सभी भारतीय धर्मों के प्रति सहिष्णु थे। कुछ लोग अजयपाल को जैन धर्म विरोधी मानते हैं जिसको आधार जैन ग्रंथों के विवरण हैं[2]। अगर हम उसके द्वारा जैन मन्दिरों के तोड़ने की बात स्वीकार करें तो भी उसका कारण आर्थिक हो सकता है। सम्भव है, अजयपाल ने जैन मंदिरों में लगे स्वर्णकलशों को उतार कर अपनी अर्थवृद्धि करना चाहा हो। एक दूसरी भी सम्भावना हो सकती है। अजयपाल को यह ज्ञात रहा होगा कि मुसलमान आक्रमणकारी भारत पर धन के लालच से ही आक्रमण करते थे और उनको मंदिरों में लगी धातु के रूप में सम्पत्ति बड़ी आसानी से मिल जाती थी। अतः कदाचित् उसने यह सोचा कि उनका स्वयं ही उपयोग क्यों न कर लिया जाए। हम देखते हैं कि अजयपाल की आशंका सही निकली। उसके बाद ही तुर्कों ने द्वितीय मूलराज पर आक्रमण कर दिया[3]। अगर इस मत को मान्यता दी जाए तो यह कहना अनुचित नहीं होगा कि अजयपाल जितना अधिक संकुचित धार्मिक दृष्टि से प्रभावित नहीं था उससे अधिक राजनीतिक चेतना उसके मस्तिष्क में विद्यमान थी। किन्तु इतने से ही

---

1. पीछे देखिये, पृ० 204।
2. प्र०चि०, द्विवेदी, देखिये अजयपाल का प्रबन्ध।
3. पाठक वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 542।

अजयपाल के धार्मिक अनाचारों की वात समाप्त नहीं हो जाती। उसने केवल जैनियों को ही नहीं सताया, अपितु अपने ब्राह्मण मंत्रियों को भी जलते कड़ाहे में जलवा दिया, यद्यपि वह स्वयं ब्राह्मण धर्मानुयायी था और **परममाहेश्वर** की उपाधि धारण करता था[1]। उसका शैव धर्म के प्रति लगाव उसके व्यक्तिगत मन की उपज नहीं वल्कि उसका वंशानुगत संस्कार था और एक धार्मिक प्रवृत्ति का आदतन् अनुसरण मात्र था। अजयपाल के सम्वन्ध में राजनीति दृष्टि से डाक्टर पाठक का मत विशेप महत्त्वपूर्ण है[2]।

अजयपाल के जैन धर्म के प्रति विरोध की विशेप चर्चा मेरुतुंग अपने **प्रवन्ध चिन्तामणि** में करता है जो अजयपाल की मृत्यु के लगभग 125 वर्षों वाद लिखा गया था। किन्तु मेरुतुंग के तत्सम्वंधी कथनों के वारे में सन्देह करने के कई कारण जान पड़ते हैं। प्रथम वात यह ध्यान देने की है कि अजयपाल के समकालिक जैन लेखक उसकी किसी प्रकार की निन्दा नहीं करते। **वस्तुपाल तेज पाल प्रशस्ति** में उसके स्वनियंत्रित व्यक्तित्व की प्रशंसा की गई है। माणिक्यचन्द्र द्वारा रचित **पार्श्वनाथ चरित** से यह ज्ञात होता है कि वर्धमान नामक जैन विद्वान् ने अपने धर्म के सिद्धान्तों की व्याख्या से कुमारपाल और अजयपाल के राज दरवार को प्रकाशित किया था। अरिसिंह, वालचन्द्र और उदयप्रभ जैसे जैन लेखक अपने ग्रन्थों में उसके जैन धर्म विरोधी किसी आचरण का कोई उल्लेख नहीं करते[3]। स्वयं मेरुतुंग के विवरणों को पढ़ने से भी एक दूसरी वात स्पष्ट होती है। कुमारपाल का अपने शरीर से उत्पन्न कोई पुत्र उत्तराधिकारी नहीं था और वह अपने दोहित्र प्रतापमल्ल को अपना उत्तराधिकारी घोपित कर गया, जिसे राजदरवार और राज्य के जैनों का समर्थन प्राप्त था। अजयपाल कुमारपाल का भातृज होने के नाते गद्दी का वास्तविक दावेदार था। जैनियों का उसके उत्तराधिकार के प्रति विरोध ही स्वयं उसके द्वारा जैन धर्म के विरोध का कारण रहा होगा। जिन जैन विद्वानों की उसने हत्यायें कराईं अथवा जैन मन्दिरों का जो उसने धन छीन लिया उसके पीछे उत्तराधिकार का ही संघर्ष रहा होगा। उसने कपर्दिन नामक अपने शैव सहायक मंत्री को भी स्वयं शैव होते हुए मरवा डाला। लगता है, वह व्यक्तिगत कारणों से और संभवतः स्वाभाविक रूप में कुछ

---

1. ए०इ०, जिल्द 2, पृ० 442।
2. पाठक वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 542।
3. देखिये, मजूमदार अ०कु०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 129-30;
   —पाठक वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 542, पाद टिप्पणी 1।

अत्याचारी प्रवृत्ति का था जिसके पीछे उसके धार्मिक विश्वास नहीं वल्कि राज-नीतिक और व्यक्तिगत महत्वाकांक्षायें रही होंगी।

मुसलमानों की दृष्टि में जयसिंह, सिद्धराज और कुमारपाल

जयसिंह सिद्धराज की धार्मिक सहिष्णुता में तो उसकी सारी हिन्दू और जैन प्रजा को तो विश्वास था ही, मुसलमानों का भी उसमें अटूट विश्वास दिखाई देता है। प्रमाणस्वरूप हम यहां मुहम्मद औफी का एक उद्धरण प्रायः उसी के शब्दों में देंगे। वह अपने ग्रन्थ **जामीउलहिकायात**[1] में लिखता है—'**उसने कभी ऐसी कोई कहानी नहीं सुनी जिसकी जिससे तुलना की जा सके।**' एक वार वह कम्बा-यात (कैम्वे) गया था। यह नगर समुद्रतट पर था। इसमें धार्मिक, ईमानदार और पुण्यवान् सुन्नी रहते थे। यह नगर गुजरात और नाहरवाला के सरदारों का था। इसमें वहुत से अग्निपूजक और मुसलमान रहते थे। जयसिंह राजा के समय में यहां एक मस्जिद थी, जिसपर एक ऊंची मीनार थी। इस पर से अजान दी थी। अग्निपूजकों ने काफिरों को मुसलमानों पर आक्रमण करने के लिए उत्तेजित किया। मीनार नष्ट कर दी गई। मस्जिद जला दी गई और ८0 मुसलमान मार डाले गये।

कोई एक मुसलमान जो खुतवा पढ़ने का काम करता था, और जिसका नाम खातिव अली था, भागकर नाहरवाला चला गया। राय के किसी दरवारी ने न उसपर कोई ध्यान दिया और न उसकी कोई सहायता की, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को केवल अपने धर्म को मानने वाले की चिन्ता थी। जव यह मालूम हुआ कि राय शिकार को जा रहा है तो खातिव जंगल में एक वृक्ष के नीचे छिपकर वैठ गया और वहां राय के आगमन की प्रतीक्षा करता रहा। जव राय वहां पहुंचा तो खातिव अली ने खड़े होकर प्रार्थना की कि हाथी ठहरा कर उसकी शिकायत सुनी जाय। तव खातिव ने राय के हाथ में एक कसीदा रख दिया जो उसने हिन्दी छन्द में वनाया था और जिसमें सारा मामला था उस रात को राय ऊंट पर सवार होकर नाहरवाला से कम्वायत की ओर रवाना हुआ और एक रात और दिन में उसने 40 परसंग की दूरी तय कर ली। एक व्यापारी का वेश धारण करके वह थोड़े-थोड़े समय तक वाजार के विभिन्न भागों में ठहरा और खातिव अली की शिकायत के सम्वन्ध में पूछताछ की, तव उसको ज्ञात हुआ कि मुसलमान

1. इलियट, डाउसन, जिल्द 2, हिन्दी अनुवाद पृ० 120 और आगे।

सताये और मारे गये थे और ऐसे अत्याचार का कोई कारण नहीं था। सारी घटना का पता लगाकर जयसिंह ने अपने दरबार में उपस्थित होकर कहा 'मैं स्वयं कम्बायत गया था और सत्य की खोज की थी तो मुझे विदित हुआ था कि मुसलमानों पर अत्याचार और क्रूरता हुई है। यह मेरा कर्त्तव्य है कि सारी प्रजा की इस प्रकार रक्षा की जाय कि सब शान्तिपूर्वक रहें। फिर उसने आदेश दिया कि काफिरों, ब्राह्मणों, अग्निपूजकों और अन्य लोगों के दो-दो मुखियाओं को दण्ड दिया जाय। उसने मस्जिद और मीनार का पुनर्निर्माण करने के लिए मुसलमानों को एक लाख बालोतरा प्रदान किए। मस्जिद और मीनार कुछ वर्ष पहले तक खड़े थे[1]।

जयसिंह का मुसलमानों की मस्जिद का यह संरक्षण, उनकी धार्मिक भावनाओं का आदर और दोषी हिन्दुओं को दण्ड देना एक बेजोड़ मिसाल है। जिसकी प्रशंसा करते हुए मुसलमानी लेखक भी नहीं थकता। उसकी विशेष रूप से प्रशंसा इसलिए भी की जायेगी कि वह मुसलमान आक्रामकों द्वारा हिन्दुओं के अनेकानेक मन्दिरों के नष्ट किये जाने का इतिहास अवश्य जानता रहा होगा, तथापि उसकी धार्मिक सहिष्णुता और समता की बुद्धि जरा-सी भी विचलित नहीं हुई। यह उसके लिए विशेष प्रशंसा की बात थी और इस परिप्रेक्ष्य में अपने राज्य के हिन्दू और जैन प्रजा के प्रति उसकी समान दृष्टि तथा उनके देवी-देवताओं का समान रूप से आदर एवं सभी सम्प्रदाय के विद्वानों का समान रूप से संरक्षण बड़ी आसानी से समझी जा सकती है।

मुहम्मद औफी कुमारपाल की न्यायप्रियता का भी उदाहरण देते हुए उसकी प्रशंसा करता है[2]। इस गुण के लिये वह कुमारपाल का भी विशेष रूप से उल्लेख करता है। वह कहता है निम्नलिखित कहानी भारत के लोगों के विषय में बड़ी रोचक है। नाहरवाल में गुरुपाल (कुमारपाल) नामक एक राय था। अपने सद्गुणों और मृदुल स्वभाव के कारण वह सबसे अच्छा माना जाता था। गद्दी पर बैठने से पूर्व उसने अपने दिन भीख मांग विताये थे। उस समय उसने भाग्य के अनेक उतार-चढ़ाव देखे थे। उसने भाग्य की मुस्कान और विकट भृकुटी भी देखी थी और यात्रा के अनेक कष्ट सहे थे। जब शासन शक्ति उसके हाथ में आई तो शासक के कर्त्तव्यों को समझ कर उसने इसका उपयोग किया। उसने अपने विपत्ति के दिन याद रख कर अपनी प्रजा के प्रति न्याय किया और उसकी रक्षा की। उसने न्यायपूर्वक निष्पक्ष शासन किया[3]।

---

1. इलियट डाउसन, जिल्द 2, पृष्ठ 120-21।
2. वही, पृ० 122-23।
3. वही, पृष्ठ 124-25।

कुमारपाल की न्यायप्रियता का उदाहरण देते हुए वह मुसलमानी लेखक बतलाता है कि एक बार कुमारपाल से स्वयं यह अपराध हो गया कि उसने पर-स्त्री पर अपनी कामुक दृष्टि डाल दी। किन्तु शीघ्र ही उसे अपनी पाप भावना समझ में आ गई। ब्राह्मणों से उसने जब इस प्रकार के दोष का दण्ड पूछा तो उन्होंने अग्नि में जल मरना ही उसका प्रायश्चित बतलाया। राजा ने लकड़ी मंगायी और चिता जलवा दी जब उसकी ज्वालायें उड़ने लगीं तो राय उसमें प्रवेश करने को तैयार हो गया। परन्तु ब्राह्मणों ने उसको रोका और कहा प्रायश्चित पूर्ण हो गया, क्योंकि पाप मन से हुआ था, शरीर से नहीं। निर्दोष को दोषी के लिए दण्ड नहीं देना चाहिए। यदि आपके शरीर ने पाप किया होता तो उसको भी जलाना आवश्यक था। आपका मन तो अग्नि से शुद्ध हो चुका है। तब ब्राह्मणों ने राय को चिता से हटा दिया और राय ने ईश्वर को धन्यवाद देकर एक लाख बालोतरों का दान किया और अन्य दान भी किया।

काफिर भी यदि न्यायप्रिय हो तो उसका देश सुखी रहता है[1]।

मुहम्मद औफी के इस उद्धरण से कुमारपाल के इतिहास, उसकी न्याय-प्रियता और उसके शासन में ब्राह्मणों के प्रमुख स्थान जैसी कई बातों पर एक साथ प्रकाश पड़ता है। इस कथन की सत्यता इस बात से प्रमाणित है कि औफी कुमारपाल के बचपन की अथवा राजा होने के पूर्व की जिन विपक्षियों का उल्लेख करता है वे सारी की सारी जैन ग्रन्थों से प्रमाणित होती हैं। इससे यह भी ज्ञात होता है कि उसके समय मंत्री और न्यायाधीश के पद ब्राह्मणों के हाथ में होते थे और राजा उनके निर्णयों को आदरपूर्वक स्वीकार करता था। इन पदों पर परम्परागत रूप से ब्राह्मण ही रहते थे और यदि हेमचन्द्र जैसे जैनों का अत्यधिक प्रभाव उसपर मान लिया जाय तो भी ब्राह्मण और ब्राह्मण धर्म मतावलम्बियों के प्रति उसके आकर्षण और सद्व्यवहार में कोई कमी नहीं दिखाई देती।

चाहमान राजाओं की धार्मिक नीति

विभिन्न चाहमान शासकों ने अपने अभिलेखों में अपनी व्यक्तिगत निष्ठा जिस धर्म के प्रति दिखाई, वह हिन्दू धर्म था। उसमें भी विशेष रूप से वे शिव के भक्त दिखाई देते हैं। किन्तु उन्होंने भारतवर्ष के अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति प्रत्येक प्रकार की सहिष्णुता का परिचय दिया। प्रथम पृथ्वीराज के सम्बन्ध में पृथ्वीराज विजय की सूचना है कि उसने पुष्कर तीर्थ में ब्राह्मणों को लूटने वाले सात सौ चालुक्यों का वध किया। ये चालुक्य सैनिक भी शैव ही प्रतीत होते हैं, जिनके स्वामी कर्णदेव (1064-1094) और जयसिंह सिद्धराज (1094-1143) भी

---

1. वही, पृ० 124-25।

शैव ही थे। अतः चालुक्य सैनिकों के इस धावे को एक शुद्ध सैनिक धावा ही मानना चाहिए। उसका गुजरात में बसे हुए जैनों से कोई सम्बन्ध नहीं था। बारहवीं शताब्दी में लिखे गये कुछ जैन ग्रन्थों के आधार पर डा० दशरथ शर्मा ने यह सूचना दी है[1] कि प्रथम पृथ्वीराज ने रणयम्भोर के जैन मन्दिरों के ऊपर कनक कलशों की स्थापना की। इसी प्रकार अजयराज से लेकर पृथ्वीराज तृतीय तक मात्रअर्णो राज को छोड़ कर सभी राजे शैव थे। किन्तु अपने क्षेत्र में बसे हुए जैनों के प्रति उनका व्यवहार सदा सहायक और सहिष्णुतापूर्ण बना रहा। प्रभावक चरित तथा द्वाश्रयकाव्य से यह ज्ञात होता है कि अर्णोराज ने वैष्णव होते हुए भी अपनी पुत्री जल्हणादेवी का विवाह कुमारपाल से कर दिया, जिसे जैन ग्रन्थ जैन धर्म में उन्मुख बतलाते हैं[2]। रविप्रभाचार्य अपने ग्रन्थ धर्मघोषसूरिस्तुति में विग्रहराज चतुर्थ के बारे में कहता है कि उसने अजमेर के एक जैन मन्दिर में ध्वज-स्तम्भ लगाया, जिसमें मालवा के किसी राजा ने उसका मदद की थी[3]। सोमेश्वर के बिजोलिया अभिलेख का लेखकएक प्रसिद्ध जैन विद्वान् था। सोमेश्वर स्वयं अण्हिलवाड़ के राजदरबार में पला था, जो जयसिंह सिद्धराज और कुमारपाल के समय प्रसिद्ध जैन विद्वानों का गढ़ था। तृतीय पृथ्वीराज के समय राजदरबार में विभिन्न धर्मावलम्बियों के शास्त्रार्थ हुआ करते थे, जिनकी अध्यक्षता के लिए उसका पद्मनाभ नामक एक मंत्री ही नियुक्त था[4]। उसने स्वयं जिनपतिसूरि और पद्मप्रभसूरि नामक जैन विद्वानों के बीच होने वाले शास्त्रार्थ में अध्यक्षता की थीऔर पद्मप्रभ के विजयी होने पर उसे पुरस्कृत किया था[5]।

उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट है कि चाहमान राजा अपने क्षेत्र में रहने वाले जैन विद्वानों की धार्मिक संस्थाओं को पूर्ण संरक्षण देते थे और उनके सांस्कृतिक और बौद्धिक विकास को हर प्रकार का बढ़ावा देते थे। पद्मप्रभसूरि को पृथ्वीराज ने जो आदर प्रदान किया, उसकी तुलना हर्ष द्वारा कन्नौज की धर्म सभा में विजयी होने पर हाथी पर बैठा कर श्वान्-च्वांग के जुलूस निकलने[6] अथवा सिद्ध हेमचन्द्र नामक व्याकरण के लिखने पर उसी प्रकार जयसिंह सिद्धराज

---

1. शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डाइनेस्टी, पृ० 38, नोट 37।
2. प्रभावकचरित, 22 वां, 419-22;
   —द्वाश्रयकाव्य, 19 वां, 21-24।
3. पाठक वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 468।
4. पृ०वि, 12 वां, 58।
5. पाठक वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृष्ठ 489।
6. त्रिपाठी, रा०शं०, हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृ० 156-57।

द्वारा हेमचन्द्र को भी हाथी पर वैठाकर राजधानी के राजमार्गो पर घुमाने जैसी घटनाओं से की जा सकती है।

चाहमान दृष्टि में मुसलमान

पीछे हम कन्नौज के प्रतीहार शासकों की मुसलमानों के प्रति धार्मिक नीति का विवेचन कर चुके हैं[1]। मुसलमानों की जो समस्या प्रतीहारों के सामने थी प्रायः उसी तरह की समस्या, कई अर्थो में उससे गम्भीर भी, चाहमानों के सामने भी थी। महमूद गजनवी ने उत्तरी भारत वर्ष के अनेक स्थानों को लूटने और ध्वस्त करने के वाद लाहौर में अपने वंशजों के लिए एक मुसलमानी राज्य की स्थापना कर दी थी। लाहौर के यमीनी तुर्को ने मुहम्मद गोरी द्वारा भारतवर्ष में मुसलमानी सत्ता की स्थायी स्थापना के पूर्व भी उत्तर भारतवर्ष के अनेक स्थानों पर सैनिक आक्रमण किये। इन आक्रमणों की समस्या गाहडवाल साम्राज्य के वनारस जैसे स्थानों तक थी[2]। गाहडवालों की प्रतिक्रिया उनके प्रति क्या रही, इसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है[3]।

चाहमान सत्ता के सम्मुख मुसलमानी आक्रमणों की समस्या विशेष रूप से रही। इसके दो प्रमुख कारण थे। प्रथमतः, चाहमानों के शाकम्भरी और अजमेर वाले क्षेत्र लाहौर के यमीनी तुर्को वाले क्षेत्रों से अत्यन्त नजदीक पड़ते थे। दूसरे, विग्रहराज चतुर्थ ने जव दिल्ली की विजय कर ली तो चाहमान राज्य की सीमायें लाहौर के तुर्क राज्य को छूने लगीं और तुर्को के आक्रमणों से आर्यभूमि की रक्षा की समस्या सीधे-सीधे चाहमानों के कन्धों पर आ पड़ी।

चाहमान तुर्क संघर्षो के विशेष व्यौरों की यहाँ आवश्यकता नहीं है। तथापि संक्षेप में उनकी चर्चा इस नाते करनी आवश्यक है कि उससे चाहमानों के सामने उपस्थिति समस्या का पता लग सके। मुसलमानों के आक्रमण का सवसे पहला उदाहरण सिंहराज के समय का मिलता है। हम्मीरमहाकाव्य[4] और प्रवन्धकोश[5] की सूचना है कि सिंहराज ने हेतिम अथवा हेजिमुद्दीन नामक किसी मुसलमान सेनापति को जेठन नामक स्थान पर हरा कर मार डाला। फिरिश्ता[6] कहता है कि 1024-25 के अपने सोमनाथ के आक्रमण के समय महमूद गजनवी अपना

1. देखिये, पीछे, पृ०, 78-79।
2. देखिये, पाठक, वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 370।
3. देखिये, पीछे, पृ०, 85-86।
4. हम्मीरमहाकाव्य, प्रथम, 102।
5. सिंघी जैन ग्रन्थमाला प्रकाशन, पृ० 133।
6. ब्रिग्स, प्रथम, पृ० 69।

मार्ग मारवाड़ से सिंध की ओर इस नाते बदल देने के लिए विवश हुआ कि अजमेर के राजा ने गुजरात के राजा भीम के साथ मिल कर उसका मार्गविरोध कर रखा था।

राजशेखर अपने प्रबन्धकोश[1] में पृथ्वीराज प्रथम को इस बात का श्रेय देता है कि इसने बगुलीशाह नामक किसी तुर्क आक्रमणकारी को पीछे ढकेल दिया। अजयराज के समय बहलीमशाह ने नागौर पर अधिकार कर लिया था। राजशेखर के प्रबन्धकोश में चर्चा है कि अजयदेव ने सहाबदीन सुल्तान (शिहाबुद्दीन सुल्तान) को हराया[2]। जयानक भट्ट अपने पृथ्वीराज विजय में चाहमानों के अजमेर और पुष्कर वाले क्षेत्रों पर अजयराज के समय से आगे बार-बार तुर्क मुसलमानों के आक्रमणों का उल्लेख करता है[3]। जयानक इन आक्रान्ताओं को 'गजनमातंग,' 'मातंग' अथवा 'म्लेच्छ' कहता है और आक्रमण के जोश में उनको पागल हुआ (मत्तान्) बतलाता है[4]। अर्णोराज के समय होने वाले इन तुर्क आक्रमणों की वह विशद् चर्चा करता है[5]। मुसलमानों की सबसे बड़ी समस्या चाहमानों के सामने उस समय उपस्थित हुई जब विग्रहराज चतुर्थ ने दिल्ली के तोमरों को पराजित करके अपनी राज्य की सीमायें वहां तक बढ़ा लीं। उसने हांसी और मेरठ के आस-पास के क्षेत्र सम्भवत: मुसलमानों से ही जीते[6]। इसका परिणाम यह हुआ कि अब तक लाहौर के यमीनी तुर्कों के जो आक्रकण सीधे गाहडवाल क्षेत्रों पर होते थे उनका सामना अब चाहमानों को करना पड़ा। भविष्य में पृथ्वीराज तृतीय के समय तक चाहमानों के सामने मुसलमानों की समस्या स्थायी रूप से बनी रही। जिसकी चर्चायें सोमदेव विरचित ललितविग्रहराज नाटक, अजमेर संग्रहालय से प्राप्त **चौहान प्रशस्ति**, जयानक भट्ट कृत **पृथ्वीराजविजय**, नयचन्द्र के **हम्मीरमहाकाव्य**, राजशेखर के **प्रबन्धकोश** तथा चन्दवरदायी के **पृथ्वीराजरासो**, नामक ग्रन्थों में भरी हैं।

तुर्क आक्रमण भारतीय संस्कृति की चुनौती

उपर्युक्त ग्रन्थों तुर्क आक्रमणों के विवरणों को यदि अभिलेखीय साक्ष्यों से

---

1. प्र० को०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 133।
2. पाठक वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 455।
3. वही, पृ० 455 और आगे।
4. अत्यन्त गजनान मत्तान मातंगान्जयतरणे।
   (पृथ्वीराज विजय, पंचम, 142)
5. पाठक वि, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 457-58।
6. बिजोलिया अभिलेख, पाठक वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 466-68।

मिला कर देखा जाय तो यह प्रतीत होगा कि ये आक्रमण केवल राजनैतिक अथवा सैनिक चुनौती मात्र नहीं थे, अपितु ये सांस्कृतिक चुनौती के रूप में देखे गये। दिल्ली शिवालिक अभिलेख[1] यह कहता है कि विग्रहराज चतुर्थ ने, म्लेच्छों को बार-बार पराजित करके आर्यावर्त्त देश को सचमुच आर्यों के निवास के उपयुक्त बना दिया। बड़ा स्पष्ट है कि चाहमान शासकों ने मुसलमान आक्रमणों को आर्य-धर्म और संस्कृति के विरुद्ध हिन्दुत्व की जड़ पर प्रहार करने वाली एक समस्या के रूप में देखा। वे 'म्लेच्छ' और 'राक्षस' कहे गये हैं। जिसका सबसे बड़ा निदर्शन जयानक भट्ट अपने पृथ्वीराज विजय महाकाव्य में करता है।

वह मुहम्मद शिहाबुद्दीन की भारतीय आक्रमण की समस्या का चित्र खींचते हुए पृथ्वीराज को रघुकुल में उत्पन्न राम (विष्णु के अवतार) के रूप में उपस्थित करता है, पृथ्वीराज को कदम्बवास और भुवनेकमल्ल को हनुमान और गरुड़ के रूप में उपस्थित करता है, और मुहम्मद शिहाबुद्दीन गौरी को 'म्लेच्छ' अथवा राक्षस रावण के रूप में उपस्थित करता है[2]। इसी प्रकार सोमदेव भी अपने नाटक ललितविग्रहराज में तुर्क आक्रान्ताओं को 'म्लेच्छ' शब्द से अभिहित करता है। किन्तु चाहमानों ने मुसलमानों को 'म्लेच्छ' अथवा 'राक्षस' कहकर उनकी जाति के प्रति किसी प्रकार की धार्मिक निन्दा और छोटेपन का परिचय नहीं दिया। इस सम्बन्ध में कुछ पीछे के इतिहास की ओर दृष्टि ले जानी चाहिए। भारतीय साहित्य में 'यवन,' म्लेच्छ' अथवा 'राक्षस' जैसे शब्द उन प्रवृत्तियों को प्रकट करने के लिए रूढ रूप में प्रयुक्त किये गये जो भारतीय संस्कृति के सामने चुनौती, संहार और विरोध के रूप में उपस्थित हुई थीं। इस सांस्कृतिक ह्रास को पुराणों ने कलियुग की संज्ञा दी जिसके दोषों के विवरण उनमें भरे पड़े हैं[3]।

यशोधर्मा का मन्दसौर अभिलेख मिहिरकुल को अथवा अन्य हूणों को 'म्लेच्छ' कहता है[4]। अतः जब जयानक भट्ट मुहम्मद गौरी की तुलना रावण से करता है अथवा राम को पृथ्वीराज के रूप में देखता है तो वह आर्य संस्कृति के विरुद्ध तुर्क संस्कृति को उस विभीषिका, राक्षस अथवा कलियुग के रूप में देखता है जिसके अन्त के लिए विष्णु के अवतार के रूप में किसी अवतारी पुरुष की

---

1. इ० ए०, जिल्द 19, पृ० 215।
2. देखिये पाठक, विश्वम्भरशरण, ऐंशियंट हिस्टोरियन्स आफ इंडिया, पृ० 108-109 और 131, 135।
3. उदाहरण के लिए देखिये, वायु०, अध्याय 58, 99;
   —मत्स्य० अध्याय 144; विष्णु० भाग 4, अध्याय 1, 2;
   —भागवत, स्कन्ध 12 वां, अध्याय 2 आदि।
4. देखिये, पाठक, विश्वम्भरशरण, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 108।

आवश्यकता थी सारे **पृथ्वीराजविजय** की कल्पना पुष्कर तीर्थ की ब्राह्मण संस्कृति को नष्ट करने वाले राक्षस अथवा म्लेच्छों के दमन के लिए, शिव द्वारा विष्णु को उन्हें नष्ट करने के लिए विष्णु को अवतरित होने की आज्ञा के रूपक स्वरूप ही हुई है[1]। यहां गाहडवाल शासक गोविन्दचन्द्र की रानी कुमारदेवी के अतेथिक सारनाथ अभिलेख की वह युक्ति तुलना के लिए दी जाती है, जिसमें कहा गया है कि उत्तमनगर वाराणसी की रक्षा के लिए ही गोविन्दचन्द्र विष्णु के रूप में शिव की आज्ञा से अवतरित हुआ था[2]।

वड़ा स्पस्ट है कि गुर्जर प्रतीहारों के समय से लेकर चाहमानों तक अरब, तुर्क अथवा अफगान मुसलमान आक्रमणों की समस्या देश के हिन्दू राजाओं के सामने एक सांस्कृतिक समस्या थी। मुसलमान आक्रमणकारियों के द्वारा इस देश में जो मंदिरों के नाश हुए, मूर्तियां तोड़ी गयीं, उनके धन लूटे गये, रास्ते में पड़ने वाले आवाल-वृद्ध सभी लोग मार डाले गये, धार्मिक स्थान अपवित्र किये गये और लोग जबरदस्ती मुसलमान बना डाले गये, ये सब कुछ हिन्दू समाज और धर्म को आमूल चूक झकझोर देने वाली एक विपत्ति थी। अतः यदि चाहवान अथवा अन्य राजपूत वंशों ने मुसलकानों को पीछे के वर्णित रूप में देखा तो इसमें कोई आश्चर्य की वात नहीं। राजनीति और धर्मशास्त्र के सारे सिद्धान्त उन्हें देश में स्थापित समाज और संस्कृति रक्षक के रूप में देखते थे और इस समाज तथा संस्कृति में हिन्दू, वौद्ध तथा जैन सभी शामिल थे। आक्रामक संस्कृति की चुनौती सबके सामने समान रूप से थी। किन्तु चाहवानों अथवा अन्य राज्यवंशों ने मुसलमानों का मुसलमान होने के नाते कभी संहार किया, उनके धार्मिक स्थानों को लूटा अथवा उन पर कोई अत्याचार किया, इसका कोई भी उदाहरण नहीं मिलता।

1. वही।
2. वाराणसी भुवनरक्षणदक्षएको दुष्टात्तुरुष्कसुभटादवितं हरेण।
उक्तोहरिः स पुनरत्र वभूव तस्मात् गोविन्दचन्द्र इति प्रथिताभिधानः॥
ए० इ० जिल्द 9, पृ० 324, श्लोक 16।

अध्याय—8

कश्मीर के राजाओं की धार्मिक नीति

ज्ञानस्रोत : राजतरंगिणी

भारतीय इतिहास की क्रमबद्ध जानकारी देने वाले ग्रन्थों में कल्हण की राजतरंगिणी का प्रमुख स्थान है। परन्तु इससे केवल कश्मीर के क्रमबद्ध इतिहास की ही विशेष रूप से जानकारी होती है। यह ग्रन्थ अन्य भारतीय इतिहास की जानकारी प्रदान करने वाले काव्यों अथवा प्रशस्तियों की तुलना में बड़ा ही विस्मयकारी और आधुनिक इतिहास लेखन की पद्धति का पूर्व रूप प्रस्तुत करता है। कल्हण ने अपने इस ग्रन्थ में विषय का उत्तम प्रकार से निरूपण करके ऐतिहासिक स्रोतों को अच्छी तरह जांचा और समझा है। उसने सत्य के अत्यधिक करीब पहुंच कर ही उसे ऐतिहासिक रूप देने का प्रयास किया है। परन्तु ऐसा नहीं है कि वह कट्टर हिन्दू होते हुए भी कहीं भी अन्य धार्मिक सम्प्रदायों के प्रति अपने वर्णन में कसी संकुचित हिन्दू भावना को प्रकट किया हो। यद्यपि वह पुरानी परम्पराओं और मान्यताओं से विमुख नहीं था, फिर भी वह हर स्थल पर उचित अथवा अनुचित कार्यों पर अपना स्पष्ट निर्णय देता है। अगर यत्र-तत्र उसके वर्णनों में क्षेत्रीयता की भावना दिखाई पड़ती है तो वह कोई अप्रत्याशित नहीं है। किन्तु कल्हण के इस भाव का कश्मीर के इतिहास के तथ्यों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। राजतरंगिणी में वर्णित घटनाओं के आधार पर राजाओं के धार्मिक क्रिया-कलापों पर और उनकी धार्मिक नीति प्रस्तुत की जा सकती है।

कश्मीर के राजाओं के व्यक्तिगत धर्म एवं उनके धार्मिक विश्वास

कश्मीर के राजाओं के धर्म के विषय में अध्ययन करने से पता चलता है कि वे सभी के सभी हिन्दू धर्म के अनुयायी थे। कार्कोट वंश का प्रथम शासक दुर्लभ-वर्धन सम्भवतः वैष्णव था, क्योंकि उसके द्वारा विष्णु की प्रतिमा निर्माण कराने का उल्लेख मिलता है[1]। किन्तु उसकी वैश्य पत्नी नरेन्द्रप्रभा द्वारा शिवलिंग स्थापित कराने की चर्चा मिलती है[2]। वंश के एक अन्य प्रमुख शासक चन्द्रापीड को त्रिभुवन स्वामी (विष्णु) के मंदिर बनवाने तथा उसकी प्रार्थना करते हुए दिखाया गया है। चन्द्रापीड को अत्यन्त न्यायप्रिय शासक के रूप में उपस्थित किया गया है जिसका उदाहरण त्रिभुवन स्वामी के मंदिर निर्माण कराते समय उसके द्वारा किये गये निर्णय से होता है। **राजतरंगिणी**[3] में कल्हण ने उस घटना का वर्णन करते हुए कहा है कि जब चन्द्रापीड त्रिभुवन स्वामी के मंदिर का निर्माण करा रहा था तो उस मंदिर की ही परिधि में एक पादुकाकार (चमार) की झोपड़ी पड़ती थी। झोपड़ी को बिना हटाये मंदिर निर्माण असम्भव था और पादुकाकार अपनी झोपड़ी छोड़ने को तैयार नहीं था। अतः राजकर्मचारियों ने राजा से शिकायत की। न्यायप्रिय राजा ने अपने कर्मचारियों को ही दोषी ठहराया। राजा ने कहा—उस चर्मकार की अनुमति लिए बिना तुम लोगों ने काम ही क्यों लगाया? तुम सब लोग विचार शून्य हो, तुम्हें धिक्कार है। अब या तो मंदिर निर्माण का काम बन्द कर दो अथवा किसी दूसरी जगह वह काम करो, परायी जमीन छीन कर अपने यश को कौन कलंकित करेगा। धर्म और अधर्म की विवेचन करने वाले हम ही लोग अधर्म करने लगेंगे तो न्याय के पथ पर कौन चलेगा? अन्त में चर्मकार के कहने पर राजा ने उसकी झोपड़ी लेने हेतु उससे स्वयं निवेदन किया तथा उसकी झोपड़ी खरीद कर त्रिभुवन स्वामी का मंदिर बनवा कर उसमें विष्णु भगवान् की मूर्ति की स्थापना करायी[4]। राजा चन्द्रापीड के गुरु मिहिरदत्त द्वारा भी विश्वम्भर विष्णु भगवान् की मूर्ति स्थापित कराने का उल्लेख मिलता है[5]।

चन्द्रापीड की न्यायप्रियता के साथ-साथ विष्णु के प्रति उसके विशेष लगाव को प्रमाणित करने वाली एक दूसरी सूचना भी **राजतरंगिणी**[6] से मिलती है जिसमें

1. राजतरंगिणी, चतुर्थ, श्लोक 5, 6।
2. वही, श्लोक 12।
3. वही, श्लोक 55 और आगे।
4. राजतरंगिणी, चतुर्थ, श्लोक 55-80।
5. वही,।
6. वही, श्लोक 90-105।

कहा गया है कि किसी ब्राह्मणी ने अपने पति की हत्या के लिये दोषी ब्राह्मण को दण्डित करने का उससे आग्रह किया। इस पर मजबूर होकर चन्द्रापीड को सही अपराधी का पता लगाने के लिए विष्णु भगवान् के समक्ष अनशन करना पड़ा। भगवान् ने प्रसन्न होकर उसे दर्शन दिया तथा अपराधी का पता लगाने हेतु मार्ग बताया। चन्द्रापीड भगवान् के बताये मार्ग का अनुसरण करते हुए ब्राह्मण को दोषी पाया, परन्तु ब्राह्मण होने के कारण उसे प्राणदण्ड नहीं दिया।

तारापीड के धार्मिक क्रिया-कलापों के बारे में कोई विशेष सूचना नहीं मिलती। परन्तु इतना कहा गया है कि वह ब्राह्मणों का दमन करने वाला अर्थात् ब्राह्मण विरोधी था[1]। ललितादित्य मुक्तापीड द्वारा हिन्दू धर्म से सम्बन्धित अनेक देवताओं के मंदिर तथा मूर्ति स्थापित कराने के वर्णन मिलते हैं। दिग्विजय करके लौटते समय ललितादित्य ने केशवदेव की मूर्ति की स्थापना करायी[2]। स्त्री राज्य में उसने नृसिंह भगवान् की ऐसी मूर्ति स्थापित की जिसके ऊपर तथा नीचे चुम्बक लगे रहने के कारण मूर्ति निराधार टिकी रहती थी[3]। ललितादित्य द्वारा आदित्य भगवान् की प्रतिमा स्थापित कराने तथा उसकी पूजा आदि के निमित्त ग्राम आदि दान देने की चर्चा मिलती है[4]। भगवान् शंकर के सामने अपने पापों के नाश हेतु उसके द्वारा प्रायश्चित करने का भी वर्णन मिलता है। कहा गया है कि दिग्विजय के समय ललितादित्य के पास मात्र एक करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ थीं, किन्तु जब वह लौटा तो ग्यारह करोड़ मुद्राएँ शंकर भगवान् को अर्पित करके प्रायश्चित किया[5] तथा वहाँ ज्येष्ठेश्वर रुद्र का पाषाण मंदिर बनवाकर उसका खर्च चलाने के लिए बहुतेरे ग्राम प्रदान किए[6]। इसके अतिरिक्त ललितादित्यमुक्तापीड द्वारा अनेक प्रकार के धार्मिक निर्माण कार्यों की सूचनायें मिलती हैं।

राजतरंगिणी[6] से सूचना मिलती है कि ललितादित्यमुक्तापीड ने भगवान् बुद्ध की एक अत्यन्त सुन्दर और विशाल मूर्ति को अपने चौरासी हजार प्रस्थ (सेर) कांसे से बनवाया था। उसके मंत्री मित्र शर्मा ने एक शिवमूर्ति स्थापित करायी[7]

---

1. राजतरंगिणी, चतुर्थ, श्लोक, 122।
2. वही, श्लोक 183।
3. वही, श्लोक 185।
4. वही, श्लोक 187।
5. वही, श्लोक 189।
6. वही, श्लोक 190।
7. राजतरंगिणी, चतुर्थ, श्लोक 203।
8. वही, श्लोक 209।

तथा दूसरे मंत्री चिकुण ने एक ऊँचे स्तूप का निर्माण कराकर उसमें जिन् भगवान् की अनेक मूर्तियाँ स्थापित कीं[1]। राजा ललितादित्य की तुरुष्कों के प्रति नीति कठोर थी। कहा गया है कि ललितादित्य की आज्ञा से तुरुष्क लोग बन्धन मुद्रा सूचित करने के लिए अपने दोनों हाथ पीठ पर रखते और आधा सिर मुड़ाये रहते थे[2]। कार्कटिक वंश के अंतिम शासक जयापीड के क्रिया-कलाप विरोधी गुणों के संमित्रण जैसे हैं। प्रारम्भ में वह विद्वानों का महान् आश्रयदाता और धार्मिक दृष्टि का व्यक्ति था। उसने जयपुर में एक विहार का निर्माण कराकर उसमें तीन बुद्ध मूर्तियाँ स्थापित करायीं[3] कहा गया है कि कंसनिषूदन भगवान् की आज्ञा से उसने दूसरी द्वारिकापुरी का निर्माण कराया[4]। परन्तु वही राजा अन्त में ब्राह्मणों का महान् शत्रु हो गया और ब्राह्मणों को सताना शुरू कर दिया। कहा गया है कि बहुतेरे ब्राह्मण उससे त्रस्त होकर परदेश चले गये और बहुत से उसके अत्याचार से व्याकुल होकर हाहाकार करते हुए मर गये[5]।

राजतरंगिणी से सूचना मिलती है कि जयापीड ने ब्राह्मणों का अपमान कराया और उसके राजसेवकों ने उन्हें थप्पड़ों से मारा। ब्राह्मणों को अग्रहार में मिली हुई भूमि उसने छीन ली। ब्राह्मणों को दी जाने वाली इस चुनौती के कारण ही उसे अन्त में उनका कोपभाजन बनना पड़ा और उन्हीं के कारण ही उसकी मृत्यु भी हुई[6]।

कार्कटिक वंश के पतन के बाद उत्पलवंश के राजा कश्मीर के शासक हुए। उस वंश के शासक अवन्तिवर्मा द्वारा ब्राह्मणों को दान देने की चर्चा मिलती है[7]। **राजतरंगिणी** में कहा गया है कि वह वैष्णव होते हुए भी ऊपर से अपने को शैव कहा करता था[8]। अवन्तिवर्मा के भाइयों द्वारा चतुरात्मा विष्णु भगवान् की मूर्ति स्थापित कराने के उल्लेख मिलते हैं[9]। अवन्तिवर्मा के मंत्री प्रभाकर ने भी अपने नाम पर एक विष्णु मंदिर का निर्माण कराया[10], साथ ही उसने शूरेश्वरी क्षेत्र में

---

1. वही, श्लोक 211।
2. वही, श्लोक 179।
3. वही, श्लोक, 507।
4. वही, श्लोक, 510।
5. वही, श्लोक, 632।
6. राजतरंगिणी, चतुर्थ, श्लोक 655।
7. वही, पंचम, श्लोक 16।
8. वही, श्लोक 43।
9. वही, श्लोक 25।
10. वही, श्लोक 30।

अर्द्धनारीनटेश्वर का एक बड़ा मजबूत प्रासाद बनवाया[1]। शूर के पुत्र रत्नवर्धन ने शूरेश्वरी के प्रांगण में भूतेश्वर शिव को स्थापित किया[2]।

राजा अवन्तिवर्मा बड़ा ही धार्मिक व्यक्ति था। वह धर्म के मामलों में किसी को किसी तरह की बाधा पहुंचाने वालों को दण्डित करने पर ही संतोष लेता था। राजतरंगिणी[3] में एक इस तरह की चर्चा है, जिसमें कहा गया है कि एक बार राजा भगवान् भूतेश्वर की पूजा करने गया था। वहां पर उसे भूतेश्वर का भोग लगाने के लिए रखा हुआ साग दिखायी दिया। राजा ने पुजारियों से उसका कारण पूछा। पुजारियों ने उत्तर दिया—महाराज लोहर प्रान्त में राजमंत्री शूर के पुत्र का सेवक धन्व नाम का डामर रहता है। उसने अपने घृणित कार्यों से सारे मंदिरों को प्राप्त गांव छीन लिए हैं। धन के अभाव में भगवान् भूतेश को सांग के अतिरिक्त कुछ उपलब्ध नहीं हो पाता। ऐसा सुनकर राजा अत्यन्त क्रोधित हुआ और अनमना होकर वहां से चला गया। राजा के इस भाव-परिवर्तन को देखकर मंत्री शूर को चिन्ता हुई और उसने उन कारणों का पता लगाया जिसके कारण राजा पूजा विधि अपूर्ण छोड़कर ही चला गया था। राजमंत्री शूर को जब धन्व डामर के दुष्कर्म का पता चला तो उस स्वामी भक्त सेवक ने अपने स्वामी को शान्ति प्रदान करने हेतु डामर का सिर कटवा लिया। और राजा को ले जाकर भगवान् की अवशिष्ट पूजा पूर्ण करायी।

राजतरंगिणी[4] में वर्णन है कि जिस तरह राजा मेघवाहन के समय में प्राणिहिंसा बन्द थी उसी तरह राजा अवन्तिवर्मा के समय में भी हिंसा बन्द थी। कहा गया है कि धार्मिक आचरण का प्रदर्शन करते हुए राजा अवन्तिवर्मा ने कलियुग में भी सतयुग की झांकी दिखाते हुए महाराज मान्धाता के समान प्रजा का पालन किया[5] तथा अन्त में त्रिपुरेश्वर पर्वत पर जाकर भगवद्गीता सुनते और वैष्णव धाम का स्मरण करते हुए अपना शरीर त्यागा। अवन्तिवर्मा के क्रिया-कलापों से स्पष्ट होता है कि वह एव महान् धार्मिक व्यक्ति था और वैष्णव धर्म के प्रति उसका अगाध स्नेह था। अपने जीवन के अंतिम क्षण में मुक्तिदायक के रूप में विष्णु का स्मरण करना उसके वैष्णव होने का उदाहरण है। वैष्णव होते हुए भी वह शैव आदि अन्य सम्प्रदायों के प्रति समान आस्था रखता था। उसके मंत्रियों द्वारा शिव के अनेक मंदिरों का निर्माण कराना उसकी धार्मिक उदारता, सर्व-

---

1. वही, श्लोक 37।
2. वही, श्लोक 40।
3. वही, श्लोक 48-61।
4. वही, श्लोक 119।
5. वही, श्लोक 122।

धर्म में समान श्रद्धा एवं विश्वास का परिचायक है। वह ब्राह्मणों को दान देता और विद्वानों और कवियों को प्रश्रय देता था। अवन्तिवर्मा ब्राह्मण अथवा हिन्दू धर्म का अनुयायी होकर भी जैन और बौद्ध सिद्धान्तों का पालन करता था। यही कारण था कि उसके राज्य में यज्ञ-विधान के मानने वाले ब्राह्मणों का बोलबाला होते हुए भी जीवहिंसा बन्द थी। यह सच है कि वह हृदय से जैन अथवा बौद्ध नहीं था। फिर भी जीवहिंसा पर उसने रोक लगायी। इसका स्पष्ट कारण उसकी सहृदयता और प्राणि मात्र के प्रति दया का होना था। अवन्तिवर्मा के धार्मिक क्रिया-कलाप स्वच्छ आचार और स्वतंत्र विचारों से भरे थे। उसके धार्मिक अनुष्ठान भी कुत्सित भावनाओं एवं राजनीति की कुटिल दृष्टि से बिल्कुल परे थे। सहृदयता, सद्भावना, सर्वधर्म के प्रति अटूट विश्वास उसकी उदार एवं निश्पक्ष धार्मिक नीति का परिचायक है।

उत्पल वंश के दूसरे प्रमुख शासक शंकरवर्मा को हम शंकरगौरीश नाम से शिव की प्रतिष्ठा करते हुए पाते हैं[1]। उसके मंत्री रत्नवर्धन द्वारा सदाशिव की स्थापना करने का उल्लेख है[2]। परन्तु वर्णन मिलता है कि यह राजा आगे चल कर अत्यन्त क्रूरतापूर्वक देव मंदिरों और धार्मिक संस्थाओं का धन लूटने लगा[3]। उसने 64 देवमंदिरों की सम्पत्ति छीन ली और मंदिरों को नाममात्र का गुजारा दिया[4]। उसके समय में विद्वानों का अनादर होने लगा[5]। परन्तु राजा शंकर वर्मा के ये धर्मविरोधी आचरण उसकी धार्मिक उच्छृंखलता अथवा धार्मिक पक्ष-पात के कारण नहीं थे, अपितु उसके अनैतिक जीवन तथा कुत्सित विचार, विलासिता एवं मूर्खता के परिणामस्वरूप थे। हम देखते हैं कि प्रारम्भ में तो वह धार्मिक व्यक्ति था, किन्तु बाद में कायस्थों के बहकावे में आकर धन की बर्बादी करने लगा। दुर्व्यसनी वह इतना हो गया कि खजाना खाली हो गया। अतः धन प्राप्ति के लिए उसे उपर्युक्त उपाय अपनाने पड़े। उसने अपनी जनता पर 'कर' लगाए[6] और धन प्राप्त करने के लिए प्रजा को यातनाएं दीं[7]।

कायस्थ धन बटोरने में तत्पर थे। वे ही राजा को तरह-तरह के गलत

1. वही, श्लोक 158।
2. वही, श्लोक 163।
3. वही, श्लोक 166।
4. वही, श्लोक 169-70।
5. वही, श्लोक 179।
6. वही, श्लोक 168।
7. वही, श्लोक 172-178।

परामर्श देकर धन बटोरने के लिए उकसाते थे और उन्हीं के जाल में फंस कर[1] मूर्ख राजा ने देव मंदिरों को लूटा होगा। वास्तव में शंकरवर्मा व्यक्तिगत रूप से अपनी मूर्खता के कारण ही कायस्थों के दुर्व्यसनों का शिकार हो गया और उनके बहकावे में ही अपने यश को कलंकित कर बैठा। वस्तुतः उसके विचार में कोई धार्मिक अथवा राजनीतिक विरोध नहीं था, जिसके कारण उसने अपनी जनता को सताया, उनके ऊपर तरह-तरह के अत्याचार किए अथवा हिन्दू धर्मानुयायी जनता की धार्मिक भावना को ठेस पहुंचाई। बड़ा स्पष्ट है कि शंकरवर्मा का यह दुराचार उसकी अपरिपक्व बुद्धि और आर्थिक लालच का परिचायक था। प्रारम्भ में उसने शिव की जो मूर्ति स्थापना की उसका कारण उसके द्वारा अपने पूर्वजों की नीति का अनुसरण रहा होगा, परन्तु धर्म के वास्तविक स्वरूप अथवा महत्व से निश्चित रूप से वह अनिभज्ञ था।

शंकरवर्मा के उत्तराधिकारी और सुगन्धा के संरक्षित गोपालवर्मा को परमधर्मात्मा कहा गया है[2]। **राजतरंगिणी**[3] से सूचना मिलती है कि सुगन्धा ने धर्म की वृद्धि के लिए गोपालपुर, गोपालमठ तथा गोपालकेशव मंदिर का निर्माण कराया। उत्पल वंश का अन्तिम राजा उन्मत्तावन्ति (937-939 ई०) हुआ जो अत्यन्त क्रूर, अत्याचारी और महान पापी था। उत्पल वंश के अन्त होने पर यशस्कर से प्रारम्भ होकर एक नया ब्राह्मण राजवंश कश्मीर की राजगद्दी पर बैठा।

राजतरंगिणी[4] से सूचना मिलती है कि यशस्कर ब्राह्मणों को विशेप सम्मान देता था जिसका समर्थन उसके द्वारा की गई ब्राह्मणों की प्रार्थना से होता है। वह ब्राह्मणों के सामने हाथ जोड़कर कहता है—'हे विप्रो ! आपही लोगों ने मुझे राजा बनाया है। अतएव आप मेरे लिए देवता सदृश पूज्ज हैं। किन्तु मुझको यह आशंका है कि मुझे राज देने के अभिमान से मदोन्मत्त होकर आप लोग उच्छृंखल व्यवहार करेंगे। अतएव बिना किसी काम के आप लोग मेरे पास न आइएगा।

राजा यशस्कर अपनी प्रजा से वर्णाश्रम धर्म का पालन कराने के लिए सदा तत्पर रहा करता था। यही कारण था कि उसने एक तपस्वी ब्राह्मण को किसी

1. वही, श्लोक 178।
2 राजतरंगिणी, पंचम, 228।
3. वही, पंचम, 244।
4. वही, पष्ठम, 3-4।

भीषण अपराध के लिए धर्मशास्त्रोक्त विधि के अनुसार दण्ड देने के निमित्त माथे पर कुत्ते का चित्र अंकित कराया। था[1]।

यशस्कर स्वयं ब्राह्मण था और ब्राह्मणों में सहयोग से ही उसने गद्दी प्राप्त की थी। अतः वर्णाश्रम व्यवस्था की रक्षा करना अथवा ब्राह्मणों को महत्व देना उसके लिए कोई विशेष बात नहीं थी।

कश्मीर के दुराचारी राजा पर्वगुप्त का पुत्र क्षेमगुप्त भी दुराचारी ही था। **राजतरंगिणी** की सूचना है कि किसी डामर की हत्या कराने के लिए उसने एवं बौद्ध-विहार तक को जलवा दिया तथा बुद्ध की मूर्ति एवं विहार के जले पत्थर भी निकलवा लिया और उन्हीं पत्थरों से एक मंदिर का निर्माण कराकर उसमें क्षेम-गौरीश्वर की स्थापना की[2]। क्षेमगुप्त के इस धार्मिक दुराचरण के पीछे डामर को दण्डित करने का राजनीतिक अथवा प्रशासनिक कारण प्रतीत होता है न कि धार्मिक कारण। उसके द्वारा विहार में आग लगवाने का एक मात्र कारण किसी तरह डामर को मार डालना था। चूंकि डामर उस विहार में छिपा था और वह वहां से भाग भी सकता था इसी कारण क्षेमगुप्त विहार को ही जलवा दिया। इससे एक बात स्पष्ट होती है कि उसका बौद्ध धर्म से कोई लगाव नहीं था। इसका एकमात्र कारण उस समय बौद्ध-धर्म का कमजोर होना ही था, क्योंकि हम देखते हैं कि क्षेमगुप्त ने विहार के ही पत्थरों से एक देव मंदिर का निर्माण कराकर उसमें हिन्दू देवता शिव की प्रतिष्ठापना की जो उसके हिन्दू धर्म के प्रति लगाव का सूचक है।

दिद्दारानी के द्वारा अनेक देवमंदिरों के निर्माण कराने की सूचना मिलती है। कहा गया है कि उसने 64 मंदिरों का निर्माण करा कर उसमें देवताओं की स्थापना की तथा अनेक मंदिरों एवं मठों का जीर्णोद्धार कराया[3]। परन्तु दिद्दारानी बड़ी ही पतित महिला थी। वह निरंकुश तथा मदोन्मत्त हथिनी की तरह स्वच्छन्द विचरती[4]। इसलिए उसके धर्म के बारे में कुछ भी कहना निरर्थक है।

प्रथम लोहर वंश के राजा अनन्त के बारे में सूचना मिलती है कि वह परम शिव भक्त था। उसने अपने व्रत, स्नान, दान तथा शील आदि गुणों से बड़े-बड़े मुनियों को भी परास्त कर दिया[5]। राजा अनन्त की पत्नी सूर्यमती भी बड़ी

1. रातरंगिणी, षष्ठम, 108, 109, 110।
2. वही, षष्ठम, 171-173।
3. राजतरंगिणी, षष्ठम, 299-307।
4. वही, 315।
5. वही, सप्तम, 201।

धार्मिक प्रवृत्ति की थी[1]। उसने वितस्ता नदी के तट पर शिव की मूर्ति स्थापित करायी तथा उसकी स्थापना के समय प्रचुर मात्रा में ब्राह्मणों को दान दिया। रानी सूर्यमती ने अनेक मठों का निर्माण कराया तथा विद्वानों और ब्राह्मणों को 108 (एक सौ आठ) अग्रहार (ग्राम दान) देकर पुण्य कमाया। कहा गया है कि पुत्र शोक होने पर राजा और रानी दोनों ने हमेशा के लिए शिव मंदिर को ही अपना निवास बना लिया। राजा अनन्त के पुत्र कलश के बारे में सूचना मिलती है कि उसने अनेक शिवालय बनवाये, मंदिरों में पूजा के निमित्त स्थायी खर्च का प्रबन्ध किया तथा शिवालयों के शिखरों पर स्वर्ण कलश स्थापित कराये[2]। राजतरंगिणी में कहा गया है कि राजा कलश शाक्त गुरुओं के साथ बैठकर मद्यपान करता था[3]। फिर भी उसने शिवलिंग तथा अनेक देवमूर्तियों की स्थापना की। परम धार्मिक प्रवृत्तियों का होते हुए भी कलश पितृद्रोही था और उसने अपने अनैतिक कार्यों से अपने माता-पिता को अनेक तरह की मुसीबत सहने के लिए बाध्य कर दिया। उसके अनैतिक कार्यों में सूर्य-प्रतिमा तोड़ने तथा बौद्ध-विहारों में से प्रतिमाएं निकलवा कर तोड़वा डालने का उल्लेख किया जा सकता है[4]। कहा गया है कि जब राजा मरणासन्न हो गया तो उसे यह ज्ञान हुआ कि भगवान मार्तण्ड की प्रतिमा तोड़ने के कारण उसे दुःख भोगना पड़ा। अतः वह शैव[5] होते हुए भी मोक्षदाता शंकर जी को छोड़कर उस समय उसने मार्तण्ड भगवान के चरणों में अपने को डाल दिया तथा अन्तिम समय मार्तण्ड भगवान की प्रतिमा के समक्ष ही अपना प्राण त्यागा[6]।

राजा कलश का पुत्र हर्ष अपने विविध परस्पर विरोधी गुणों अथवा दुर्गुणों के कारण अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ। राजतरंगिणी[7] में कहा गया है कि वह समस्त विद्याओं और कलाओं का निधान था तथा विद्वानों तथा कवियों का आश्रयदाता था। वह जितनी विद्याओं को जानता था, उन सबका नाम जानना बृहस्पति के लिए भी अशक्य था। कश्मीर छोड़कर चालुक्य दरबार में चले जाने वाले बिल्हण को भी पश्चात्ताप होने लगा[8]। राजा हर्ष ने ब्राह्मणों को गौओं का दान

1. वही, 180-186।
2. वही, 522 और आगे।
3. वही, 523।
4. वही, 696।
5. वही, 710।
6. वही, 722।
7. वही, 934।
8. राजतरंगिणी, सप्तम्, 935-937।

किया तथा उसकी रानी वसन्तलेखा ने मठों एवं अग्रहारों की स्थापना की। किन्तु इतना करते हुए भी अन्त में वह चाटुकारों के हाथ की कठपुतली बन गया और पूर्ण रूप से अधर्म पर उतारू हो गया। अपनी सेना बढ़ाने के बहाने उसने देवमंदिरों का धन लूटना शुरू कर दिया[1]। उसने देवताओं की धातु निर्मित मूर्तियों को भी निकलवा लिया। देवताओं की मूर्तियों को हर्ष की आज्ञा से गन्दे रास्तों पर घसीटा जाता था। उसने मुसलमानों के सदृश कार्य करना शुरू कर दिया था और कदाचित् कल्हण इसी कारण उसे 'तुरुष्क' कहता है[2]। हर्ष अपनी सेना में तुर्कों को नियुक्त कर रखा था तथा ग्राम्य शूकरों का मांस खाता था। हर्ष की अनैतिकता तथा व्यभिचार का जो वर्णन कल्हण करता है उससे स्पष्ट होता है कि वह एक पतित एवं कुकर्मी राजा था। इतना ही नहीं उसकी कामवासना ने तो उसे अत्यन्त निम्न स्तर पर पहुंचा दिया। कल्हण[3] कहता है कि उसने बाल्यकाल में जिन माताओं की गोद में बैठकर खेला था, उन्हीं को वह अपनी गोद में बैठाकर चुम्बन करते हुए उनके साथ भोग करने लगा। कल्हण उसे अत्याचारी रावण की उपाधि देता है[4]।

कल्हण के उपर्युक्त वर्णनों से राजा हर्ष का चरित्र परस्पर अनमेलताओं का एक विचित्र संमिश्रण प्रतीत होता है। उसका व्यक्तिगत चरित्र इतना गिरा हुआ था कि उसके धर्म-कर्म के बारे में कुछ नहीं कहना ही उचित है। कल्हण की राजतरंगिणी कश्मीर के इतिहास का एकमात्र विश्वसनीय ग्रन्थ है। अतः कल्हण के वर्णनों पर सन्देह करना भी उचित नहीं है। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि तत्कालीन काश्मीर की परम्परा ही कुछ इसी धारा में मुड़ चुकी थी। कश्मीर के कई राजा अपने विलासी जीवन के सामने कर्त्तव्यों को भूल गये और अपनी तृष्णा की तृप्ति हेतु अनाचार का सहारा लेने गये। महान् पंडित होकर भी राजा हर्ष ने ऐसा आचरण किया। परन्तु मरते समय उसके मुख से 'महेश्वर-महेश्वर' शब्द निकला[5]।

द्वितीय लोहर वंश के शासक उच्चल को श्रेय दिया गया है कि वह प्रजा-

1. वही, 1085-1090।
2. वही, 1095 और 1049।

   ग्रामे पुरेऽय नगरे प्रासादो न च कश्चन।
   हर्षराज तुरुष्केण न यो निष्प्रतिमीकृतः॥

3. वही, 1046-1048।
4. राजतरंगिणी, सप्तम, 1202।
5. वही, 1712।

पालक था। उसने धूर्त तथा कपटी कायस्थों को दण्डित किया[1] जो जनता को सताते तथा 'कर' लेते थे। कहा गया है कि राजा उच्चल शिवरात्रि आदि पर्वो पर जनता को अपार धन देता था[2]। उसके समय में प्रत्येक मार्ग पर योगविद्या तथा प्राणायाम-शिक्षा के केन्द्र बने हुए थे। वह राजा पितृ-श्राद्ध, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण तथा ग्रह शान्ति जैसे अनेक धार्मिक अवसरों पर ब्राह्मणों को गाय, घोड़े तथा रत्नों का दान देता था[3]। सुकृत राजा उच्चल ने श्रीचक्रधर योगेश भगवान का एक अत्यन्त सुन्दर मंदिर बनवाया और पूर्वकाल में दुराचारी हर्ष जिस परिहासकेशव की मूर्ति को उखड़वा ले गया था, उसके स्थान पर दूसरी मूर्ति स्थापित कराई[4]। उच्चल ने अपने पिता की आत्मा के कल्याणार्थ एक मठ बनवाया। उसकी रानी जयमती ने भी मठ तथा विहार बनवाया[5]।

कश्मीर के राजाओं में उच्चल का व्यक्तित्व और कृतित्व सराहनीय है। वह महान् पुण्यात्मा और धर्मात्मा था। अपने अत्यन्त संक्षिप्त शासनकाल में (1001-1011 ई०) उसने कश्मीर के अन्य राजाओं के किये गये पापों को धोने का प्रयास किया।

उच्चल की मृत्यु (1111 ई०) के संभवतः एक वर्ष बीतने पर उसका भाई सुस्सल कश्मीर का राजा हुआ। राजतरंगिणी से सूचना मिलती है कि राजा सुस्सल ने अपने, अपनी सास तथा अपनी पत्नी के नाम से तीन बड़े-बड़े देवमंदिरों का निर्माण कराना प्रारम्भ किया तथा दावाग्नि से भस्मीभूत दिद्दा विहार का भी पुनरुद्धार कराया[6]। उसे ब्राह्मणों की नगरी तथा देवमंदिरों का रक्षक कहा गया है[7]। राजा सुस्सल के बाद राजतरंगिणी के विवरण अन्तिम शासक जयसिंह है। राजतरंगिणी में उसे महान् धर्मात्मा एवं पुण्यात्मा कहा गया है[8]। वह गुरुजनों, विद्वानों, ब्राह्मणों और अनाथों का अपने परिवार के सदस्यों की तरह पालन करता था। मठ, देवालय, उपवन, सरोवर एवं नहरों के निर्माण तथा जीर्णोद्धार के लिए वह सदा तत्पर रहा करता था[9]। उसने लम्बी अवधि तक चलने वाले

---

1. वही, अष्टम्, 46-114।
2. वही, 70।
3. राजतरंगिणी, अष्टम्, 75 और आगे।
4. वही, 79-80।
5. वही, 243-246।
6. वही, 579-80।
7. वही, 658।
8. राजतरंगिणी, अष्टम्, 2376।
9. वही, 2380।

यज्ञों को सम्पन्न कराया और धर्माचरण करने वालों को तरह-तरह की आर्थिक सहायता प्रदान करते हुए धार्मिक कार्य करने हेतु प्रोत्साहित किया। वह तत्ववेत्ताओं के साथ शिवपूजन में व्यस्त रहता था। राजा जयसिंह ने विद्वानों के निवास हेतु ऐसे ऊंचे-ऊंचे भवन बनवाये जिनसे सप्तर्षि भी द्वेष करने लगे। वह द्वेषहीन विद्वानों के संयुक्तिक वाद-विवाद को विशेष महत्व प्रदान करता था और देवालयों में समय-समय पर होने वाले व्यय की समुचित व्यवस्था करता था[1]।

राजा जयसिंह के मंत्री रिल्हण ने शिव मंदिर बनवा कर उसमें शिव की प्रतिष्ठा की थी, जो उसका अत्यन्त गौरवपूर्ण कार्य था[2]। जयसिंह के बारे में कहा गया है कि वह अपने राजमहल में रहते हुए भी तपोधन, लब्धवर्ण एवं धर्मवृद्ध पुरुषों का सम्पर्क नहीं छोड़ता था[3]। राजा जयसिंह के मंत्रियों एवं सेवकों द्वारा भी अनेक मठों और मंदिरों के निर्माण कराने का उल्लेख मिलता है जिनमें शंकर और विष्णु दोनों के ही मंदिरों के उल्लेख हैं[4]। ऐसा लगता है कि राजा जयसिंह ने अभिलषित दान व्रत का सहारा लेकर आरम्भ से ही शिल्पियों द्वारा मठों और देवालयों का निर्माण कराने में मन लगाया तथा जीर्ण-शीर्ण एवं उजाड़ कश्मीर को धन-जन से पुनः सम्पन्न करने का नये सिरे से उपक्रम किया। अतः यह कहा गया है कि अत्यन्त धर्मात्मा और उदार होते हुए भी ललितादित्य तथा अवन्तिवर्मा जैसे राजा जो प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर पाये, वह जयसिंह को सुलभ हो गई। प्रजावत्सलता, उदारता एवं लोकोपकारी कार्यों एवं धार्मिक निर्माणों आदि के सहारे कश्मीर के राजाओं में उसने एक गौरवपूर्ण स्थान बना लिया। उसके मंत्रियों द्वारा अनेक मंदिरों एवं मठों का निर्माण कराना इस बात का प्रमाण है कि राजा जयसिंह के शासन में धार्मिक स्वतंत्रता विद्यमान थी। बाल, वृद्ध, विद्वान्, ब्राह्मण तथा अन्य सभी आदरणीय लोगों का समान रूप से आदर बना रहा।

निष्कर्ष

कल्हण की राजतरंगिणी के अध्ययन से कश्मीर के राजाओं के धार्मिक क्रिया-कलापों एवं व्यक्तिगत विश्वासों की जो जानकारी प्राप्त होती है उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि कश्मीर के प्रायः सभी के सभी राजा हिन्दू धर्मानुयायी थे। कल्हण के विवरणों से यह भी स्पष्ट होता है कि उनमें से कोई ऐसा नहीं था जो

---

1. वही, 2387-2401।
2. वही, 2409।
3. वही, 2404।
4. वही, 2420-2442।

हिन्दू होने के नाते जैन अथवा बौद्ध धर्म का विरोधी हो। कई स्थानों पर कल्हण उन धर्मों के प्रति कश्मीर के अनेक राजाओं के कार्यों का उल्लेख करता है। कल्हण स्वयं ब्राह्मण धर्म के शैव सम्प्रदाय को मानने वाला था और ब्रह्मण धर्म की सारी परम्पराओं से आवद्ध था। तथापि वह अपने ग्रन्थ में बौद्ध धर्म के वास्तविक स्वरूप का वर्णन करता है[1]। इससे स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म भी हिन्दू धर्म के साथ-साथ लोकप्रिय था। जैन सिद्धान्त अहिंसा का कश्मीर में पालन होता था, इसके भी उदाहरण मिलते हैं[2]। अवन्तिवर्मा ने ब्राह्मण अथवा हिन्दू धर्म का अनुयायी होकर भी तथा कश्मीर में हिंसायुक्त वैदिक अनुष्ठानों के होते हुए भी जीव-हिंसा बन्द करवा दी थी। इसका स्पष्ट कारण उसकी सहृदयता और प्राणिमात्र के प्रति दया का होना था। अवन्तिवर्मा के धार्मिक क्रिया-कलाप, आचार, स्वच्छता और विचार स्वतंत्रता के परिचायक हैं।

बौद्ध धर्म के प्रति कश्मीर के राजाओं की नीति का एक बढ़िया उदाहरण चीनी यात्री श्वान्-च्वांग के विवरणों से प्राप्त होता है[3]। वह कहता है कि जब कन्नौज के राजा हर्ष ने यह सुना कि कश्मीर के किसी बौद्ध-विहार में बुद्ध के दांतों के कुछ अवशेष रखे हैं तो उसने उसकी पूजा करने की इच्छा से कश्मीर की सीमा की ओर प्रस्थान कर दिया और उन दांतों को भेज देने के लिए कश्मीर के राजा के यहां सन्देश भेजा।

जिस संघाराम में वह रखा हुआ था, वहां के भिक्षुओं ने उसे देने से इन्कार कर दिया। दुर्लभवर्धन ने हर्ष के पास संदेश भेजा कि चूंकि बुद्ध का वह अवशेष संवद्ध विहार की सम्पत्ति है, वह उसे भिक्षुओं की इच्छा के विपरीत छीनकर हर्ष को समर्पित नहीं कर सकता। किन्तु हर्ष ने बल प्रयोग की धमकी दी तो दुर्लभवर्धन ने भिक्षुओं को समझा-बुझा कर वह बुद्धावशेष हर्ष को पूजा हेतु समर्पित करवा दिया। यहां जो बात ध्यान देने की है वह यह कि दुर्लभवर्धन बौद्ध-संघ की इच्छा के विपरीत उनके धार्मिक मामलों में न तो कोई हस्तक्षेप करने को तैयार था और न उनकी कोई सम्पत्ति छीनने का अपने को अधिकारी मानता था। दुर्लभवर्धन की उपर्युक्त मनोवृत्ति को देखते हुए हर्ष का यह कथन ग्राह्य नहीं प्रतीत होता कि उसने भिक्षुओं से दांत छीन कर हर्ष के पास भेज दिया।

बड़ा स्पष्ट है कि कश्मीर के लोगों में बौद्ध धर्म के प्रति स्नेह था। और बौद्ध-विहारों को पूरी आंतरिक स्वतन्त्रता थी। इसी सुविधा के भीतर बौद्ध भिक्षुओं

1. राजतरंगिणी, अंग्रेजी अनुवाद, स्टाइन, भूमिका, पृ० 8।
2. राजतरंगिणी, चतुर्थ, 119।
3. जीवनी, पृ० 183; वाटर्स, जिल्द 1, पृ० 279;
—त्रिपाठी रा०श०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 85 और 165।

ने बुद्ध के दांत को संघाराम में सुरक्षित रख छोड़ा था। और अपने राजा को भी वे दांत नहीं देना चाहते थे। दुर्लभवर्धन हर्ष से अपने कूटनीतिक सम्बन्धों को बनाये रखने के लिए ही दांत को देने का निश्चय किया। वह हर्ष के बौद्ध धर्म के प्रति आतुर प्रेम को अच्छी तरह समझता था और एक साधारण बात के लिए युद्ध मोल लेना नहीं चाहता था। अतः स्पष्ट है कि दुर्लभवर्धन ने बौद्ध धर्म अथवा बुद्ध के दांत के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी डर के कारण ही हर्ष को वह दांत समर्पित कर दिया[1]।

मजुमदार महोदय ने कश्मीर के राजाओं को बौद्ध धर्म के प्रति उदारता एवं निष्पक्षता की नीति अपनाने का श्रेय दिया है। परन्तु जयसिंह को वे बौद्ध धर्म विरोधी बताते हैं[2]। किन्तु कश्मीर के इतिहास के लिए सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ कल्हण की **राजतरंगिणी** से ऐसी कोई सूचना नहीं मिलती जिससे उसको किसी भी धर्म के विरोधी के रूप में उपस्थित किया जा सके। बल्कि कल्हण उसे परम-धर्मात्मा राजाओं की श्रेणी में सर्वोच्च स्थान देता है[3]। डा० मजुमदार हर्ष को बौद्ध साबित करते हैं[4], जिसके प्रमाणस्वरूप वे यह कहते हैं जिस समय वह मंदिरों एवं मूर्तियों को तोड़ रहा था तब उसने परिहासपुर और श्रीनगर की दो बौद्ध प्रतिमाओं को नहीं तोड़ा, जिसे ललितादित्य और जयेन्द्र ने बनवाया था।

कश्मीर के इतिहास को देखने पर एक बड़ी विचित्र बात यह दिखायी देती है कि भारतवर्ष के अन्य क्षेत्रों के राजाओं के धार्मिक आचरणों के विपरीत कश्मीर के कुछ राजाओं ने अपने ही धर्म के अनुयायियों और उनके धार्मिक स्थानों के सम्बन्ध में कुछ लज्जाजनक व्यवहारों का परिचय दिया। शंकरवर्मा, कलश और हर्ष जैसे कुछ राजा ऐसे दिखायी पड़ते हैं जिन्होंने स्वयं ही हिन्दू मंदिरों को लूटा, उनकी सम्पत्ति छीन ली और कभी-कभी उन्हें धराशायी करके उनकी मूर्तियां भी भंग कर दीं[5]। क्षेमगुप्त ने बौद्ध-विहार को जलवा दिया[6]। इन राजाओं के ये कार्य सारी भारतीय परम्परा, सांस्कृतिक और धार्मिक विश्वास और हिन्दुत्व की भावना के प्रतिकूल थे। प्रश्न यह उठता है कि ऐसा उन्होंने किस कारण किया। इस प्रश्न का कोई भी सीधा उत्तर नहीं दिया जा सकता। उनके ये व्यवहार तुर्क आक्रमणकारियों के हिन्दू मंदिरों के तोड़ने, उन्हें लूटने

---

1. पाठक वि०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 56।
2. मजूमदार र०चं०, स्ट्रगल फार इम्पायर, जिल्द 5, पृ० 419, बम्बई।
3. राजतरंगिणी, अष्टम, 2400।
4. मजूमदार र०चं०, पूर्व निर्दिष्ट, जिल्द 5, पृ० 419।
5. राजतरंगिणी, सप्तम 696 और 1085-1090।
6. वही षष्ठम 171-173।

और उन्हें धराशायी कर देने जैसे व्यवहारों से बहुत भिन्न नहीं है। ऐतिहासिक क्रम में यह बड़ा स्पष्ट दिखायी देता है कि इन सभी शासकों ने कश्मीर में उस समय शासन किया जब भारतवर्ष पर महमूद गजनी के आक्रमणों के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ने शुरू हो गये थे। असम्भव नहीं है, महमूद द्वारा हिन्दू मंदिरों को लूट कर धन बटोरने के आसान तरीके कश्मीर के इन राजाओं को भी प्रभावित कर रहे हों। कश्मीर चारों तरफ पहाड़ियों से घिरे रहने के कारण यद्यपि बहुत दिनों तक मुसलमानी आक्रमणों से स्वयं बचा रहा, वह मुख्य मुसलमानी देशों के द्वार पर ही स्थित था और मुसलमानी प्रभाव वहां सबसे पहले आये होंगे। असम्भव नहीं है, तुर्क प्रभाव के कारण ही मंदिरों को लूट कर इन कश्मीर के राजाओं ने धन संग्रह करने का आसान तरीका अपना लिया। कल्हण हर्ष को तुरुष्क कहता है[1]। कई तुर्क सरदार उसके मंत्री और सेनापति भी हो गये[2]। इस प्रकार स्पष्टतः राजतरंगिणी का लेखक हर्ष पर तुर्क प्रभाव की ओर निर्देश करता है। अतः इसमें आश्चर्य नहीं कि हर्ष ने हिन्दू मंदिरों को लूटा और उनकी सम्पत्ति छीन ली।

कश्मीर के इन दुष्ट राजाओं की उपर्युक्त प्रवृत्ति का एक दूसरा कारण बड़े स्पष्ट रूप से दिखायी देता है और वह था राजत्वग्रहण करने के कुछ दिनों बाद उनमें दुर्व्यसन, दुश्चरित्रता, चारित्रिक पतन और प्रजा के विरुद्ध अत्याचारी स्वभाव का विकास। इसके पीछे दो प्रेरक तत्व दिखायी देते हैं। पहला, उपर्युक्त शासकों का चारित्रिक विरोधाभास एवं उनमें कुछ गुणों के साथ अनेक दुर्गुणों की सहसा वृद्धि। दुर्भाग्यवश कश्मीर के इतिहास में कार्कोट वंश के राजाओं के बाद कई बार ऐसे युग आये जिनमें प्रशासन ढीला पड़ गया, राजदरबार षड्यंत्रों का शिकार हो गया तथा राज्य के मंत्री और अधिकारी दुर्विनीत और भ्रष्टाचारी हो गये। कल्हण कायस्थों और डामरों के उपद्रवों की अनेक स्थानों पर चर्चायें करता है[3]। कश्मीर के दुष्ट राजाओं पर इनका बढ़ता हुआ प्रभाव राजतरंगिणी में अनेक बार वर्णित है। कायस्थ लोग राज्य में अनेक पदों पर नियुक्त राजकीय अधिकारी और कर्मचारी थे। डामर लोग कश्मीर के सामन्त और जमींदार वर्गों के प्रतिनिधि थे और उनके द्वारा कश्मीर की प्रजा के उत्पीड़न के अनेक उल्लेख कल्हण करता है। ये दोनों ही वर्ग मिल कर कश्मीर के राजाओं का भी धन लूटते थे। उनके प्रशासनिक अनाचारों के कारण राजकोष खाली ही रहा था। इसी से विवश होकर कलश, हर्ष अथवा उनके जैसे अन्य दुर्व्यसनी राजाओं को

---

1. राजतरंगिणी सप्तम्, 1095।
2. वही, 1149।
3. राजतरंगिणी सप्तम्, 119 और 1137; अष्टम 88-108।

शासन को चलाने हेतु धन वसूलने के अनाचारी उपाय अपनाने पड़े। उसी क्रम में उन्होंने मंदिरों को लूटा।

उपर्युक्त स्थिति को स्पष्ट करने के लिए इन अत्याचारी राजाओं के क्रमिक चारित्रिक और प्रशासनिक अधःपतन की ओर पुनः एक वार निर्देश किया जा सकता है। शंकरवर्मा को हम प्रारम्भ में शिव की प्रतिष्ठा करते हुए पाते हैं[1], किन्तु वाद में उसके द्वारा देव मंदिरों का धन लूटने और उनकी सम्पत्ति छीन लेने के उल्लेख मिलते हैं[2]। यह उसके चारित्रिक अधःपतन और कायस्थों के उस पर वढ़ते हुए प्रभाव का ही परिणाम था[3]। उन्हीं के जाल में फंस कर उस दुष्ट राजा ने देव-मंदिरों को लूटा। उसके द्वारा विद्वानों और व्राह्मणों के अनादर का भी उल्लेख कल्हण करता है[4]।

धर्म विरोधी आचरणों में क्लश और हर्ष सवसे आगे थे। कल्हण कहता है कि क्लश शाक्तों के साथ वैठकर मद्यपान करता था[5]। मद्यपान से उसमें निश्चय ही अन्य दुश्चरित्रताओं का विकास हुआ होगा, साथ ही उस वुरी आदत के कारण उसको धन की अधिकाधिक आवश्यकता पड़ने लगी होगी। परिणामस्वरूप उसने अनेक अनैतिक कार्य प्रारम्भ कर दिये, जिनमें एक सूर्य प्रतिमा का तोड़ना तथा वौद्ध-विहारों से वौद्ध-प्रतिमाओं को निकलवा कर तोड़वा डालने की कुछ घटनायें उल्लेखनीय हैं[6]। किन्तु यह ध्यान में रखने की वात है कि यह क्लश अपने राजकीय जीवन के प्रारंभिक भाग में स्वयं वड़ा धार्मिक था। **राजतरंगिणी** की सूचना है कि उसने अनेक शिवालय वनवाये थे, मंदिरों की पूजा हेतु धन का स्थायी प्रवन्ध किया था तथा शिवालयों के शिखरों पर स्वर्ण-क्लशों की स्थापना की थी[7]। वड़ा स्पष्ट है कि उसके धार्मिक और साथ ही अधार्मिक कार्यों का कारण प्रारम्भ में उसके धार्मिक और न्यायी चरित्र का वह अधःपतन था जो कदाचित् उसकी शराव पीने की आदत के कारण हो गया। कल्हण इस वात का उल्लेख करता है कि अपने जीवन के अंतिम क्षण में क्लश को यह ध्यान हुआ कि उसे भगवान् मार्तण्ड की प्रतिमा तोड़ने के कारण अनेक दुःख भोगने पड़े और अन्त में उसने सूर्य की प्रतिमा के सामने पूजा करते

---

1. राजतरंगिणी, पंचम, 158।
2. वही, 163-56।
3. पीछे देखिये, यही अध्याय, पृ०, 236।
4. राजतरंगिणी, पंचम, 179।
5. राजतरंगिणी, सप्तम्, 523।
6. वही, 696।
7. वही, 522 और आगे।

हुए अपना प्राण त्याग किया। उसके मन की पश्चाताप की भावना बड़ी स्पष्ट दिखायी देती है।

कलश का पुत्र हर्ष संभवतः कलश के दुवृत्तों से अधिक प्रभावित था और राजदरबार में व्याप्त दुश्चरित्रता, अपराध की वृत्ति, अनाचार और इस तरह की हीन वृत्तियों का उस पर राजकुमार के रूप में संभवतः बहुत प्रभाव पड़ा था। तथापि उसमें कुछ संस्कारगत धर्म-भाव तथा उदारभाव भी थे। राजतरंगिणी उसके चरित्र के परस्पर इन दो विरोधी तत्वों का अच्छा परिचय देती है। उसमें एक तरफ तो यह वर्णन है कि हर्ष कवियों और विद्वानों का आश्रयदाता था[1], उसने ब्राह्मणों को गौओं का दान दिया और उसकी रानी वसन्तलेखा ने मठों और अग्रहारों की स्थापना की। उसके ये आचरण उसके परम्परागत संस्कार के कारण थे। किन्तु राजा होने के थोड़े ही दिनों बाद वह अपनी दुष्ट वृत्तियों का शिकार हो गया। उसके दुश्चरित्र के इस विकास में उसके पिता कलश के समय की कश्मीरी राजदरबार की सभी बुराइयां कारण रही होंगी। परिणामतः उसने धन के लिये देव मंदिरों को लूटना शुरू कर दिया और बहुमूल्य धातुओं से बनी मूर्तियों को भी मंदिरों से निकलवा लिया[2]। उसके ये कार्य तुर्कों जैसे हो गये और इसी कारण कल्हण उसे तुरुष्क कहता है। उसके ये आचरण उसके किसी धार्मिक विद्वेष के कारण अथवा किसी धर्म अथवा सम्प्रदाय विशेष के विरोध में थे ऐसा नहीं प्रतीत होता। इनका कारण उनका चारित्रिक अधःपतन ही था, जिसके पीछे कश्मीरी राजदरबार का भ्रष्ट-जीवन, कायस्थों और डामरों का कुप्रभाव और तुर्क प्रभाव रहा होगा।

कश्मीर के उपर्युक्त राजाओं के धार्मिक दुराचरण भारतवर्ष में सर्वमान्य रूप में प्रचलित और प्रायः सभी राजाओं द्वारा आचरित धार्मिक, उदारता, राजाओं द्वारा सभी धर्मों के प्रति आदर और उनकी सहायता और धार्मिक सहिष्णुता के अपवाद ही माने जाने चाहिए।

कश्मीर में भी अधिकांश राजाओं ने परम्परागत भारतीय सहिष्णुता का ही परिचय दिया। उसका सबसे बड़ा उदाहरण ललिता-दत्य-मुक्तापीड है। उसके द्वारा हिन्दू धर्म के प्रायः सभी सम्प्रदायों के मंदिर बनवाये गये जिनमें

---

1. राजतरंगिणी, सप्तम्, 934 और आगे।
2. ग्रामे पुरेऽप नगरे प्रसादो न च कश्चन।
   हर्षराज तुरुष्केण न यो निष्प्रतिमो कृतः॥
   (राजतरंगिणी, सप्तम्, 1095)

प्रमुख रूप से केशवदेव[1], नृसिंह,[2] आदित्य,[3] रुद्र[4] तथा बुद्ध[5] की मूर्तियों की स्थापना का उल्लेख किया जा सकता है। उसका मंत्री चिकुण संभवत: जैन था, जिसने जिन[6] की मूर्तियां स्थापित कीं। इस प्रकार ललितादित्य के धर्म सहिष्णु होने का बड़ा स्पष्ट चित्रण है। कश्मीर के प्राय: सभी चरित्रवान् राजाओं ने उसकी इस धार्मिक सहिष्णुता की नीति का ही पालन किया।

---

1. राजतरंगिणी, चतुर्थ 183।
2. वही, 185।
3. वही, 187।
4. वही, 190।
5. वही, 203।
6. वही, 211।

अध्याय—9

निष्कर्ष

विवेच्य युग (600-1200 ई०) के राजाओं के व्यक्तिगत धर्म तथा तत्कालीन धार्मिक स्थिति के बारे में हमें अभिलेखों एवं साहित्यिक ग्रन्थों तथा चीनी यात्रियों के विवरणों से जो सूचनाएं उपलब्ध होती हैं वे इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं कि पालों को छोड़ कर सभी हिन्दू राजे हिन्दू धर्म के मानने वाले थे तथा उनका धार्मिक विश्वास परम्परा-विहित था। इस युग की नयी परि-स्थितियों में नये देवी-देवता मण्डल का विकास, मन्दिरों का निर्माण एवं मूर्ति-पूजा का प्रचलन, त्रिदेवों सहित अनेक देवगणों की मान्यता, मातृशक्ति में विश्वास एवं उसकी अनेक रूपों में पूजा तथा प्रकृति के देवताओं के स्थान पर देवताओं की मूर्तरूप में पूजा की पद्धति प्रमुख रूप से सामने आयी[1]। हिन्दू धर्म ज्यों-ज्यों व्यापकता और सामंजस्य तथा ग्रहणशीलता की ओर बढ़ रहा था त्यों-त्यों अहिन्दू धर्म अथवा सम्प्रदाय संकोच, क्षीणक्षेत्रता एवं अवनति की ओर जा रहे थे[2]। इनमें बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म का नाम लिया जा सकता है। तथापि इस युग में बौद्ध धर्म की ओर उन्मुख अथवा उसमें पूर्ण विश्वास रखने वाले कुछ भारतीय राजाओं के नाम श्वान्-च्वांग, इचिंग अथवा अन्य विदेशी तीर्थ यात्रियों से प्राप्त होते हैं। जैन ग्रन्थों से जैन धर्म के बारे में जो सूचनायें मिलती हैं। उनसे स्पष्ट होता है कि जैनियों की संख्या बौद्धों से अधिक थी और जैनियों ने छठीं शताब्दी

---

1. पीछे, देखिये, पृ० 4।
2. पीछे देखिये, पृ० 5।

में अपने आगमों का संग्रह शुरू कर दिया था। इतना ही नहीं, जैन ग्रन्थों में इस वात का भी उल्लेख मिलता है कि अनेक भारतीय राजाओं ने जैन धर्म को क्रियात्मक संरक्षण प्रदान किया[1] और जैनियों के अनुसार चालुक्य कुमारपाल तो जैन धर्म में दीक्षित ही हो गया था[2]।

विवेच्य युग में जहां हिन्दू, वौद्ध और जैन धर्म अपने विभिन्न सम्प्रदाओं को लेकर भारतवर्ष में फल-फूल रहे थे वहीं इस्लाम के प्रवेश के रूप में एक नयी समस्या भारतीय राजाओं के सामने उपस्थित हो गई। यह स्पष्ट है कि हिन्दू राजाओं ने मुसलमानों को विवेच्य युग के अन्तिम पाद शताव्दी तक (1175-1200 ई०) सिंध और मुल्तान से आगे नहीं वढ़ने दिया तथापि उनके धावे राजपूताना, गुजरात और मध्य प्रदेश तक ही नहीं, कदाचित् उत्तर प्रदेश के कुछ भागों और कश्मीर तक होते रहे[3]। भारतीयों ने इस्लाम तथा उसके अनुयायियों को म्लेच्छ कहकर पुकारा और उन्हें समूल नाश करने की आवश्यकता भी समझी[4], किन्तु उसमें वे पूरी तरह सफल नहीं हो पाये। उनकी इस असफलता का कारण उनकी राजनीतिक और सामाजिक कमजोरी तो थी ही, उनकी उदार धार्मिक नीति का भी उसमें कम उत्तरदायित्व नहीं है।

राजाओं के व्यक्तिगत धर्म तथा उनके धार्मिक विश्वासों और क्रिया-कलापों के परिप्रेक्ष्य में ही उनकी धार्मिक नीति स्पष्ट की गई है। अतः संक्षेप में राजाओं के व्यक्तिगत धर्म आदि के वारे में भी कुछ चर्चायें करना उपयुक्त समझा गया है।

हर्षवर्धन अपने प्रारम्भिक जीवन में शिव का भक्त था, जिसके अनेकानेक प्रमाण हैं। इस वात के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रमाण वांसखेड़ा[5] और मधुवन[6] ताम्रपत्रों एवं हर्षचरित[7] में है जिनमें हर्ष को परममाहेश्वर की उपाधि दी गई है। किन्तु दूसरी ओर ऐसी भी सूचनाएं मिलती हैं कि वह अपने जीवन के अन्तिम समय में वौद्ध वन गया था[8]। ऐसा इंगित करने वाले ग्रन्थों में हर्षचरित

1, वाटर्स, जिल्द 1, पृ० 344-45।
2. कुमारपालचरितसंग्रह, पृ० 26।
3. वम्बई गजेटियर, जिल्द 1, खण्ड 1, पृ० 109 और आगे;
   खण्ड 2 पृ० 187-88 तथा 310।
4. ए०इ०, जिल्द 18, पृ० 120 और आगे।
5. ए०इ०, जिल्द 4, पृ० 211।
6. वही, जिल्द 1, पृ० 72।
7. हर्ष०च०, तृतीय, पृ० 45।
8. कावेल टॉमस, पृ० 250।

तथा ह्वेन्सांग का यात्रावृत्त हैं, तथापि उनके वर्णन स्पष्ट नहीं हैं और हर्ष को बौद्ध सिद्ध करने के लिए जो भी तर्क दिये गए हैं वे पूर्वाग्रहयुक्त तथा बौद्ध धर्म की महत्ता प्रकट करने के उद्देश्य से प्रेरित प्रतीत होते हैं। इतना ही नहीं श्वान्-च्वांग के वर्णन अति-रंचित भी हैं, जिन पर पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता, क्योंकि हर्ष अन्त तक ब्राह्मणों को दान देता रहा[1] तथा हिन्दू धर्म के और देवी-देवताओं की हर स्थानों पर पूजा करता रहा। शैव आचार्यों के प्रति उसकी उदारता हमेशा कायम रही। हर्षवर्धन के बारे में श्वान्-च्वांग सूचना देता है कि वह विद्या एवं विद्वानों से अत्यधिक प्रभावित होता था तथा उन्हें दान देता था। जयसेन नामक एक बौद्ध विद्वान् को 80 गांव हर्ष द्वारा दान में देने के प्रस्ताव की वह चर्चा करता है[2]। बड़ा स्पष्ट है कि हर्ष बौद्ध धर्म से नहीं बल्कि जयसेन की विद्वता के कारण प्रभावित था। प्रत्युत हर्ष ने बौद्ध धर्म के प्रति जो स्नेह दिखाया उसका एकमात्र कारण उसकी धार्मिक सहिष्णुता एवं उदारता थी। हर्ष के सम्बन्ध में पीछे उसकी धार्मिक नीति सम्बन्धी अध्याय में ऐसी अनेक बातों का उल्लेख है जिससे सहिष्णु जीवन, उदार धार्मिक चरित, सभी धर्मों एवं सम्प्रदायों के विद्वानों और विद्या केन्द्रों के प्रति समानत्व की भावना तथा उसमें किसी भी प्रकार की धार्मिक कट्टरता न होने का पूरा परिचय प्राप्त होता है।

गौड नरेश शशांक को बौद्ध ग्रन्थों में बौद्ध धर्म विरोधी कहा गया है[3]। परन्तु विद्वानों ने इसे नहीं माना है[4]। डा० मजुमदार बौद्ध लेखकों के कथनों को अत्यन्त निम्न स्तर का मानते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हर्ष का शशांक से विरोध होने के कारण ही हर्ष की गाथा गाने वाले बौद्धों ने शशांक को बौद्ध विरोधी कहा। श्वान्-च्वांग शशांक की निन्दा में सबसे आगे प्रतीत होता है, परन्तु वह शशांक के बौद्ध धर्म विरोधी प्रवृत्तियों को अकाट्य रूप से प्रमाणित नहीं कर पाता। अतः उनके विवरणों की सत्यता पर सन्देह का होना स्वाभाविक है। वास्तविकता यह है कि शशांक का बौद्ध धर्म से कोई विरोध नहीं था, अपितु, कामरूप के भास्करवर्मा और थानेश्वर-कन्नौज के राज्यवर्धन-हर्षवर्धन से विरोध था जिसका आधार मूलतः राजनीतिक था। राज्यवर्धन तो बौद्ध हो ही गया था, भास्करवर्मा और हर्ष शैव होते हुए भी बौद्ध धर्म के प्रति अत्यन्त कृपालु और उदार थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों बौद्ध धर्म सहिष्णु राजाओं

---

1. बील, जिल्द 2, पृ० 239 का अनुवाद डा० वि० पाठक द्वारा उद्धृत, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 68-69।
2. जीवनी, पृ० 154; डा० पाठक, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 65।
3. वाटर्स, जिल्द 2, पृ० 43 और पृ० 92; पृ० 114।
4. मजुमदार र०चं०, हिस्ट्री आफ बंगाल, जिल्द 1, पृ० 67।

के शत्रु शशांक को श्वान्-च्वांग ने बौद्ध धर्म विरोधी मान लेने में कल्पना का आधार अधिक लिया और ऐतिहासिक वास्तविकता का कम। पुनः भास्करवर्मा और हर्ष ने उसे निजी रूप में जो आदर दिया तथा उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाई उसका भी उसके मस्तिष्क पर प्रभाव रहा होगा जो अप्रत्यक्ष रूप से उन दोनों के शत्रु शशांक सम्बन्धी उसके विवरणों में पूरी तरह परिलक्षित होता है।

प्रतीहार राजाओं की निजी धार्मिक प्रवृत्तियों के विषय में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि उस वंश के राजा अलग-अलग देवताओं की पूजा व भक्ति करते हुए पाये जाते हैं। देवशक्ति को **परमवैष्णव**[1], वत्सराज को **परममाहेश्वर**[2], नागभट्ट द्वितीय को **परमभगवतीभक्त**[3], रामभद्र द्वितीय को **परमादित्यभक्त**[4], तथा महान् सम्राट् भोज को भगवती[5] का भक्त कहा गया है। महेन्द्रपाल द्वितीय को भगवती भक्त[6] तथा महेन्द्रपाल द्वितीय को शिव का भक्त[7] कहा गया है। स्कन्दपुराण[8] की सूचना है कि नागभट्ट द्वितीय (आम) ने जैन आचार्य वप्पभट्ट-सूरि के प्रभाव में आकर जैन धर्म स्वीकार कर लिया था। परन्तु पीछे हम देख चुके हैं कि नागभट्ट द्वितीय की पहचान राजा आम से करने अनेक आपत्तियां हैं, जिनमें विशेषतः तैथिक उलझनों की ओर संकेत किया जा सकता है। प्रभाव-कचरित[9] आमराज को नागावलोक कहते हुए उसे धर्मपाल का शत्रु दिखाता है। वहां उसका शासन काल अत्यन्त दीर्घ (743-833 अथवा 753-833) बताया गया है[10]। जैन हरिवंशपुराण में नागभट्ट द्वितीय के पिता वत्सराज को 783 ई० में उज्जैन के शासक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार वत्सराज की शासनावधि राजा आम की श
तैथिक उलझनों के कारण आमरा
प्रतीत होता है और उसके जैन धर्म
से संदेहास्पद प्रतीत होती है।

---

1. भोज का वराह ताम्रपत्र-लेख, ए०इ
2. ए०इ०, जिल्द 14, पृ० 182 और
3. वही।
4. ए०इ०, जिल्द 1, पृ० 156।
5. वही, जिल्द 14, पृ० 17।
6. वही, पृ० 182।
7. वही।
8. स्कन्दपुराण 3।2।36।47।
9. प्रभावकचरित, 5।188।
10. विशेष द्रष्टव्य—पीछे, पृ० 58।

पीछे प्रतीहार राजाओं के व्यक्तिगत धर्म तथा धार्मिक और सामाजिक क्रिया-कलापों का जो उल्लेख किया गया है उससे यह स्पष्ट होगा कि प्रतीहारों की धार्मिक नीति भारतीय धर्मों के प्रति उदारता, सहिष्णुता और समानता के सिद्धान्तों पर आधारित थी। किन्तु प्रतीहार शासक इस्लाम धर्म के प्रति कठोर आचरण अपनाते थे। परन्तु इसका कारण सिर्फ धार्मिक न होकर राजनीतिक तथा सैनिक भी था। प्रतीहार राजे अपने देश की संस्कृति और राजनीतिक तथा आर्थिक संप्रभुता बनाये रखने के लिए मुसलमानों से लड़ते रहे। यही कारण था कि अरब इतिहासकार प्रतीहारों को मुसलमानों का सबसे बड़ा शत्रु मानते थे[1]। प्रतीहार राजाओं की नीति अरब आक्रामकों के प्रति कठोर अवश्य थी परन्तु वे उनकी भांति कपटी, कुटिल और असहिष्णु नहीं थे।

गाहडवाल राजे अधिकांशतः शैव थे और परममाहेश्वर[2] की उपाधि को धारण करते थे। परन्तु उनमें वैष्णव भी थे[3], और विष्णु की बड़े उत्साह के साथ पूजा करते थे। किन्तु वे हिन्दू धर्म के अनुयायी होते हुए भी बौद्ध धर्म के प्रति भी उदारता का व्यवहार करते थे। गोविन्दचन्द्र की दो रानियां बौद्ध थीं[4], जिन्हें उसने पूरी धार्मिक स्वतंत्रता दे रखी थी। वह स्वयं भी बौद्ध संघ को दान देता था[5]। इस प्रकार स्पष्ट है कि गाहडवाल राजे सभी भारतीय धर्मों तथा उनके विभिन्न सम्प्रदाओं के प्रति सहिष्णु एवं उदार थे। किन्तु गाहडवाल राजे भी प्रतीहारों की भांति मुसलमानों को अपना शत्रु मानते थे और उनके खिलाफ हमेशा संघर्ष करते रहे। इसका समर्थन लक्ष्मीधर के ग्रन्थ कृत्यकल्पतरु[6] तथा कुमारदेवी के अतैथिक सारनाथ अभिलेख[7] से होता है। उनमें गोविन्द चन्द्र को मुसलमानों से देश की रक्षा करने वाला कहा गया है[8]।

गाहडवाल राजाओं द्वारा लगाए गए 'तुरुष्क दण्ड' के आधार पर विद्वानों ने उन्हें मुसलमानों का शत्रु कहा है[9], परन्तु इस 'कर' को लगाने का उनका एक-

---

1. इलियट एण्ड डाउसन, जिल्द 1, पृ० 4-23-24।
2. ए०ई०, जिल्द 14, पृ० 197।
3. नियोगी, रोमा, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 194।
4. ए०इ०, जिल्द 9, पृ० 319-328।
5. ए०इ० जिल्द 11, पृ० 20-26।
6. पीछे देखिए, पृ० 88।
7. पीछे देखिये, पृ० 69।
8. पीछे देखिये, पृ० 69।
9. पीछे देखिये, पृ० 85।

मात्र उद्देश्य यह था कि राज्य के अन्दर रहने वाले मुसलमानों को सद्व्यवहार के लिए विवश किया जाए और उस समुदाय के अत्याचारी सदस्यों को दण्डित किया जाए इसके पीछे कोई धार्मिक विद्वेष की भावना नहीं प्रतीत होती। अतः ऐसा नहीं कहा जा सकता कि गाहडवालों और उनके पूर्व प्रतीहारों ने मुसलमानों पर मुसलमान होने के कारण अत्याचार किया। किन्तु, वे उनकी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं को ध्वस्त करने के लिए उनके प्रति कठोर आचरण अपनाते थे। प्रतीहार राजाओं ने अपने शत्रु बौद्ध धर्मानुयायी पाल राजाओं की प्रजा के प्रति भी वैसी ही उदारता दिखाई जैसी अपनी हिन्दू प्रजा के प्रति। यह महेन्द्रपाल प्रथम के उस आचरण से स्पष्ट है, जिसमें वह बौद्ध धर्म के केन्द्र बिहार के अनेक क्षेत्रों के बौद्ध मठों और मंदिरों को दान देते हुए अथवा वहां के बौद्धों के प्रति सहिष्णु वर्ताव करते हुए दिखाया गया है। ये क्षेत्र उसने बौद्ध धर्मानुयायी नारायण पाल से छीने थे[1]। बड़ा स्पष्ट है कि अपने पूर्ववर्तियों की भांति ही प्रतीहारों ने धार्मिक उदारता की नीति का अनुसरण किया।

कलचुरि राजवंश में शंकरगण तृतीय[2] को छोड़कर सभी शासक शैव थे[3]। परन्तु उन्होंने अन्य धार्मिक सम्प्रदायों के प्रति पूर्ण सहनशीलता, उदारता और सहायता का आचरण अपनाया। उनके समय में जैन तथा बौद्ध धर्म भी विकास पर थे। कुछ बौद्ध ग्रंथों में कर्ण को बौद्ध विरोधी[4] कहा गया है। परन्तु इस दोषारोपण का समर्थक कोई सशक्त प्रमाण नहीं मिलता। बौद्ध धर्मानुयायी पालों (नयपाल और विग्रहपाल तृतीय) पर कर्ण का आक्रमण उसकी राजनीतिक महत्वाकांक्षा का परिचायक था, धार्मिक असहिष्णुता का नहीं। यह इससे प्रमाणित है कि शैव होते हुए भी कर्ण ने बौद्ध राजा विग्रहपाल तृतीय से अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। अगर वह बौद्ध धर्म विरोधी होता तो यह वैवाहिक सम्बन्ध नहीं कायम करता। पीछे कलचुरि राजाओं के व्यक्तिगत धर्मों और धार्मिक क्रिया-कलापों का जो उल्लेख किया जा चुका है, वह उनकी धार्मिक सहनशीलता, उदारता और सहिष्णुता की नीति का अपूर्व नमूना है।

कलचुरियों की तरह ही चन्देल शासक भी अधिकतर शैव रहे प्रतीत होते हैं। जैसा कि धंग के खजुराहो अभिलेख से स्पष्ट है, वे हिन्दू धर्म के सभी देवताओं को पूजते थे। तथापि खजुराहो के मंदिरों की कला से स्पष्ट है कि वे जैन, हिन्दू और अन्य अनेकानेक सम्प्रदायों के देवमण्डलों को एक साथ देखना चाहते थे।

---

1. मेमोरीज आफ ए०सो०बं०, जिल्द 5, पृ० 64।
2. कार्पस जिल्द 4, खण्ड 1, पृ० 191 तथा 197।
3. कार्पस, जिल्द 4, खण्ड 1, पृ० 41।
4. पीछे, पृ० 120।

धंग से लेकर उसके वंश के अगले कई शासकों ने एक ही वंश के ब्राह्मणों को कई पीढ़ियों तक अपना मंत्री नियुक्त किया था[1] जो उनके वैदिक धर्मानुयायी, विद्वान् और शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों के प्रति आदर का सूचक है।

चन्देलों के समय में भी मुसलमानों के आक्रमण की वैसी ही समस्या थी जैसी प्रतीहारों एवं गाहडवालों के समय में थी। चन्देलों पर मुसलमानों के दो आक्रमण हुए[2], परन्तु इसके सम्बन्ध में मुसलमान इतिहासकारों के एकतरफे वर्णन ही हमारे साक्ष्य हैं। हम देखते हैं कि अंततोगत्वा विद्याधर और महमूद गजनी ने बरावरी के सिद्धान्त पर आपस में मैत्री स्थापित कर ली, जो विद्याधर की राजनीतिक दूरदर्शिता का परिचायक है। स्पष्ट है कि चन्देल राजाओं ने सर्व-देवत्व में समत्व का जो विशाल स्वरूप प्रस्तुत करना चाहा वह उनकी धार्मिक एकरूपता, सहिष्णुता तथा उदारता का चिरस्मरणीय नमूना है।

परमार राजाओं का हिन्दू धर्म से विशेष लगाव था। वे शैव[3] और वैष्णव[4] दोनों ही थे। इन दोनों देवताओं के अतिरिक्त शक्ति, सूर्य, गणेश आदि देवताओं की भी उनके द्वारा पूजा होती थी। परमार शासक हिन्दू समाज की आधारभूत वर्णाश्रम व्यवस्था के रक्षक थे[5]। उनके समय में जीवहिंसा का बन्द होना तथा जैन आचार्यों को संरक्षण दिया जाना जैन धर्म की प्रतिष्ठा बनाए रखने का सूचक है[6]। अतः यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि परमार राजा धार्मिक मामले में उदार थे। उनकी दानशीलता के कारण भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के एक महान् युग का सूत्रपात हुआ।

बंगाल के पाल शासक बौद्ध थे[7]। परन्तु उन्होंने बौद्ध धर्म के संरक्षण के साथ-साथ हिन्दू धर्म के देवताओं की पूजा के निमित्त अनेक दान तथा निर्माण कार्य किए[8], जिसका विवेचन पीछे किया जा चुका है। उनके समय में बौद्ध संस्कृति के साथ-साथ वैदिक संस्कृति भी फल-फूल रही थी। बौद्ध होकर भी पालों ने जिस प्रकार की उदारता अन्य धर्मों के प्रति दिखायी वैसी संभवतः किसी भी अन्य वंश के राजाओं में देखने को नहीं मिलती। विभिन्न धर्मों के आचार्यों तथा

---

1. पीछे, पृ० 112।
2. पीछे, पृ० 132।
3. ए०इ०, जिल्द 11, पृ० 82।
4. ए०इ०, जिल्द 15, पृ० 160।
5. ज०बा०ब्रा०रा०ए०सो०, जिल्द 21; पृ० 351।
6. भारती, फरवरी 1955, पृ० 116-117।
7. इ०ए०, जिल्द 17, पृ० 307।
8. पीछे, पृ० 162-163।

पुजारियों को दान देना[1] उनकी उत्कृष्ट धार्मिक सहिष्णुता की नीति का स्पष्ट प्रमाण है।

सेन राजा उत्तर भारत के राजाओं की भांति ही धार्मिक मामले में हिन्दू धर्म के सम्प्रदायों से संलग्न थे। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि उनके अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों मात्र के प्रति ही उन्होंने अपनी श्रद्धा अथवा आर्थिक उदारता का परिचय दिया। किन्तु यदि उन्होंने अन्य भारतीय धर्मों को प्रोत्साहन नहीं दिया तो उनके प्रति कोई अत्याचार भी नहीं किया। मुसलमान इतिहासकार[2] सेनों की दानशीलता की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि सेनों के हाथ कभी अत्याचार तो हुआ ही नहीं। वे शिव[3], विष्णु[4] अथवा सूर्य जैसे अलग-अलग हिन्दू देवताओं के भक्त होते हुए भी साम्राज्य के अन्दर लोकप्रिय सभी सम्प्रदायों के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाते थे।

जयसिंह सिद्धराज की उत्कट धार्मिक सहिष्णुता का परिचय एक मुसलमान इतिहासकार (मुहम्मद औफी) से प्राप्त होता है। उसकी प्रशंसा करते हुए वह अपने ग्रंथ जामीउल-हिकायात[5] में लिखता है "उसने कभी ऐसी कोई कहानी नहीं सुनी जिसकी जिससे तुलना की जा सके।" एक बार वह कम्वायत (कैम्वे) गया था। यह नगर समुद्र तट पर था। इसमें धार्मिक, ईमानदार और पुण्यवान् सुन्नी रहते थे। यह नगर गुजरात और नहरवाला के सरदारों का था। इसमें बहुत से अग्निपूजक और मुसलमान रहते थे। जयसिंह राजा के समय में यहां एक मस्जिद थी, जिस पर एक ऊंची मीनार थी। इस पर से अजान दी जाती थी। अग्निपूजकों ने काफिरों को मुसलमानों पर आक्रमण करने के लिए उत्तेजित किया था। मीनार नष्ट कर दी गई। मस्जिद जला दी गई और 80 मुसलमान मार डाले गये। उस रात को राय ऊंट पर सवार होकर नहरवाला से कम्वायत की ओर रवाना हुआ खातिब अली की शिकायत के सम्बन्ध में पूछ-ताछ की, तब उसको ज्ञात हुआ कि मुसलमान सताए और मारे गये थे और ऐसे अत्याचार का कोई कारण नहीं था।" सारी घटना का पता लगाकर जयसिंह ने अपने दरबार में उपस्थित होकर कहा—"मैं स्वयं कम्वायत गया था और सत्य की खोज की थी तो मुझे विदित हुआ कि मुसलमानों पर अत्याचार और क्रूरता हुई है। यह मेरा कर्त्तव्य है कि सारी प्रजा की इस प्रकार रक्षा की जाए कि सब

1. ए०इ०, जिल्द 4, पृ० 254; जिल्द 15, पृ० 306।
2. तबकाते नासिरी, रेवर्टी का अंग्रेजी अनुवाद, जिल्द 1, पृ० 554।
3. ए०इ०, जिल्द 1, पृ० 305-315।
4. ए०इ०, जिल्द 12, पृ० 6-10।
5. इलियट डाउसन, जिल्द 2, हिन्दी अनुवाद, पृ० 120 और आगे।

शान्तिपूर्वक रहें। फिर उसने आदेश दिया कि काफिरों, ब्राह्मणों, अग्निपूजकों और अन्य लोगों के दो-दो मुखियाओं को दण्ड दिया जाए। उसने मस्जिद और मीनार का पुनर्निर्माण करने के लिए मुसलमानों को एक लाख बालोतरा प्रदान किए। मस्जिद और मीनार कुछ वर्ष पहले तक खड़े थे[1]।

जयसिंह का मुसलमानों की मस्जिद का यह संरक्षण उनकी धार्मिक भावनायें का आदर तथा दोषी हिन्दुओं को दण्ड देना उसकी धार्मिक सहिष्णुता का एक अभूतपूर्व उदाहरण था।

चालुक्य राजाओं में अधिकांश शैव थे। परन्तु उनके अभिलेखों तथा समकालीन साहित्यिक ग्रंथों में जैन तथा इस्लाम धर्म की लोकप्रियता के बारे में भी सूचनायें मिलती हैं। चालुक्य राजाओं में कुछ के द्वारा **उमापतिवरलब्ध**[2] की उपाधि धारण करना उनके शैव होने का परिचायक है। किन्तु उन्होंने जैन धर्म के निमित्त अनेक प्रकार के दान दिए तथा उस धर्म से सम्बन्धित आचार्यों को संरक्षण प्रदान किया। कुमारपाल के बारे में कहा गया है कि उसने जैन धर्म स्वीकार करके **परमार्हत**[3] की उपाधि धारण कर ली थी। उसके द्वारा जैन धर्म सम्बन्धी अनेकानेक धार्मिक क्रिया-कलाप सम्पन्न कराने की सूचना भी मिली है। जैन ग्रंथों में उसे जैन धर्म का सबसे बड़ा अनुयायी बताया गया है। परन्तु जैन ग्रंथों का इस सम्बन्ध का सारा का सारा वर्णन अतिरंजित प्रतीत होता है, क्योंकि कुमारपाल अन्त तक शिव की पूजा करता रहा और अपनी कुल परम्परा से चली आ रही **उमापतिवरलब्ध** उपाधि भी धारण करता रहा। उसका जैन धर्म के प्रति लगाव उसकी धार्मिक सहिष्णुता का परिचायक है। इसके अतिरिक्त इसका राजनीतिक कारण भी हो सकता है। कुमारपाल के राज्य में वणिकों का आर्थिक दृष्टि से विशेष प्रभाव था। वे बड़े-बड़े पदों पर आसानी थे और जैन धर्म कट्टर अनुयायी थे[4]। अतः कहा जा सकता है कि इन लोगों का पूरा-पूरा सहयोग प्राप्त करने के हेतु ही कुमारपाल जैनियों की तरफ आकर्षित था।

चालुक्य शासक अजयपाल पर जैन ग्रंथों में जैन विरोधी होने का दोषारोपण किया गया है। परन्तु अ०कु० मजुमदार महोदय ने इस दोषारोपण को

---

1. इलियट डाउसन, पृ० 120-21।
2. ए०इ०, जिल्द 18, पृ० 341-43।
3. प्र०चि०, जिल्द 3, पृष्ठ 104, द्विवेदी।
4. आर्कलाजी आफ गुजरात, अध्याय 10, पृ० 210।

गलत साबित किया है[1]। डा० विशुद्धानन्द पाठक भी अजयपाल को जैन धर्म विरोधी नहीं मानते[2]।

वास्तव में अजयपाल जैन धर्म विरोधी नहीं था। उसके द्वारा जैन मंदिरों एवं जैन मूर्तियों का तोड़ा जाना उसकी धनलिप्सा का परिचायक है। हम देखते हैं कि उसने जैन मंदिरों से स्वर्ण-कलशों को उतरवा लिया। किन्तु यह बात ध्यान देने की है कि उसने केवल जैनियों को ही नहीं सताया अपितु अपने हिन्दू धर्मानुयायी एक ब्राह्मण मंत्री को भी जलते कड़ाहे में जलवा दिया। अतः कहा जा सकता है कि वह जितना संकुचित धार्मिक दृष्टि से प्रभावित था। उससे ज्यादा आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से प्रभावित था। उसके अनेक आतंकपूर्ण कार्यों के कारण या तो व्यक्तिगत थे अथवा राजनीतिक।

चाहमान राजा विशेष रूप से शैव दिखाई देते हैं। किन्तु उन्होंने भी भारतवर्ष के विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के प्रति पूरी सहिष्णुता दिखाई। पीछे चाहमान राजाओं के व्यक्तिगत विश्वासों की जो चर्चा की गई है, उससे स्पष्ट है कि अर्णोराज को छोड़कर अजयराज से लेकर पृथ्वीराज तृतीय तक सभी राजा शैव थे। किन्तु अपने क्षेत्र में बसे हुए जैनियों के प्रति उनका व्यवहार सदा सहायक और सहिष्णुतापूर्ण रहा। यही कारण था कि अर्णोराज वैष्णव होकर भी जैन धर्म की ओर उन्मुख कुमारपाल से अपनी पुत्री का विवाह कर दिया[3]। चाहमानों के दरबार में विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच शास्त्रार्थ होने के भी प्रमाण मिलते हैं।[4]

मुसलमान आक्रमणकारी जिस तरह कन्नौज के प्रतीहारों और गाहडवालों के सामने एक समस्या बने रहे उसी तरह चाहमानों के समय भी उनकी गतिविधि लुटेरू एवं ध्वंसात्मक बनी रही। चाहमान क्षेत्रों पर मुसलमानों का सबसे

---

1. अपने मत के समर्थन में मजुमदार महोदय ने माणिक्यचन्द का वह कथन प्रस्तुत किया है जिसमें कहा गया है कि वर्धमान नामक जैन साधु ने अपनी जैन सिद्धान्तों की व्याख्या से कुमारपाल और अजयपाल के दरबार को प्रकाशित किया था।
—मजुमदार अ०कु०, चालुक्याज आफ गुजरात, पृ० 129-30।
2. पाठक महोदय के अनुसार अजयपाल ने उन्हीं जैनियों का अन्त किया जो उसके राज्याधिकार के विरोधी थे।
—पाठक वि०, पूर्व निर्दिष्ट पृ० 542।
3. प्रभावकचरित, 22वां, 419-22।
—द्वाश्रयकाव्य, 19वां, 21-24।
4. पृ०व०, 12वां, 58।

पहला आक्रमण सिंहराज के समय हुआ हम्मीरमहाकाव्य[1] और प्रबन्धकोश[2] सूचना देते हैं कि सिंहराज ने हैजिमुद्दीन नामक मुसलमान सेनापति को जेठन नामक स्थान पर हरा कर मार डाला। प्रबन्धकोश[3] में पृथ्वीराज प्रथम को इस बात का गौरव दिया गया है कि उसने वगुली शाह नामक किसी तुर्क आक्रमणकारी को पीछे ढकेल दिया था। जयानक इन तुर्क आक्रमणकारियों को 'गजनमातंग,' 'मातंग' अथवा 'म्लेच्छ' कहता है और आक्रमण के जोश में उनको पागल हुआ (मत्तान) बतलाता है[4]। मुसलमानों की यह समस्या पृथ्वीराज तृतीय के समय तक स्थायी रूप से बनी रही। चाहमान शासकों ने मुसलमान आक्रमणों को आर्य धर्म और संस्कृति के विरुद्ध हिन्दुत्व की जड़ पर प्रहार करने वाली एक समस्या के रूप में देखा। इसी कारण मुसलमान 'म्लेच्छ' अथवा 'राक्षस' कहे गये हैं।

चाहमानों ने मुसलमानों को 'म्लेच्छ' अथवा 'राक्षस' कह कर उनकी जाति के प्रति धार्मिक दृष्टि से किसी हीन भावना का परिचय नहीं दिया, अपितु उनके नीच कर्मो के कारण उन्हें आर्य संस्कृति के विरुद्ध आचरण अपनाने वाला समझा।

मुसलमानों का आक्रमण हिन्दू समाज और धर्म को झकझोर देने वाला एक प्रचण्ड भूकम्प था। इसी कारण चाहमानों ने उन्हें दुष्ट अथवा राक्षस कहा। किन्तु चाहमानों ने मुसलमानों को मुसलमान होने के नाते कभी सताया अथवा उन पर अत्याचार किया, इसका कोई भी उदाहरण नहीं मिलता।

कश्मीर के प्रायः सभी राजा हिन्दू थे[5]। उनमें अधिकांश ने हिन्दू धर्म के साथ-साथ बौद्ध[6] तथा जैन धर्मों[7] के प्रति भी उदारता दिखायी। अवन्तिवर्मा महान् धर्मात्मा था। वह स्वयं वैष्णव होकर भी बौद्ध तथा जैन सिद्धान्तों के प्रति आस्था रखता तथा अपने को शैव कहा करता था[8]। किन्तु पर्वगुप्त, क्षेमगुप्त, शंकर वर्मा कलश और हर्ष जैसे कुछ कश्मीर के शासक अत्याचारी और मंदिरों और मूर्तियों के प्रति दुराचारी थे। वे मंदिरों को लूटते तथा मूर्तियों को तोड़ते थे। प्रश्न

---

1. हम्मीर महाकाव्य, प्रथम, 102।
2 सिंघी जैन ग्रन्थमाला प्रकाशन, पृ० 133।
3. वही, पृ० 133।
4. पृथ्वीराज विजय, पंचम, 142।
5. राजतरंगिणी, चतुर्थ, श्लोक 5, 6।
6. वही, 203।
7. वही, 211।
8. वही, पंचम, 43।

उठता है कि उन्होंने ऐसा क्यों किया ? इसका सीधा उत्तर देना कठिन है। इन राजाओं के आचरण तुर्क आक्रमणकारियों के व्यवहारों जैसे ही हैं। सम्भव है धन बटोरने की नियत से ही वे मंदिरों को तोड़ने के लिए उत्साहित हुए हों। उनकी दुश्चरित्रता के कारण राजकोष में धनाभाव हो गया था जिसके कारण वे किसी न किसी तरह धन बटोरने में लग गये। किन्तु इन राजाओं के ये धर्म विरोधी कार्य उनके चारित्रिक अधःपतन के कारण थे, जिसकी चर्चा पिछले अध्याय में की जा चुकी है।

प्राचीन भारत के प्रायः सभी युगों के हिन्दू राजाओं ने जिस धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया, उसका स्वरूप आज भी भारतवर्ष में स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। वर्तमान भारत की सरकार अपने देश में तो धार्मिक सहिष्णुता, निष्पक्षता और आपसी भाई-चारे का स्वरूप कायम रखने में सफल हुई ही है, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी इसने धर्म-निरपेक्षता की नीति का सहारा लिया है। आज भी भारत में हिन्दू, बौद्ध, जैन, इस्लाम, ईसाई आदि धर्म स्वतन्त्रतापूर्वक अपने-अपने विचारों एवं विश्वासों की मान्यता और धार्मिक क्रिया-कलाप में तत्पर और स्वतन्त्र हैं। उनके धार्मिक मामलों में किसी तरह का राजकीय हस्तक्षेप नहीं है। सभी के सभी स्वतन्त्रतापूर्वक अपने मठ, मंदिर, मस्जिद का निर्माण कराते हैं और उन्हें प्रत्येक धर्मावलम्बियों से आर्थिक सहायतायें मिलती हैं। स्वतन्त्र गणतांत्रिक भारत के शासक विभिन्न धर्मों के मंदिरों में जाते हैं और अपने विश्वास के अनुसार अपनी श्रद्धा प्रकट करते हैं। मूलतः धार्मिक आधार पर इस भूखण्ड के भारत, पाकिस्तान और बंगला देश जैसे तीन स्वतन्त्र राज्यों में, अलग-अलग हो जाने के बावजूद भी भारतीय गणतंत्र धार्मिक निष्पक्षता और निरपेक्षता के सिद्धान्त को एक धार्मिक मंत्र की तरह मानता है और हिन्दू बहुल होते हुए भी मुसलमानों को राष्ट्र के सबसे बड़े पद पर प्रतिष्ठित करके अपने को गौरवान्वित समझता है। फलतः मुसलमानों को जितनी धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त है, उतनी ही राजनीतिक भी। आज भी हिन्दू परिवारों में कोई वैष्णव है तो कोई शैव। कोई दुर्गा की भक्ति करता है तो कोई पार्वती की। समाज में विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों से सम्बन्धित आचार्यों एवं साधुओं को समान सुविधायें एवं सेवा प्राप्त है।

आधुनिक भारत की इन विशेषताओं के पीछे एक लम्बा इतिहास है जिसका मूल बड़ी आसानी से 600 से 1200 ई० तक की धार्मिक प्रवृत्तियों और राज्य-नीतियों में खोजा जा सकता है।

भारतीय धर्म और संस्कृति के प्रतीक स्वरूप काशी में आज भी अग्रवालों के ऐसे अनेक परिवार हैं जो या तो जैनी हैं अथवा वैष्णव। किन्तु वे आपस में विवाह

करते हैं, एक-दूसरे के सामाजिक और धार्मिक उत्सवों में सम्मिलित होते हैं और सभी धर्मों के मंदिरों में जाते हैं। धार्मिक समन्वय व सहिष्णुता की इन प्रवृत्तियों का मूल इस शोध-प्रवन्ध के समय विशेष (600-1200 ई०) में वड़ी आसानी से ढूंढ़ा जा सकता है। पीछे हम देख चुके हैं कि कलचुरि, परमार, सेन अथवा वैसे अनेक वंश के राजाओं ने अपने को सूर्य, विष्णु और शिव तीनों का भक्त दिखाया[1]। प्रायः सभी दूसरों के मंदिरों में पूजा करते रहे[2]। हेमचन्द्र जैसे प्रसिद्ध जैन आचार्य ने शिव की पूजा की[3]। गोविन्दचन्द्र गाहडवालों को शिव की नगरी काशी की तुर्कों से रक्षा का श्रेय दिया गया है[4], परन्तु स्वयं वह वैष्णव रहा प्रतीत होता है। इस प्रकार हिन्दू धर्म और संस्कृति में विश्वास करने वाले उसे हिन्दू-संस्कृति का कट्टर रक्षक कहा जा सकता है। तथापि उसने वौद्ध-धर्मानुयायी पालों से अप्रत्यक्ष रूप से वैवाहिक सम्वन्ध स्थापित करने में कोई संकोच नहीं किया। चिक्कोर वंश के वौद्ध-धर्मानुयायी देवरक्षित की कन्या कुमारदेवी से उसने विवाह किया जो स्वयं वौद्ध थी। गाहडवालों की द्वितीय राजधानी काशी के राजदरवार में रहते हुए भी कुमारदेवी ने अपना धार्मिक विश्वास नहीं छोड़ा और सारनाथ के वौद्ध-संस्थानों की वह सवसे वड़ी संरक्षिका वन गयी। यही नहीं, अपने पति से भी उनके लिए प्रभूत दान दिलाया।

पीछे जयसिंह[5] सिद्धराज द्वारा खम्मात के एक मुसलमानी मस्जिद के हिन्दुओं द्वारा नष्ट किये जाने के फलस्वरूप हिन्दुओं को दण्डित करने और मस्जिद को पुनः निर्मित करने के लिए एक लाख वालोतरा दान देने की वात हम देख चुके हैं। आज से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व का ऐसा कोई उदाहरण शायद ही मिले। गुर्जर-प्रतीहारों[6] ने मुल्तान के अरवों को समूल उखाड़ कर भारतवर्ष से विल्कुल निकाल देने में इस नाते संकोच किया कि अरव मुल्तान के सूर्य मंदिर को नष्ट करने की वार-वार धमकी दिया करते थे। वड़ा स्पष्ट है कि मिहिरभोज और महेन्द्रपाल जैसे प्रतीहार राजाओं की धार्मिक भावनाएं ऐसी थीं कि वे किसी भी कीमत पर किसी के भी धार्मिक विश्वास अथवा धार्मिक स्थानों को कोई ठेस पहुंचाना नहीं चाहते थे। यह उनकी राजनीतिक कमजोरी तो थी, किन्तु उनकी धार्मिक नीति में इस उदाहरण का वड़ा महत्व है।

---

1. पीछे, पृ० 106, 143, 178 (राजाओं के व्यक्तिगत धर्म सम्वन्धी चर्चाएँ)
2. पीछे, पृ० वही।
3. पीछे, पृ० 204।
4. पीछे, पृ० 69।
5. पीछे, पृ० 218।
6. पीछे, पृ० 89।

यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो स्वतंत्र भारत की धार्मिक अहस्तक्षेप की नीति, धार्मिक सहिष्णुता और निरपेक्षता का सिद्धान्त और प्रत्येक धर्मावलम्बियों के बीच भाई-चारे का व्यवहार तथा सभी प्रकार के सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थानों को समान रूप से संरक्षण देने की प्रशस्त प्रवृत्तियों का मूल विवेच्य युग (600-1200 ई०) की उपर्युक्त भावनाओं में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

ग्रन्थ-सूची

मूल ग्रन्थ

अल्-वीरूनी : किताबुलहिन्द, ई०सी० सरवाऊ का अंग्रेजी अनुवाद, 2 जिल्दों में, लन्दन 1914।

अरि सिंह : सुकृतसंकीर्तन, सं० मुनिपुण्य विजयसूरि, वम्बई 1960।

अमर सिंह : अमरकोश, संपादक के०एच० ध्रुव, ओरियण्टल वुक एजेन्सी, पूना 1930।

असहर इब्न-उल् : अल्-कामिल्-उत्वारीख, इलियट एण्ड डाउसन, जिल्द 2।

कल्हण : राजतरंगिणी, एम०ए० स्टाइन द्वारा संपादित तथा अंग्रेजी में अनूदित, दो जिल्दों में (ए क्रानिकल आफ द किंग्स् आफ कश्मीर) दिल्ली 1961।

गर्दीजी अल् : किताव-जैन्-उल्-अखवार, सं० मुहम्मद नाजिम, वर्लिन, 1928।
अंग्रेजी अनुवाद, श्रीराम शर्मा, इहिक्वा०, जिल्द 9, पृष्ठ 934-942।

चन्द्रशेखर : सुर्जनचरित, सं० जे० वी० (जीन वल्लभ) चौधुरी, कलकत्ता 1951।

जयानक भट्ट : पृथ्वीराज विजय, जोनराजकृत, टीका सहित, सं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, अजमेर, 1941।

जयदेव : गीतगोविन्द, दिल्ली, 1955।

जिनमण्डन : कुमारपाल प्रवन्ध, सं० चतुर्विजयमुनि, भावनगर 1914।

धनपाल : तिलकमंजरी, बम्बई, 1903।

निजामी हसन : ताज्-उल्-मसीर, हिस्ट्री आफ इण्डिया ऐज टोल्ड वाई इट्स ओन हिस्टारियन्स, इलियट एण्ड डाउसन, जिल्द 2।

निजामुद्दीन अहमद : तवकाते-अकवरी, अंग्रेजी अनुवाद, वी० दे० कलकत्ता, 1887।

प्रभाचन्द्र : प्रभावकचरित, सं० मुनिजिन विजय, अहमदाबाद 1944।

फिरिश्ता मुहम्मद कासीम हिन्दू शाह : तारीखे-फिरिश्ता, अंग्रेजी अनुवाद, आर०जे० ब्रिग्स, दो जिल्दों में, कलकत्ता, 1911।

फज्ल अबुल : आइने-अकवरी, अंग्रेजी अनुवाद, एच०एस० जैरेट, जे०एन० (जगदीश नारायण) सरकार द्वारा संशोधित, कलकत्ता, 1948।

बाण भट्ट : हर्षचरित, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई 1912।

कादम्बरी, अनुवादक वासुदेवशरण अग्रवाल।

विल्हण : विक्रमांकदेवचरित, सं० जी० (जार्ज) वूहलर, वम्बई 1875।

बील, एस० (सैम्युल) : सि-यू-कि, बुद्धिस्ट रेकार्ड्स आफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, 4 जिल्दों में, सुशील गुप्त प्रकाशन, कलकत्ता, 1957-58।

वरदायी चन्द : पृथ्वीराज रासो, सं० बिशनलाल पण्ड्या और श्यामसुन्दर दास, बनारस, 1913।

मदन : पारिजात मंजरी।

मेरुतुंग : प्रवन्धचिन्तामणि, हिन्दी अनुवाद, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, 1940।
अंग्रेजी अनुवाद, सी० एच० टानी, कलकत्ता, 1899।

मिनहाजुद्दीन विन् सिराजुद्दीन : तवकाते-नासिरी, अंग्रेजी अनुवाद, एच०जी० रेवर्टी, कलकत्ता, 1873-1897।

मिश्र कृष्ण : प्रवोधनचन्द्रोदय, व्याख्याकार रामचन्द्र मिश्र, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1955।

यशपाल : मोहराजपराज्य, गायकवाड ओरियन्टल सीरीज, वड़ौदा।

राजशेखर (1) : काव्यमीमांसा, वड़ौदा संस्कृत सीरीज, 1916, हिन्दी अनुवाद, डा० गंगा सहाय, चौ० वि० भवन, वाराणसी 1964।
: कर्पूरमंजरी, हिन्दी अनुवाद, आचार्य राजकुमार, चौ०वि० भवन, वाराणसी, 1960।
: विद्धशालमंजिका, हिन्दी अनुवाद, द्वारा, पंडित रमाकान्त त्रिपाठी, चौ०वि० भवन, वाराणसी।
: वालभारत (प्रचण्डपाण्डव) हिन्दी अनुवाद, द्वारा, हरिदत्त शास्त्री, चौ०वि० भवन, वाराणसी।
: वाल रामायण, कलकत्ता, 1884।

राजशेखर (2) : प्रवन्धकोश, सं० मुनिजिनविजय, शान्तिनिकेतन 1935।

वाक्पति : गउडवहो, सं० पंडित एस०पी० (शंकर पाण्डुरंग) तथा उत्गीकर।
गउडवहो, ए प्राकृत हिस्टारिकल पोएम वाई वाक्पति, वाम्वे संस्कृत एण्ड प्राकृत सीरीज, 1927।

संध्याकर नन्दी : रामपालचरित, सं० महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री।

सूरि जयसिंह : कुमारपालभूपालचरित, सं० क्षान्तिविजयगणि, वम्बई, 1926।

: वस्तुपालतेज : पाल प्रशस्ति, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, वड़ौदा, 1916।

: हम्मीरमदमर्दन, वड़ौदा, 1620।

सूरि नयचन्द्र : हम्मीरमहाकाव्य, सं० एन०जे० कीर्तने, वम्वई, 1879।

सूरि हेमचन्द्र : द्वाश्रयकाव्य, अभयतिलकगणि की टीका सहित, 2 जिल्दों में, सं० काठवते, वम्वई, 1915।

: कुमारपालचरित, पूना, 1936।

सूरि जिनप्रभ : विविधतीर्थकल्प, वम्वई, 1956।

सूरि जिनपाल : खरतरगच्छवृहद्गुरुवावली, सं० मुनिजिनविजय, वम्वई, 1956।

सूरि हरिभद्र : समरिच्चकहा, कलकत्ता, 1932।

सोमेश्वर : सुरथोत्सव, सं० शिवदत्त एण्ड पाण्डुरंग परव, वम्वई, 1902।

: कीर्ति कौमुदी, सं० मुनिजिनविजय, वम्वई, 1960

हर्ष (1) : रत्नावली, मद्रास, 1935।

: नागानन्द, वनारस, 1947।

: प्रियदर्शिका।

हर्ष (2) : नैषधचरित, वम्वई, 1919।

: अंग्रेजी, (ए क्रिटिकल स्टडी आफ श्री हर्ष नैषधचरितम्, वड़ौदा, 1957)।

हरिषेण : वृहद्कथाकोष, वम्वई, 1935।

अग्निपुराण : सम्पादित राजेन्द्रलाल मित्र, रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, कलकत्ता, 1933।

भागवत पुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर, वि०सं० 2010।

भविष्य पुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, वि०सं० 1967।

स्कन्द पुराण : 7 जिल्दों में, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, वि०सं० 1905-66।

वायु पुराण : आनन्द आश्रम सीरीज, पूना, 1905।

हरिवंश पुराण : जिनसेन माणिक्यचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, दो जिल्दों में।

आधुनिक ग्रन्थ

अल्तेकर, ए०एस० (अनन्त सदाशिव) : राष्ट्रकूट्ज एण्ड देयर टाइम्स, पूना, 1934।

अग्रवाल, वासुदेव शरण : कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन, चौ० वि० भवन वाराणसी, 1958।

: हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, चौ०वि० भवन, वाराणसी।

अवस्थी, रामाश्रय : खजुराहो की देव प्रतिमाएं, आगरा, 1967।

इलियट एण्ड डाउसन : हिस्ट्री आफ इण्डिया एज टोल्ट वाई इट्स ओन हिस्टारियन्स, 8 जिल्दों में, लन्दन 1867-1877; पुनर्मुद्रित, किताव महल, इलाहावाद।

उपाध्याय, वासुदेव : प्राचीन भारतीय अभिलेख, ज्ञानदा प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, पटना, 1970।

ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द : राजपूताना का इतिहास, 3 जिल्दों में, द्वितीय संस्करण, अजमेर, 1933।

: मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, हिन्दुस्तानी एकैडेमी इलाहावाद।

कावेल और टॉमस : हर्षचरित, अंग्रेजी अनुवाद, मोतीलाल वनारसीदास, 1960।

काणे, वी०पी० : हर्षचरित, भूमिका और व्याख्या, मोतीलाल वनारसीदास, वाराणसी, 1965।

गोपाल, लल्लन जी : इकोनामिक लाइफ इन नार्दर्न इण्डिया, मोतीलाल वनारसीदास, वनारस, 1965।

गांगुली, डी०सी० (धीरेन्द्र चन्द्र) : हिस्ट्री आफ द परमार डाइनेस्टी, ढाका यूनिवर्सिटी प्रेस, 1933।

: परमार राजवंश का इतिहास (हिन्दी) लखनऊ, 1971।

चटर्जी, गौरीशंकर : हर्षवर्धन, द्वितीय संस्करण, हिन्दुस्तानी एकैडेमी) इलाहावाद 1950।

चन्दा, राम प्रसाद : आर्कोलाजी एण्ड वैष्णव ट्रेडीशन, कलकत्ता, 1920।

देवहूति, डी० (देवी) : हर्ष, ए पोलिटिकल स्टडी, आक्सफोर्ड, 1970।

नयोगी, रोमा : दि हिस्ट्री आफ दि गाहड़वाल डाइनेस्टी, कलकत्ता, 1959।

निजामी, मुहम्मद : दि लाइफ एण्ड टाइम्स आफ महमूद आफ गजमा, कैम्ब्रिज, 1931।

पाठक, वी०एस० (विश्वम्भर शरण) : एश्येण्ट हिस्टारियन्स आफ इण्डिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1966।

पाठक, विशुद्धानन्द : हिस्ट्री आफ कौशल, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1964।

: उत्तर-भारत का राजनीतिक इतिहास (600 से 1200 ई०), प्रथम संस्करण, लखनऊ, 1973।

फोर्ब्स : रासमाला, आक्सफोर्ड, 1924।

वसाक, राधागोविन्द : हिस्ट्री आफ नार्थ ईस्ट इंडिया, फ्राम 320 टु 750 ए०डी०।

वनर्जी, आर०डी० (राखाल दास) : वांग्लार इतिहास, जिल्द 1, कलकत्ता।

: दि हैह्यज आफ त्रिपुरी एण्ड देयर मानूमेण्ट्स,

		मेम्वायर्स, आर्केलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जिल्द 23, 1931 ।
	:	हिस्ट्री आफ ओरीसा, जिल्द 1, कलकत्ता, 1962 ।
वमजाई पृथ्वीनाथ कोल	:	ए हिस्ट्री आफ कश्मीर फ्राम द अलियेस्ट टाइम्स टु द प्रेजेण्ट डे, दिल्ली, 1962 ।
वोस, एन०एस० (निमाई सधन)	:	हिस्ट्री आफ चन्देल्ज, कलकत्ता, 1956 ।
भाटिया, प्रतिपाल	:	दि परमार्ज, नयी दिल्ली, 1970 ।
महताव, हरेकृष्ण	:	हिस्ट्री आफ ओडिसा, जिल्द 1, कटक, 1959 ।
मजुमदार, अशोककुमार	:	चालुक्याज आफ गुजरात, भारतीय विद्या भवन, वम्बई, 1956 ।
मजुमदार, वी०पी० (भगत प्रसाद)	:	सोशल एण्ड इकोनामिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इंडिया कलकत्ता, 1960 ।
मजूमदार, आर०सी० (रमेशचन्द्र)	:	हिस्ट्री आफ वंगाल, जिल्द 1, ढाका, 1945 ।
मजुमदार, आर० सी० (रमेशचन्द्र) और पुंसालकर, ए० डी० (अनन्त दत्तात्रेय)	:	दि क्लासिकल एज्, वम्बई, 1954 ।
	:	दि एज् आफ इम्पीरियल कन्नौज, वम्बई, 1955 ।
	:	दि स्ट्रगल फवार इम्पायर, वम्बई (सभी हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ दि इंडियन पीपुल सीरीज में) ।
मुकुर्जी, आर०के० (राधा कुमुद)	:	हर्ष, मोतीलाल वनारसीदास, 1959 ।
		दि गुप्ता इम्पायर, मोतीलाल वनारसीदास, 1969 ।

मिश्र, विभूतिभूषण : दि हिस्ट्री आफ दि गुर्जर प्रतीहार्ज, दिल्ली, 1965।

मिश्र, केशवचन्द्र : चन्देल और उनका काल, वाराणसी, वि० सं० 2011।

मैती, एस० के० : कापर्स आफ बंगाल, कलकत्ता, 1967।

मुर्ति, टी०आर०वी० : दि सैन्ट्र फिलोसोफी आफ बुद्धिज्म, लंदन, 1960।

मुंशी, के०एम०
(कन्हैयालाल माणिक्लाल) : दि ग्लोरी दैट वाज गुर्जर देश, द्वितीय संस्करण, बम्बई, 1955।

मीराशी, वा०वि०
(वासुदेव विष्णु) : कलचुरि नरेश और उनका काल, भोपाल, 1965।
: कापर्स आफ इंडियन इन्स्क्रिप्शंस, जिल्द 4, 1955।

राय, एच०सी०
(हेमचन्द्र) : डाइनेस्टिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इंडिया, 2 जिल्दों में, कलकत्ता, 1931-1936।

रेउ, विश्वेश्वर नाथ : राजा भोज, इलाहाबाद, 1932।

वैद्या, सी०वी०
(चिन्तामणि विनायक) : हिस्ट्री आफ हिन्दू मैडिमल इंडिया, 3 जिल्दों में, पूना, 1921-26।

वाटर्स टी० (टामस) : आन युवान्-च्वांग्स ट्रैवैल्स इन इंडिया, मुंशी राम मनोहर लाल, दिल्ली, 1961।

व्यास, लक्ष्मीशंकर : चालुक्य कुमारपाल, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1954।

शर्मा, दशरथ : राजस्थान थ्रू द एजेज, जिल्द 1, बीकानेर, 1966।
: अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, दिल्ली, 1959।

शर्मा, बी० एन० : सोशल लाइफ इन नार्दर्न इण्डिया (600-1000 ई०) दिल्ली, 1966।

सांकृत्यायन, राहुल : बुद्धचर्या, सारनाथ, 1952।

सिंह, आर०बी०
(रामवृक्ष) : हिस्ट्री आफ द चाहमान्ज, वाराणसी, 1964।

स्मिथ, वि.ए० (विन्सेण्ट) : द अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, आक्सफोर्ड, चतुर्थ संस्करण, 1924।

हबीबुल्लाह : फाउण्डेशन आफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया, लाहौर, 1945।

हुइली : लाइफ आफ श्वान्-च्वांग, सैम्युल बील कृत अंग्रेजी अनुवाद।

हैग वूल्जले (सं०) : *कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, जिल्द 3, कैम्ब्रिज*, 1928, पुनर्मुद्रित दिल्ली, 1958।

होदीवाला, एस०एच०
(शाहपुरशाह होरमसजी) : स्टडीज इन इण्डो-मुस्लिम हिस्ट्री, बम्बई, 1939।

त्रिपाठी, आर०एस०
(रामशंकर) : हिस्ट्री आफ कन्नौज टु दि मुस्लिम कांक्वैस्ट, मोती लाल बनारसीदास, बनारस, 1959।

शोध पत्रिकायें :

इण्डियन कल्चर।

इण्डियन ऐण्टीक्वेरी।

इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली।

इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस प्रोसीडिंग्स।

एपिग्रेफिआ इण्डिका।

ऐनुवल रिपोर्ट आफ दि आर्कलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया।

एनेल्स आफ दि भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूना।

जर्नल आफ द अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटी।

जर्नल आफ द आन्ध्र रिसर्च सोसाइटी।
जर्नल एण्ड प्रो० आफ एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल।
जर्नल आफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, पटना।
जर्नल आफ द बाम्बे ब्रान्च आफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी।
जर्नल आफ न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी आफ इण्डिया।
जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री, त्रिवेन्द्रम।
जर्नल आफ यू०पी हिस्टारिकल सोसाइटी, लखनऊ।
नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वाराणसी।
प्रोसीडिंग्स आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी।
प्रोसीडिंग्स आफ आल इण्डिया ओरियन्टल कान्फरेन्स।
द पूना ओरियेण्टलिस्ट।
न्यू इण्डियन ऐण्टीक्वेरी।

1. सरकार, डी०सी०, स्टडीज रिलिजियस लॉइफ ऑफ एन्सिएण्ट एण्ड मेडीकल इण्डिया।
2. चटोपाध्याय, सुधाकर; इर्मलूएसन ऑफ हिन्दू सेक्ट्स।
3. वनर्जी, जे०एन०; पौराणिक एण्ड तान्त्रिक रिलीजन।
4. दासगुप्ता, एस०बी०; ऐन इन्ट्रोडक्शन टू तांत्रिक बुद्धिज्म।
5. मजुमदार, आर०सी०; रीडिंग इन पालिटिकल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया।
6. चौधरी, जी०सी०; पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ नार्थ इण्डिया फ्राम जैन-सोर्सेज।